# भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास

जगदीश प्रसाद कौशिक

भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास

# भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास

अपोलो प्रकाशन
जयपुर–३

जगदीश प्रसाद कौशिक

# भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास

*स्वर्गीया धर्मपत्नी*

श्रीमती शान्ता कौशिक

को

सस्नेह समर्पित

# प्रस्तावना

भाषा मानवीय जीवन का वह विधायक तत्त्व है जो सामाजिक, राजनैतिक धार्मिक एव सास्कृतिक उत्थान का कारण होता है। मानव भाषा का विकास करता है और भाषा मानव जीवन को उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है। इस प्रकार दोनो का विकास अन्योन्याश्रित है। अत भाषाओ का विकासात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन एक प्रकार से जातीय जीवन विकास का ही अध्ययन कहा जा सकता है। यदि भाषाएँ नही होती तो विचारो का पारस्परिक आदान प्रदान सवथा अवरुद्ध हो जाता और सभ्यता का जो रूप आज हमारे समक्ष वतमान है वह भी नही होता। भाषा की यह महत्ता ही विद्वानो को भाषा अध्ययन के प्रति प्रोत्साहित करती है।

भाषाओ के नियमन का काय तो सुदूर प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था और प्राय विश्व की समस्त समृद्ध भाषाओ का उनका अपना व्याकरण है पर तु भाषाओ के विकासात्मक एव तुलनात्मक अध्ययन का इतिहास अधिक प्राचीन नही है। लगभग सत्तरहवी और अठारहवी शताब्दी मे योरप म इस प्रकार के अध्ययन का एक प्रवाह प्रस्फुटित हुआ था और उसस प्राय समस्त विश्व आप्लावित हो उठा था। विश्व के चिन्तनशील मनीषियो न अत्यन्त गम्भीर चिन्तन एव मनन क पश्चात वशानुक्रम के आधार पर विश्व की समस्त भाषाओ का वर्गीकरण किया। वशानुगत सम्बन्ध स्थापित करने के लिय अनेक तत्वो को सहायक रूप मे ग्रहण किया गया है, यथा—(१) शब्द साम्य जिनके अन्तगत उन शब्दो को लिया गया जो दैनिक जीवन म काम आते हो जैसे—सम्बन्धियो अथवा वस्तुओ के नाम, सवनाम पद गिनती वाले शब्द और कम स कम परिवर्तित होने वाले क्रिया पद आदि। (२) ध्वनि साम्य (३) व्याकरणगत विकास और भौगोलिक सन्निकटता। उक्त साम्यो क आधार पर अधोलिखित भाषा परिवारो की स्थापना हुई, यथा—(१) अमरिकन परिवार (२) मलय इण्डोनेशियन परिवार (३) मलनेशियन परिवार (४) पालिनेशियन परिवार (५) पापुआयन परिवार, (६) आस्ट्रेलियन परिवार (७) बुशमन परिवार (८) बाटू परिवार, (९) सूडानी परिवार, (१०) सामी हामी परिवार (११) उराल अल्ताई परिवार (१२) चीनी परिवार (१३) काकेशियन परिवार (१४) द्रविड भाषा परिवार और (१५) आय भाषा परिवार।

यद्यपि उपयुक्त वर्गीकरण को विद्वान लोग अभी भी पूण वर्गीकरण नही

मानते क्योंकि विश्व की अनेक ऐसी बोलियाँ आज भी अवशिष्ट हैं जिनका तुलनात्मक तो क्या केवल भाषा शास्त्रीय अध्ययन भी सम्पन्न नहीं हो पाया है तो भी यह वर्गीकरण विश्व की प्रायः समस्त समृद्ध भाषाओं को अपने में सजोये हुए है।

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही अनेक संस्कृतियों का संगम-स्थल रहा है। अतः यहाँ पर अनेक भाषा परिवारों की भाषाओं का अस्तित्व उपलब्ध होता है। आज तक विद्वानों ने भारत में अनेक विभिन्नमार्गी भाषाओं को लक्षित किया है जिन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(क) आर्येतर परिवार की भाषाएँ और (ख) आर्य परिवार की भाषाएँ।

(क) आर्येतर परिवार की भाषाएँ—भारत में अनेक ऐसी बोलियाँ हैं जिनका सम्बन्ध आर्य परिवार की भाषाओं से न होकर स्वतन्त्र अस्तित्व है, ये बोलियाँ इस प्रकार से हैं—(१) मुण्डा परिवार और (२) द्रविड़ परिवार।

(१) मुण्डा परिवार—भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में फैली हुई आदिम जातियाँ 'मुण्डा भाषा' की बोलियाँ बोलती हैं। ये जातियाँ छोटा नागपुर, मध्य भारत, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा के कुछ जिलों में मद्रास के कुछ भागों में, पश्चिमी बंगाल और बिहार के पहाड़ी एवं जंगली प्रदेशों में निवास करती हैं। श्री मैक्समूलर पहले विद्वान् थे जिन्होंने इन बोलियों के समूह को 'मुण्डा' नाम दिया, क्योंकि इसकी एक बोली मुण्डरी है जिसका अर्थ मुखिया होता है। अतः इसी आधार पर इसे मुण्डा नाम दिया गया है।

'मुण्डा परिवार' की बोलियों को आस्ट्रिक परिवार की शाखा माना जाता है। इसकी लगभग उन्नीस बोलियाँ भारतवर्ष में प्रचलित हैं और मुण्डा की सात बोलियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं जिनमें से सन्थाली और मुण्डारी का कुछ अध्ययन किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त हो, कुर्कू, सबर, कनावरी एवं खरवारी बोलियों का ज्ञान भी प्राप्त किया जा चुका है, लेकिन उसके सूक्ष्म अध्ययन की अभी भी आवश्यकता है।

विशेषताएँ—मुण्डा भाषाओं में विद्वानों ने अधोलिखित विशेषताओं को चिह्नित किया है—

(१) आर्य परिवार के सभी स्वर इस भाषा में मिलते हैं।

(२) आर्य परिवार के व्यञ्जनों के साथ साथ ङ तथा अर्ध व्यञ्जन *क, च, त, प भी मिलते हैं।* इनका उच्चारण स्पर्श क, च त, प के उच्चारण से भिन्न होता है।

(३) सन्थाली में संयुक्त व्यञ्जन आदि में नहीं रखे जाते।

(४) शब्दों को संज्ञा, सर्वनाम जैसे विभागों में विभाजित नहीं किया जाता है।

(५) पद विभाग का ज्ञान प्रकरण से होता है। आवश्यकता के अनुसार एक ही शब्द संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि का काम दे देता है।

(६) इन भाषाओं में तीन वचन होते हैं।

(७) विभक्ति प्रत्ययों के स्थान पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तरह परसर्गों का प्रयोग किया जाता है।

(८) पुरुष के अनुसार क्रिया में रूप विभिन्नता नहीं होती।

(९) अव्यय स्वतन्त्र शब्द के रूप में भी प्रयुक्त किये जाते हैं और अव्यय की तरह भी।

**द्रविड परिवार**

यह भाषा परिवार भारत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषा परिवार है। आर्य भाषाओं के बाद साहित्यिक समृद्धि और बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से इसी परिवार का स्थान है। 'द्रविड' शब्द का विकास संस्कृत 'द्रमिल' शब्द से हुआ है। भरत मुनि ने दक्षिण के एक प्रदेश के लिए 'द्रमिल' शब्द का प्रयोग किया है, यथा—द्रमिला प्रजा। इसका विकास दो दिशाओं में हुआ है। वराहमिहिर ने इसके लिए द्रमिड शब्द का प्रयोग किया है और पालि में इसका रूप 'दमिल' मिलता है। 'द्रमिड' विकसित होकर 'द्रविड' बना और 'दमिल' इससे विकसित होकर बना 'तमिल' जो आजकल द्रविड परिवार की एक भाषा विशेष के लिए प्रयुक्त होता है। मद्रास प्रदेश को अब 'तमिलनाडु' प्रदेश ही कहा जाता है।

उक्त परिवार की अनेक बोलियों का प्रयोग दक्षिण भारत में किया जाता है, किन्तु साहित्य की दृष्टि से इस परिवार की चार प्रमुख भाषाएँ हैं —
(१) तमिल (२) तेलगु (३) मलयालम और (४) कन्नड।

**(१) तमिल**

यह भाषा तमिलनाडु राज्य के दक्षिण पूर्वी भाग में और लंका के उत्तरी भाग में बोली जाती है। इसके उत्तर में तेलगु पश्चिम में कन्नड और मलयालम भाषी क्षेत्र आते हैं। पूर्व में बंगाल की खाड़ी और दक्षिण में लंका द्वीप आते हैं। इसमें आठवीं शताब्दी तक का साहित्य उपलब्ध होता है। साहित्य की दृष्टि से इस परिवार की यह सर्वाधिक समृद्ध भाषा है और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की किसी भी समृद्ध भाषा से टक्कर ले सकती है।

**तेलगु**

यह आन्ध्र प्रदेश की भाषा है। इसके बोलने वालों की संख्या द्रविड परिवार में सब से अधिक है। 'तिलंगा' शब्द सैनिक का पर्यायवाची है। इस भाषा का साहित्य बारहवीं शताब्दी से मिलने लगता है। इसका आधुनिक साहित्य तमिल की टक्कर का है। प्राचीन काल में इस प्रदेश के लोग संस्कृत

के अप्रतिम पण्डित होते थे। अत इस भाषा पर सस्कृत शब्दावली का बहुत अधिक प्रभाव है। विद्वानो का विचार है कि सत्तर स अस्सी प्रतिशत के लगभग सस्कृत शब्द तेलगु म खोज जा सकते हैं। इस कारण से हिन्दी मराठी, बगला आदि भाषा से अन्य द्रविड परिवार की भाषाओ की तुलना म इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके उत्तर पूव म उडिया भाषा उत्तर म पूर्वी हिन्दी, पश्चिम म कन्नड एव मराठी और दक्षिण म तमिल भाषा के क्षेत्र आते हैं।

मलयालम

यह पश्चिमी घाट म स्थित करल राज्य की भाषा है। यह वस्तुत तमिल की ही एक शाखा है जो इसस नवी शताब्दी के लगभग पृथक हुई। तेलगु की तरह इसम भी सस्कृत भाषा की शब्दावली की प्रचुरता है। ट्रावण कोर और कोचीन के राजाओ के सरक्षण म इस भाषा ने पयाप्त मात्रा म उन्नति की। इसमे तेरहवी शताब्दी से साहित्य मिलना प्रारम्भ होता है। इसके पूव म तमिल भाषी क्षेत्र और उत्तर म कन्नड भाषा क क्षत्र आत हैं। दक्षिण और पश्चिम मे समुद्री क्षेत्र हैं।

कन्नड

यह मैसूर राज्य की भाषा है। लिपि की दष्टि स तेलगु के और भाषा गठन की दष्टि से तमिल के समीप पडती है। प्राचीनता की दृष्टि से द्रविड परिवार मे यह सब से प्राचीन भाषा है। इसम पाचवी शताब्दी तक लख उपलब्ध होते हैं। इसके दक्षिण म तमिल और मलयालम भाषाओ का क्षेत्र उत्तर मे मराठी और पूव मे तेलगु भाषा के क्षेत्र आते है। पश्चिम म अरब सागर लहराता है।

(ख) आय परिवार की भाषाएँ

विश्व भाषा परिवारो मे आय भाषा परिवार सभी दष्टियो से अत्यन्त महत्त्वपूण परिवार है। इस परिवार की भाषाएँ भारत ईरान रूस के कुछ भाग, समस्त योरप महाद्वीप समस्त अमेरिका महाद्वीप अफ्रीका महाद्वीप क दक्षिण-पश्चिमी भाग और आस्ट्रेलिया महाद्वीप म बोली जाती है।

विश्व म तुलनात्मक भाषा विज्ञान के आविर्भाव का श्रेय भी इसी परिवार की भाषाओ को है। इस परिवार के लिए अनेक नामो क प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये हैं। सव प्रथम जमन विद्वानो ने इस परिवार का नाम इण्डो जर्मेनिक परिवार रखा। उनका कथन था कि इस परिवार की पूर्वी सीमा भारत है और पश्चिमी सीमा जमनी। अत उक्त नाम ही उपयुक्त है। कुछ समय पश्चात यह अनुभव किया गया कि उक्त नाम स 'आयरलण्ड और वेल्ज की बोलियाँ जो केल्टिक शाखा की हैं, इसम नही आ पाती। अत इसका नाम इण्डो-केल्टिक रखा गया, परन्तु यह नाम पहले नाम से भी

सकुचित होन के कारण, बिल्कुल नही चल पाया। इसके पश्चात सास्कृतिक, जफाइट' आदि नाम भी सुझाये गये, परन्तु विद्वानो द्वारा स्वीकृत नही हुए। तदनन्तर विद्वाना ने अत्यन्त विचार विमश के पश्चात् दो महत्त्वपूण नाम प्रस्तुत किये—(१) 'आय परिवार' और (२) "इण्डो योरपियन परिवार। योरपियन विद्वाना ने, मुख्यत फास के मनीषियो न इण्डो योरपियन नाम अत्यधिक पसन्द किया। इनका कहना है कि भारत और योरप ही दो ऐसे महादेश हैं जहा पर इस परिवार की भाषाएँ अत्यन्त समद्ध एव गौरवमयी रही हैं। इसके साथ ही 'आय परिवार नाम के विरोध मे इनका यह कहना है कि आय' शब्द जाति का सूचक होने के कारण आर्येतर जातिया इससे बहिष्कृत हो जाती हैं और यह नाम केवल 'भारत और ईरान' की शाखा के लिए ही प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योकि ये ही लोग अपने आपको 'आय" कह कर गौरवान्वित होते हैं।

उपयुक्त सभी नामो मे से आय परिवार' नाम मेरी दष्टि मे अधिक उपयुक्त है। प्रथम तो यहा पर लाघव है। 'इण्डो योरपियन नाम की अपेक्षा आय नाम छोटा है जो गुण दाशनिक दष्टि से अच्छा समझा जाता है। दूसरे, इस तथ्य को भी दष्टि से ओझल नही किया जा सकता कि मूलत यह आर्यों (एक प्राचीन जाति विशेष) की ही भाषा थी और उनके शौय पराक्रम और बुद्धि वभव के कारण विश्व के एक बहुत बडे भूभाग पर फैल गयी। तीसर सामी हामी बाटू जसे परिवारा के नाम के भी अनुकूल है। चौथे इसे शाखाओ प्रशाखो मे विभाजित करने मे सुविधा रहेगी, यथा—योरपीय आय परिवार अमरिकन आय परिवार, ईरानी आय परिवार, भारतीय आय परिवार आदि। अत उक्त परिवार के लिए यही नाम अधिक उपयुक्त एव समीचीन प्रतीत हाता है।

सव प्रथम १८७० ई० म प्रसिद्ध विद्वान अस्कोली ने अनुभव किया कि आय परिवार की भाषाओ मे कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जिनके 'श, स, ज के परिवार का अन्य भाषाओ मे क हो जाता है और उन्होने इस प्रकार के कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये। तदनन्तर इसे आधार मानते हुए 'फान ब्रेडके' ने आय परिवार की भाषाओ को दो वर्गों मे विभाजित किया—(१) कन्टुम और (२) सतम्। कन्टुम् वग म आपन ग्रीक इटालिक केल्टी, जमनी हित्ती और तुखारी उपपरिवारो को परिगणित किया और सतम वग मे भारत ईरानी, अर्मीनी बाल्ती-स्लेवानी तथा अल्बानी उपपरिवारा को समाविष्ट किया। इनम भारत ईरानी उपपरिवार अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है। इस परिवार की तीन शाखायें हैं—(१) ईरानी (२) दरद और (३) भारतीय। भारतीय आय भाषा की प्राचीनतम भाषा 'छान्दस और

ईरानी शाखा की प्राचीनतम भाषा 'अवस्ता' में अभूतपूर्व सामञ्जस्य है। किञ्चित परिवर्तन से अवस्ता छान्दस और छान्दस अवस्ता बन सकती है। इसीलिए विद्वानों ने इसे एक ही उपपरिवार की भाषा माना है।

**ईरानी**

'ईरानी' शाखा की भाषा की विद्वानों ने तीन अवस्थाएँ निर्धारित की हैं। एक पारसियों के धर्मग्रन्थ 'अवस्ता' की भाषा, दूसरी 'अवस्ता' पर की गयी टीका की भाषा और तीसरी, हखमानी राजाओं के शिलालेखों की भाषा। इन तीनों अवस्थाओं को मिलाकर प्राचीन ईरानी भाषा कहा जा सकता है।

लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी के बीच ईरानी भाषा के नये रूप का आविर्भाव होता है। इस समय की मुख्य साहित्यिक भाषा पहलवी है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी ईरान में हुस्वारेश और पूर्वी ईरान में 'पाजंद' भाषाएँ भी प्रचलित थीं। इन्हें मध्यकालीन ईरानी कहा जा सकता है।

इस्लाम के प्रचार के साथ साथ ईरानी भाषा ने नया रूप ग्रहण किया और इस पर अरबी भाषा का प्रभाव पड़ा। मुसलमानों के साथ साथ यह भारत में आई और भारतीय परिवार के साथ इसका पुनः सम्पर्क हुआ। उस समय इसे 'फारसी' के नाम से अभिहित किया जाता था। बीसवीं शताब्दी में इसे पुनः फारसी के स्थान पर अपना पुराना नाम प्राप्त हुआ और आज कल इसे 'ईरानी' ही कहा जाता है। यहीं से ही ईरानी का आधुनिक काल प्रारम्भ होता है।

**दरद**

'दरद' का अर्थ होता है पर्वत। अतः भारत के सीमान्त पर्वत प्रदेशों में बोली जाने वाली भाषाओं के समूह को दरद भाषाएं कहा जाता है। पंजाब के पश्चिमोत्तर में और पामीर के पूर्व-दक्षिण में जो पर्वत प्रदेश है, वह इनका क्षेत्र माना जाता है। इन्हें पिशाच या भूत भाषाएँ कहने का भी प्रचलन है। काफिरी, खोवारी, शीना, कश्मीरी और कोहिस्तानी (अनेक बोलियों के समूह का कल्पित नाम) आदि इसकी आधुनिक भाषाएँ हैं। कश्मीरी इनमें सब से महत्त्वपूर्ण है और इसका क्षेत्र भी अपेक्षाकृत विस्तृत है। प्राचीन समय में कश्मीर संस्कृत का प्रधान केन्द्र रहने के कारण इस पर संस्कृत शब्दावली का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। इस्लाम के प्रवेश के बाद से इस भाषा पर अरबी और फारसी का प्रभाव बढ़ता गया और आजकल इसे फारसी लिपि में ही लिखा जाता है। अब तक विद्वान यह निश्चित नहीं कर पाये हैं कि पिशाची प्राकृत और दरद भाषाओं का कोई पारस्परिक सम्बन्ध है अथवा दो भिन्न नामों वाली यह एक ही भाषा है। कश्मीरी स्वरों में

अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर पाया जाता है। सघोष महाप्राण ध्वनियो का अभाव है जो पैशाची प्राकृत की भी एक विशेषता है।

भारतीय आर्य शाखा

भारतीय आर्य शाखा भारत ईरानी उपपरिवार की एक शाखा है, जो समस्त भारत म किसी न किसी रूप मे प्रयोग मे लाई जाती है। इसकी प्राचीनतम भाषा छान्दस है। यही से लेकर नव्य भारतीय आर्य भाषाओ तक के विकास को प्रस्तुत ग्रन्थ म उपस्थित करने का उपक्रम किया गया है।

समस्त पुस्तक को ग्यारह अध्यायों मे विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय मे प्राचीन भारत की सास्कृतिक गतिविधियो पर विचार विमर्श करने के लिये आर्यो के मूल निवास स्थान का अनुसन्धान कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आर्यों की मूल जन्मभूमि सप्तसिन्धु प्रदेश ही थी और आर्य कही बाहर से नही आये थे। इसकी पुष्टि प्रजातिवाद भाषा और पुरालेखो की दृष्टि से की गई है। तदनन्तर भारत मे अन्य सस्कृतियो के अस्तित्व को प्रस्तुत किया है।

द्वितीय अध्याय मे छान्दस एव सस्कृत भाषाओ की विकास प्रक्रिया और ध्वन्यात्मक एव रूपात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और दोनो भाषाओ के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है।

तृतीय अध्याय में मध्यकालीन भाषाओ के विकास के कारण प्रस्तुत करते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि उनका विकास सस्कृत भाषा से सम्भव है अथवा छान्दस से। इसके साथ ही मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ की सामूहिक ध्वन्यात्मक एव रूपात्मक विशेषताओ का निदर्शन किया गया है।

चौथे अध्याय मे पालि एव अशोकी शिला लेखो की भाषाओ पर विचार करते हुए पालि भाषा के नामकरण' की ओर क्षेत्रीय बोली की समस्याओ का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही 'पालि और छान्दस भाषा की उन विशेषताओ का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिनके रूप सस्कृत मे उपलब्ध नही होते। अन्त म पालि भाषा की ध्वन्यात्मक एव रूपात्मक विशेषताएँ प्रस्तुत की गयी हैं।

पाँचवें अध्याय मे साहित्यिक प्राकृत भाषाओ के उदभव पर विचार करते हुए इनकी सामूहिक विशेषताओ को प्रस्तुत किया गया है। तदुपरान्त प्रत्येक साहित्यिक प्राकृत पर पृथक् पृथक प्राकृत वैयाकरणो के अनुसार ध्वन्यात्मक एव रूपात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

छठे अध्याय म अपभ्रश भाषा के उदगम उसका देशत्व और आभीरादि जातियो के साथ उसके सम्बन्ध पर विचार किया गया है। इसके साथ ही

साहित्यिक एवं परिनिष्ठित अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों की पुष्ट भाषा वैज्ञानिक आधार भूमि पर निरस्त कर उसके एक ही रूप की स्थापना की गयी है। इसी बीच उसका ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है।

सातवें अध्याय में 'अवहट्ट' अथवा संक्रान्ति काल की भाषा पर विचार किया गया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि वह साहित्यिक अपभ्रंश से कितनी दूर चली गयी थी और नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के कितनी समीप आ गयी थी। इसके साथ ही इसकी ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक विशेषताओं पर भी विचार किया गया है।

आठवें अध्याय में नव्य भारतीय आर्य भाषाओं पर विचार व्यक्त किये हैं और डॉ० ग्रियर्सन और डॉ० चाटुर्ज्या के वर्गीकरणों पर विस्तार से विचार भी। इसके पश्चात् समस्त नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का पृथक-पृथक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए इस अध्याय में मुख्यतः नामकरण क्षेत्र, सीमाएँ और ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक विशेषताएं सन्निविष्ट की गयी हैं।

नवें अध्याय में पश्चिमी हिन्दी के उद्भव और विकास पर विचार किया गया है तथा अपभ्रंश के साथ उसके सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। इसके पश्चात् हिन्दी शब्द की निरुक्ति तथा हिन्दी उर्दू विवाद पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया गया है।

दसवें अध्याय में हिन्दी (खड़ी बोली) भाषा की ध्वनियों के स्वरूप और उनके विकास की प्रक्रिया को विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में हिन्दी (खड़ी बोली) का रूपात्मक विकास प्रस्तुत किया गया है। महामुनि यास्क के नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च के आधार पर शब्द रूपों का विभाजन कर प्रत्येक विधा को पृथक् पृथक् रूप में स्पष्ट किया गया है।

अन्त में दो परिशिष्ट हैं जिनमें (१) हिन्दी राष्ट्र भाषा क्यों ? तथा (२) पारिभाषिक शब्दावली का विवेचन है। इस प्रकार संक्षेप में यह प्रयास किया गया है कि भाषा विज्ञान के अध्ययमेष्णु छात्र सरलता से भारतीय आर्य भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकें। यह प्रयास कितना सफल हुआ है यह निर्धारित करना विज्ञ पाठकों का अपना विषय है।

मानव के जीवन निर्माण में विभिन्न व्यक्तियों, घटनाओं एवं परिस्थितियों का योगदान रहता है। मनुष्य उनसे प्रेरणाएँ ग्रहण करता है और तदनुरूप अपने पथ का निर्धारण करता है। अतः इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि भाषा अध्ययन के इस पथ को प्रशस्त करने का श्रेय मेरे दो पितृव्य स्व० पं० रामस्वरूप शर्मा और स्व० पं० कन्हैयालाल शर्मा को है जिनके सान्निध्य में मैंने संस्कृत भाषा की पुरातन प्रणाली पर लघु और सिद्धान्त कौमुदी तथा

सारस्वत और सिद्धांत चन्द्रिका जैसे व्याकरण ग्रन्थों का अध्ययन किया। आधुनिक प्रणाली पर भाषाओं के अध्ययन की ओर अग्रसर करने का श्रेय हिन्दी के कतिपय ग्रन्थों को है जिनमें डॉ उदयनारायण तिवारी कृत 'हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास', डा बाबूराम सक्सेना कृत 'सामान्य भाषा विज्ञान', डा धीरेन्द्र वर्मा कृत 'हिन्दी भाषा का इतिहास' और डॉ सुनीति कुमार चाटुर्ज्या कृत भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी' आदि प्रमुख हैं। उक्त ग्रन्थों का मेरे भाषा जीवन मे जो योगदान है उससे मैं शायद ही उऋण हो सकू।

भाषाओं के अध्ययन के लिए प्रोत्साहित करते रहने का श्रेय डॉ सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण' को है। किसी भी विषय पर किसी भी समय विचार विमर्श करने के लिए उनके द्वार मेरे लिए सदैव खुले रहते हैं। उसी का यह परिणाम है जिसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ।

मेरे लेखक जीवन का शुभारम्भ उन भाषा वैज्ञानिक लेखों से होता है जो समय समय पर हिन्दी की प्रमुख शोध पत्रिकाओं—नागरी प्रचारिणी पत्रिका शोध पत्रिका, विश्वम्भरा, सप्त सिन्धु राजस्थान पत्रिका जनभारती रसवन्ती आदि मे प्रकाशित होते रहे हैं। मेरे लेखों को पढकर मेरे विद्वान् मित्रो ने मुझे इस विषय पर कोई पुस्तक लिखने का परामर्श दिया जिससे मेरे विचार अधिक से अधिक लोगो तक पहुँच सकें। इसी बीच बी ए के छात्रो को भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास पढाते समय मुझे यह अनुभव भी हुआ कि हिन्दी जगत मे एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता है जो मौलिक होते हुए भी ऐसी शैली मे लिखी हुई हो कि एम ए और बी ए के छात्रों के लिए समान रूप से उपादेय हो और वे अपनी आवश्यकतानुसार सामग्री अत्यन्त सरलता से प्राप्त कर सकें। अत पुस्तक लिखने का निश्चय कर उपर्युक्त प्रकार की रूपरेखा तैयार कर ली गयी।

उक्त रूप रेखा को साकार रूप प्रदान करने मे मेरे अभिन्न मित्र डा प्रभाकर शर्मा शास्त्री संस्कृत विभाग का जो अमूल्य सहयोग मिला वह मेरे हृदय की एक बहुमूल्य निधि बन गया है। समय समय पर मिले आपके सुझाव तो महत्त्वपूर्ण थे ही साथ ही आपके सशक्त 'प्रूफ रीडिंग' ने पुस्तक को अधिक निर्दोष बना दिया है।

मेरे जीवन निर्माण मे मेरी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती शान्ता कौशिक का बहुत बडा हाथ रहा। वह मेरी पत्नी ही नही एक मार्ग-दर्शिका भी थीं। किशोरावस्था की वह मेरी जीवन संगिनी सदैव कहा करती थी कि अध्ययन काल मे सुख की आकांक्षा करना असफलता को आमन्त्रित करना है और अध्ययन तो अपने आप मे एक सुख है। मैं नही समझती कि इससे आगे भी

दुनियाँ मे कोई सुख होता है। आज वह इस ससार मे नहीं है किन्तु उसके वाक्य आज भी मेरा मार्ग-दर्शन करते हैं।

अन्त मे मैं उन विद्वानो का कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रथो का आधार लेकर मैं इस पुस्तक को प्रस्तुत कर सका हूँ। उनकी सूची पुस्तक के अन्त मे प्रस्तुत कर दी गई है। यदि किसी ग्रन्थ का नाम अज्ञानवश उस सूची मे नही आ पाया हो जिसका उपयोग इस पुस्तक मे किया गया है तो सम्बद्ध विद्वान मुझे क्षमा करेंगे। सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे यदि किसी विद्वान के किसी सिद्धान्त का खण्डन करते समय कही कोई वाकस्खलन हो गया हो तो विद्वान् उसे बाल चापल्य समझकर क्षमा कर देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। यह मेरा प्रथम प्रयास है। अत बहुत सम्भव है अनेक स्थलो पर अनेक भूलें एव अपूर्णताएँ रह गयी हो इसके लिए विद्वानो के सुझाव सादर आमन्त्रित हैं जिससे अग्रिम सस्करण मे उनका उपयोग किया जा सके।

श्री कल्याण राजकीय महाविद्यालय,
सीकर
विजयदशमी २० १० ६६

जगदीशप्रसाद कौशिक

# विषय-सूची

प्रथम अध्याय

# प्राचीन भारत का सांस्कृतिक वातावरण

बौद्धिक युग और उसके परिणाम—पाश्चात्य विद्वान और उनकी मनोवृत्ति—आर्यजन और उनके मूल निवास स्थान का भ्रम—विभिन्न मत—मतों का आधार—प्रजातिवाद—भाषावाद—प्राचीन शिलालेख एवं ग्रन्थ—प्राचीन भारत की मुख्य मुख्य प्रजातियाँ—हब्शी—आस्ट्रिक या निषाद—द्रविड़—मंगोलियन या किरात—इनका प्रभाव—छान्दस/संस्कृत, अवेस्ता, पालि/प्राकृत की तुलना।

वतमान युग बौद्धिक विकास एव सभ्यता के प्रसार मे कितनी तत्परता से सलग्न है, यह स्वय सिद्ध तथ्य है जो विस्तृत व्यञ्जना की अपेक्षा नही रखता। मानव मस्तिष्क उस उवरा भूमि की भाति काय निरत है जो एक बीज के प्रतिदान मे वपनकर्ता को असख्य बीजो से आपूरित निष्कष रूपी फल प्रदान करता है। आज एक विषय जसे ही अकुरित होता है वैसे ही तुरत शाखाओ एव प्रशाखाओ म प्रस्फुटित हो कर पुष्पित एव पल्लवित हो जाता है। क्या धम क्या साहित्य क्या राजनीति क्या समाजशास्त्र क्या इतिहास क्या सस्कृति, सभी क्षेत्रो मे मानव प्रतिभा ने जो कमाल कर दिखाए हैं व अप्रतिम है। ज्ञान के सभी अगो का आलोडन विलोडन कर उन पर पडे अज्ञान के पर्दे को फाडकर विद्वत्समाज उस रहस्य के उदघाटन मे तल्लीन है जो या तो मानव मस्तिष्क के लिए गहन गुत्थी बना हुआ था, या मानव समाज उसके विषय मे पूणत अनभिज्ञ था। प्रकृति के ऐसे कितन ही व्यापारो का उदघाटन किया जा चुका है और कितनो का ही किया जा रहा है किन्तु इस प्रकार के कृत्यो का उत्तरदायित्व वहन करते समय विद्वान् पुरुष यदि किञ्चित मात्र भी बहक जाता है (कारण चाहे राजनैतिक धार्मिक व राष्ट्रीय कोई भी रहा हो) तो वह अपने आप का तो प्रवचना के गहन गह्वर मे पतित करता ही है साथ ही भावी सन्तति के लिए गहन समस्याओ का आदाता भी हो जाता है। बौद्धिकता की शान पर चढे हुए तेज धार वाले अनुमान प्रसूत तक किस प्रकार युगो से प्रस्थापित मानव मस्तिष्क के विश्वास विहगो के पख छिन्न भिन्न कर देते हैं यह एक कल्पित विधान नही, अकाट्य सत्य है। अतएव बुद्धिप्रधान तक वितक के युग म कम से कम बुद्धिजीवी वग स मेरी विनय है कि वह अपनी निष्पक्ष प्रतिभा का परिचय दे। उसकी समस्त मान्यताए व निष्कष पक्षपात रहित प्रतिभा की उज्ज्वलता से जाज्वल्यमान हो।

इस समस्त आकलन से मेरा तात्पय उस महान भ्रम को उदघाटित करना था जो पाश्चात्य विद्वानो द्वारा तथा उनके ही पदचिन्हो का अनुकरण करने वाले भारतीय मनीषियो द्वारा इस देश के विद्यालयो व विश्वविद्यालयो मे ज्ञान की आराधना मे निरत भारत के भावी कणधारो के अतिरिक्त शिक्षित वग एव सामान्य जनता क मस्तिष्क को दूषित करने के लिए फैलाया गया। यह भयावह भ्रम है—आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धु न मानकर उसके लिए प्रचलित की गयी भिन्न भिन्न धारणाए। इस प्रश्न को लेकर भिन्न भिन्न प्रकार की मान्यताओं की स्थापना के लिए अनुमान के आधार पर दूर दूर की कौडी खोजने के प्रयास म जो बुद्धि विलास किया गया है वह यह स्पष्ट प्रमाणित

करता है कि मनुष्य सत्य के उद्घाटन मे ही सक्षम नही वह सत्य को तमसावृत करने म तथा उसे अज्ञान के अनेक आच्छादनो से वेष्टित कर असत्य को सत्य के आवरण म उपस्थित करने मे अधिक सशक्त है। किन्तु ज्ञान की यह अचना निश्चय ही चिन्ता का विषय है। आज से लगभग दो सौ या चार सौ वर्ष पूर्व भारत को छोडकर शायद ही कोई देश था जो अपने आपको आर्य नाम से अभिहित कर गौरव का अनुभव करता रहा हो। वे जानते तक न थे कि एक दिन वे भी आर्य बनकर न केवल उस जाति के आदि पुरुष के निकट तम वशज होने का दम भरेंगे, बल्कि उसका आदि स्थान भी यही कहीं निश्चित कर देंगे और वह देश जो राजनैतिक दृष्टिकोण से चाहे जैसा रहा हो पर धार्मिक दृष्टिकोण से हिमालय से कन्याकुमारी तक हिन्दूकुश से बर्मा तक एक सगठित इकाई था तथा जिसके निवासी अपने को आर्य कहकर सप्त सिन्धु प्रदेश पर सौजान निछावर थे अब उसकी सन्तानें न केवल अपने को विदेशी समझने लगेंगी बल्कि अपने मे भी द्रविड आर्य मगोलियन हब्शी आदि का वर्ग भेद कर एक दूसरे से दूर जाने का उपक्रम करने लगेंगी यह किसे ज्ञात था। विधि की विडम्बना विचित्र है।

सर विलियम जोन्स विश्व के प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होने यह घोषणा की थी कि योरप की पुरातन भाषाओ मे एव संस्कृत म प्रकृति साम्य ही नही रूप साम्य भी है तथा इनका मूल उद्गम किसी एक मूल भाषा स हुआ है। परिणाम स्वरूप योरप म संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। उन्नत प्रतिभाओ के अपार भण्डार को एक ही स्थान पर (संस्कृत भाषा म) प्राप्त कर पाश्चात्य विद्वानो की आँखें खुली की खुली रह गइ और वे वाणी के इन वरद पुत्रो के साथ न केवल भाषा का ही बल्कि अपना सागोपाङ्ग सम्बन्ध स्थापित करने का लोभ सवरण न कर सके। अब यह अनुमान लगाया जाना प्रारम्भ हुआ कि इन भाषाओ के बोलने वालो के पूर्वज प्रारम्भ म कहीं एक स्थान पर एक ही परिवार से सम्बन्धित हो रहते रहे होंगे। यही वह समय था जब भारत, ईरान, रूस का एक बहुत बडा भू भाग फारस तथा समग्र योरप अपने आपको आर्य एव उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषाओ को आर्य परिवार की भाषाएँ कहने लगा। इन भाषाओ के प्राचीनतम ग्रन्थो म ऋग्वेद अवेस्ता तथा ईलियड ओडेसी आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थो म भी ऋग्वेद प्राचीनतम धर्मग्रन्थ है। इस प्रकार जब इतने बडे भू भाग म रहने वाले व्यक्ति अपने आपको आर्यों की सन्तान समझने लगें तो उनकी प्रतिभाए अपने पूर्वजो के आदि स्थान का अनुसन्धान करने म व्यस्त हो गइ। किन्तु इन अनुसन्धाताओ के साथ दुर्भाग्य यह था कि इनम से कतिपय विद्वान् रक्त की विशुद्धता के दम्भ से ग्रस्त थे, कुछ राजनतिक

गरिमा के आवरण से आवृत थे। हा, एक वर्ग अवश्य ऐसा था जो शुद्ध ज्ञान की वृद्धि और सरस्वती के मंदिर की पावन आराधना के लिए कार्य कर रहा था। इस वर्ग द्वारा प्रस्तुत विचार निःसन्देह विचारणीय हैं। प्रस्तुत निबन्ध में संक्षेप में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि क्या आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धु प्रदेश है? इससे पूर्व कि हम मूल विषय के विधेयात्मक पक्ष का प्रतिपादन करने के लिए अग्रसर हों यह जान लेना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता है कि जो विद्वान "आर्यों का आदि देश" भारत के अतिरिक्त किसी अन्य स्थान को निश्चित करते हैं उनके आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं? यह इसलिए आवश्यक है कि किसी भी पक्ष में किसी मान्यता को स्थापित करने के लिए उनके सभी पक्षों का अवलोकन करना पड़ेगा। यदि किसी एक पक्ष को ही आधार मानकर हम अग्रसर होंगे तो मनो-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि जाने में और अनजाने में हम किसी प्रकार की कट्टरता से ग्रस्त हैं। वह कट्टरता चाहे राजनैतिक हो चाहे सामाजिक धार्मिक तथा किसी अन्य प्रकार की। इस समस्या के समाधानार्थ विद्वानों ने प्रधान रूप में तीन सिद्धान्तों का आश्रय लिया है—(१) प्रजाति का सिद्धान्त (२) भाषा का सिद्धान्त (३) प्राचीनतम ग्रन्थों में प्राप्त तत्सम्बन्धी सामग्री तथा कुछ प्राचीन स्थानों की खुदाई इत्यादि में प्राप्त उपादान।

सर्व प्रथम हम प्रजातिवाद पर विचार कर यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि इससे प्रस्तुत समस्या का समाधान कहाँ तक सम्भव है। विद्वानों का एक वर्ग है जो प्रजाति के सिद्धान्त के आधार पर इस समस्या की समीक्षा करता है। यह वर्ग विश्व के समस्त नर समुदाय को उसकी आकृति, गठन एवं वर्ग के आधार पर कतिपय भागों में विभाजित कर लेता है तथा फिर भूगोल की सहायता से जलवायु इत्यादि का अध्ययन करता हुआ किसी एक प्रजाति के लिए कोई एक भू खण्ड निश्चित करने का प्रयास करता है तथा अन्य स्थानों पर प्राप्त उसी प्रकार के गठन वाले मानव समुदाय को एक ही वंश का सिद्ध करने की चेष्टा करता है। वर्तमान समय में यह सिद्धान्त धीरे धीरे अपनी महत्ता खो रहा है क्योंकि यह सिद्धान्त वर्तमान समय के मानव शरीरों का अध्ययन करने के पश्चात् उनके पूर्वजों के लिए कतिपय मान्यताएं निश्चित करता है जो पूर्णतः अनुमान पर आधारित हैं अथवा भिन्न भिन्न स्थानों की खुदाई इत्यादि में प्राप्त कि ही गिने चुने नर कंकालों का परीक्षण कर उस आधार पर अपने सिद्धान्त का निर्माण करता है। परन्तु ये दोनों ही आधार दुर्बल हैं। प्रसिद्ध मानव शास्त्री हावल ने इस सम्बन्ध में उचित ही कहा है

"It is a fact that race conscious persons hold an image of racial types in their heads"[1]

अत हम कह सकते हैं कि यह शास्त्र इस कार्य में अपना किञ्चित योगदान तो दे सकता है किन्तु मूल आधार नही बन सकता क्योंकि मानव की आकृति गठन एव वर्ण पर तद्देशीय जलवायु तथा अन्तर रक्त मिश्रण आदि का प्रभाव अवश्य पडता है। दो वस्तुएँ मिलकर तीसरी नवीन वस्तु को जन्म देती हैं—यह रसायन शास्त्र का प्रमुख नियम है। अत स्पष्ट है कि एक प्रदेश विशेष के व्यक्ति के दूसरे प्रदेश में जा बसने पर उसकी कुछ पीढियो के पश्चात की पीढियाँ उस प्रदेश के लोगो की नस्ल मे मिलने जुलने लगती हैं। इसमें जलवायु के साथ साथ भोजन की अल्पता तथा अधिकता का भी प्रभाव पडता है। उत्तर योरप के यहूदियो का इस आधार पर किया गया परीक्षण उक्त सिद्धान्त का खोखलापन सिद्ध करता है। प्रसिद्ध मानव शास्त्री फ्रज बाउस (Franj Bous) ने शीप देशना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि पूर्वी योरप के अमरीका में जा बसे यहूदियो की शीप देशना ८३ ■ थी। उनके पुत्रो एव पौत्रो की क्रमश ८१ ४ तथा ७८ ७ पाई गई।[2] अत यह कहना कि अमुक जाति की नस्ल के लिए निश्चित सीमा यह है और जहाँ भी इस प्रकार की शारीरिक सीमा मे आबद्ध व्यक्ति मिलेंगे वे उस निश्चित नस्ल विशेष के होगे गले नही उतरती। न विज्ञान वेत्ताओ ने कपाल के अध्ययन के द्वारा जिसमें सब से कम परिवर्तन देखा गया है उसकी तीन स्थितियाँ स्वीकार की हैं (१) लम्बा कपाल, (२) मध्यम कपाल—(३) चौडा कपाल। इनकी नाप-जोख इस प्रकार स्थापित की गई—लम्बा कपाल ७४ ९९ तक मध्यम कपाल ७५ ० से ७९ ९९ तक चौडा कपाल ८० ० से अधिक। इस सिद्धान्त पर यदि उक्त यहूदी परिवार का परीक्षण करें तो उसकी प्रथम पीढी चौडे कपाल के अन्तर्गत द्वितीय पीढी मध्यम कपाल की ओर अग्रसर होती हुई तथा तृतीय पीढी मध्यम कपाल के अन्तर्गत आती है। यह अध्ययन यह भी सिद्ध करता है कि सम्भवत उस परिवार की अगली पीढियाँ लम्बे कपाल की ओर बढ गई हो तथा यदि यह परिवार अमरीका की अपेक्षा अफ्रीका अथवा एशिया में जाता तो यह विकास सम्भवत भिन्न प्रकार का होता। अत प्रजातिवाद के सिद्धान्त के आधार पर किसी एक नस्ल को अधिक मात्रा में उस स्थान विशेष में प्राप्त कर उसका मूल उद्गम भी उसी स्थान को मान लेना उचित नही क्योंकि इगलैण्ड में रहने वाले कितने ही भारतीय परिवार अब

---

1 Man in the Primitive World p 119

2 General Anthropology p 115

शारीरिक गठन मे, विशेषकर स्त्रियाँ अपने मूल परिवार से भिन्न दिखाई देती हैं, पर योरपियना के समीपस्थ। इस प्रकार एक समय ऐसा आ सकता है जब कि व योरप के लोगो के अधिक समीप और भारत के लोगो से आकृति की दृष्टि से बहुत दूर पड जाएँ। ऐसी स्थिति मे कोई न विज्ञान वेत्ता प्रजाति के सिद्धात के आधार पर उस परिवार का मूल उदगम योरप मे कही खोजने का प्रयास करे तो यह प्रयास उतना ही हास्यास्पद होगा जितना किसी वनस्पति शास्त्र वेत्ता का नीम वक्ष का उदगम वट वक्ष मे खोजने का प्रयत्न। उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि इस सिद्धान्त मे भौगोलिकता और अल्पाधिक आहार विहार अपना महत्त्वपूण स्थान रखते हैं। समान जलवायु मे रहन वाले निवासियो की नस्लें समान हो सकती हैं पर वे एक ही वश के भी हो यह नही हो सकता। अत केवल इसे आधार मानकर भारत के उत्तरी एव दक्षिणी भाग के लोगो को आय एव द्रविड दो प्रजातियो मे बाँट देना प्रजाति वाद के सिद्धात के खोखलेपन का परिचय देना है। सम्भवत इसी विचार से चिन्कर स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है—'अब एक सिद्धान्त निकला है कि मनुष्या की एक खास प्रजाति थी जिसका नाम द्रविड था, जो दक्षिण भारत म रहती थी और उत्तर भारत म रहने वाली आय जाति से सवथा भिन्न थी। यह भी कहा जाता है कि दक्षिण भारत मे रहने वाले ब्राह्मण हैं वे केवल व ही थोडे से आय हैं जो उत्तर भारत से दक्षिण को गए। दक्षिण भारत क बाकी लोगो की जाति और प्रजाति ब्राह्मणा की जाति और प्रजाति से सवथा भिन्न है। श्रीमान भाषा शास्त्रीजी आप क्षमा करेंगे, ये सारी बातें निरा धार हैं।"[3]

इस प्रजातिवाद की भावना ने मानव समाज मे घृणा का जो बीजारोपन किया है वह अवश्य ही अत्यन्त चिन्तनीय है। इस सिद्धान्त को आधार मान कर कितने ही विद्वान इन गौराग महाप्रभुओ को सभ्यता का अग्रदूत मानन लगे। 'शुद्धि वैभव के एक मात्र अधिकारी गौराग ही हैं कृष्णाग नही, इस विचार के प्रचार म प्रजातिवाद के सिद्धान्त मानने वाले यह भूल जात हैं कि भारत के ही नहीं विश्व के एक मात्र आराध्य कमयोग सिद्धान्त के आविष्कर्ता भगवान श्रीकृष्ण कृष्णाग थे। कूटनीति क अप्रतिम पंडित आचाय चाणक्य भी कृष्णाग थ ऐसी किंवदन्तिया हैं। हिन्दुओ के प्रधान आराध्य दवाधिदेव विष्णु के लिए भी नील वण की कल्पना की गई है। अत हम कह सकत हैं कि प्रजाति का यह सिद्धान्त किञ्चित सत्य पर भी चाहे आधारित हो

---

[3] दी फ्यूचर आफ इण्डिया—स्वामी विवेकानन्द— आजकल ' मे श्री राम धारीसिंह दिनकर द्वारा उदधृत।

पर यह उद्जन एव कोबाल्ट बमो की भाँति विध्वसक होने के कारण सवथा गर्हित एव परित्याज्य है।

उपयुक्त विवेचन से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि आर्यों की कोई एक निश्चित नस्ल की कल्पना कर उसी के उपयुक्त जलवायु वाले प्रदेश की खोज कर उसे आर्यों के आदि स्थान का श्रेय देना सवथा अबौद्धिक एव कुतर्क है। आज समस्त योरप जहाँ तक अपने को आय जाति से सम्बद्ध मानता है वहाँ तक हमें कोई आपत्ति नहीं पर जहाँ वह अपनी आकृति विशेष को मस्तिष्क म रखकर उसके आधार पर एक प्रजाति का लक्षण निश्चित कर उसका आदि-स्थान कहीं कहीं योरप म खोजने का जो प्रयास कर रहा है, वह व्यथ है। क्या यह सम्भव नही कि योरप आदि शीत प्रदेशो म जो भिन्न भिन्न नस्लें आई वे देश व काल के क्रम म परिष्कृत होती हुई प्राय पर्याप्त अशो म समान होती गइ और जो एक निश्चित नस्ल विशेष के व्यक्तियो का आधिक्य योरप में पाया जाता है वह भी अनेक भिन्न नस्लो का रासायनिक मिश्रण हो, जो अब आर्यों की एक नस्ल का लक्षण बनकर प्रफुल्लित हो रहा हो अथवा इसे यो भी कहा जा सकता है कि हजारो वष पहले जो आय परिवार भारत वष से जाकर योरप म बस गया था, वह जलवायु की भिन्नता एव अन्य समुदाय के मेल से अपने मूल परिवार से भिन्न पड गया और अब अवसर पाकर तथा राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होकर भारत के स्थान पर योरप को ही अपना आदि स्थान कहने म गौरव का अनुभव करने लगा हो। भारत के लिए इसके अतिरिक्त अ य पुष्ट प्रमाणो के आधार पर हम कह सकते हैं कि आर्यों का आदि स्थान भारत ही है। पुरातत्त्व शास्त्र के प्रकाण्ड पडित डॉ बी० के० घोष ने वदिक एज के तृतीय भाग म एक स्थान पर लिखा है

'In spite of all the evidence to the contrary India was the original home of the Aryans for there is no definite proof of the existence of an Aryan race or language outside India previous to the age of the Mohan jo daro culture (The Vedic Age Vol I p 202)

यद्यपि डा घोष जब तक मोहन जो दडो के समस्त रहस्यो का उदघाटन नही हो जाता तब तक पाश्चात्य मनीषियो द्वारा निर्धारित सिद्धान्तो के आधार पर इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि आय भारत म बाहर से आये पर आपके द्वारा लिखित इस अध्याय के अध्ययन से अन्त मे जो प्रभाव मस्तिष्क म तैरता सा शेष रह जाता है वह यह है कि घोष जी इस पूरे दिल से सहमति प्रदान नही करते, जसा कि अगले अनुच्छेद से स्पष्ट होता है

But why consider the Mohan jo daro civilization to be

the oldest traceable civilization of India ? What is there to prove that the Aryan culture of Rig vedic India was not older than the culture represented by the ruins of Mohan jo daro ? *(Ibid)*

श्री रामधारीसिंह दिनकर न इस विचारधारा को अधिक स्पष्ट शब्दो मे अभिव्यक्त किया है

"यह बात किसी भी प्रकार बुद्धि म नही आती है कि द्रविड एक समय सारे उत्तर भारत मे फले हुए थे और आर्यों ने उन्ह इस प्रकार खदेड कर दक्षिण पहुँचा दिया कि उत्तर मे उनका कोई भी चिह्न बाकी नही रहा। उन दिनो लडाइया मे जोश खरोश या प्रतिशोध की भावना बहुत अधिक नही रहती होगी। यह वह समय था जब लोग बसने की जगह भर चाहते थे, बैठने की जगह भर मिल जाने पर धक्का मुक्की तो चलती होगी पर शत्रुता भयानक रूप धारण नही करती होगी और यदि यह मानें कि आर्यों ने प्रतिशोध-पूवक द्रविडो को खदड कर विन्ध्य के पार पहुँचा दिया होगा तो आरम्भिक आय साहित्य मे दक्षिण का उल्लेख क्यो नही मिलता ? वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ केवल सप्तसिन्धु का नाम लेकर रह जाते है। उसके बाद के साहित्य से ब्रह्मावत का भूगोल समझा जा सकता है। मध्य देश का भूगोल कुछ और बाद को उभरता है। स्वय पाणिनि (सातवी सदी ई० पू०) को दक्षिण का पता था या नही यह सन्देह का विषय है।'

उपयुक्त उद्धरणो के अध्ययन के पश्चात हम इस निणय पर पहुँचते हैं कि आय लोग प्रारम्भ से ही पुण्य-सलिला पावन भारत भू पर ही निवास करते थे। द्रविड शब्द देशज है जो तमिल का उदबोधक है। तमिल सस्कृति के सस्थापक मुनिवर अगस्त्य थे यह सब विदित है। अगस्त्य मुनि का समुद्र के साथ सघष तथा आय जाति के अन्य ऋषियो के साथ मतभेद केवल लोक प्रचलित कथन ही नही अपितु शास्त्र सम्मत तथ्य है। अत भाषा विभेद को लेकर द्रविडो और आर्यों को जो इसी भारत भूमि पर निवसित एक ही परिवार के सदस्य हैं दो भिन्न भिन्न प्रजातियो म विभाजित कर देना पूणत अशोभनीय है। यदि मोहन-जो-दडो की सभ्यता की स्थापना द्रविडो द्वारा हुई जो आजकल एक पुष्ट मा यता है तो यह भी निश्चित है कि उक्त सभ्यता का सागोपाग अध्ययन यह भी निणय कर देगा कि इसमे आय सस्कृति का योगदान भी नगण्य नही है। *श्री रामधारीसिंह दिनकर ने एक ऐसे वग का जिक्र किया है जो आर्यों को ही* मोहन-जो-दडो सभ्यता का निर्माता मानता है। मैं इसे इस प्रकार स्पष्ट करना चाहता हू कि द्रविड आर्यों की वसी ही एक प्राचीन शाखा है जिस प्रकार आधुनिक समय म हिन्दुओ के कबीर पन्थ सिक्ख सम्प्रदाय, जैन तथा बौद्ध धम आदि। अत प्रजाति के सिद्धान्त के आधार को मानकर किसी निश्चय

पर नही पहुँचा जा सकता। मेक्समूलर न इसकी पुष्टि बडे सशक्त शब्दो म की है

"Aryan in scientific language is utterly inapplicable to race it means language nothing but language

अत मे इस सिद्धात के लिए हम कह सकते हैं कि प्रजाति का यह सिद्धात खोखला है। एक जैसी आकृति और गठन के दो व्यक्तिया को एक वश के सूत्र मे नही बाधा जा सकता और न ही भिन्न भिन्न जलवायु के निवासियो को अनेक भागो मे बाटा जा सकता है। डा एस के चटर्जी ने ठीक ही कहा है

This view adopted in official publications and accepted very largely both in India and outside India without any questioning divided the people of India quite arbitrarily with both insufficient data and immature science (not wholly free it might also be suspected from political bias) into seven broad groups

(The Vedic Age Vol I p 141)

द्वितीय सिद्धान्त भापा का सिद्धात है। सर विलियम जोन्स ने विद्वाना का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि सस्कृत भापा तथा ग्रीक लटिन जमन आदि योरप की भापाओ का मूल उदगम किसी एक स्रात स ही हुआ है। इस आधार को लेकर विद्वाना ने विश्व के मानव समुदाय का पारिवारिक विभाजन भापा के आधार पर करना आरम्भ किया। इस प्रकार भारत ईराक, ईरान तथा योरप म बोली जाने वाली भापाआ को इण्डो आयन वग के अतगत रखा गया और इन भापाओ के बोलने वालो को आय या आर्यों का वशज कहा जाने लगा। किन्तु इस पर इस सिद्धात की पुष्टि कर लेना कि इस भापा परिवार को बोलन वाला जन-समुदाय आय है और एक ही वश से सम्बद्ध है मान्य नही हो सकता। यद्यपि आज उदू भापा मूल रूप म हिन्दी की आकृति और प्रकृति स पूणतया भिन्न नही है और वाक्या की बनावट सना क्रिया आदि क प्रयोग प्राय हिन्दी के अनुसार हैं तथापि किन्तु इस भापा म अरबी और फारसी क शब्दा को बहुतायत से सम्मिलित कर एक जाति विशेष ने इसे अपने भावा एव विचारों की अभिव्यक्ति का साधन बना लिया है। क्योंकि यह भापा विजनाओ क द्वारा अपनाई गई थी अत विजित भी इस प्रकार का प्रयोग करने लग। कहने का तात्पय यह है कि अब भारत एव पाकिस्तान के समस्त मुसलमान (इनम तुर्कों अफगाना अरबा एव मुगला की सन्तानें सम्मिलित हैं) तथा उत्तर प्रदेश, दिल्ली और राजस्थान क य हिन्दू परिवार जिनके पूवज राजघराना या मुसलमाना क सम्पक म आय, प्राय उदू भापा का प्रयोग करत हैं। किन्तु उपरिकथित य भापा प्रयोक्ता परिवार एक भापा का तो प्रयाग करत हैं परन्तु एक परिवार या वश स

आबद्ध नही हैं। इसी प्रकार सस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओ मे साम्य है अत इनका उद्गम एक मूल भाषा से हुआ होगा, यहा तक तो कोई आपत्ति नही किन्तु इसके साथ जो दूसरा प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि मूल भाषा के बोलने वाले जन भिन्न भिन्न प्रदेशो म फैल गये और अपनी भाषा भी साथ ले गय। काल-क्रमानुसार चाहे इनकी भाषाओ मे भिन्नता आ गई हो परन्तु इन भाषाओ अथवा इनकी तदभव भाषाओ के बोलने वाले एक ही परिवार या वश के रह होगे, नही माना जा सकता। स्पष्ट है कि जब कभी भी कोई विजेता अथवा व्यापारी वग (जैसे अग्रेज व्यापारियो का भारत आगमन) जहा कही जाता है वहा अपनी भाषा भी ले जाता है। उसका वहाँ के निवासियो पर प्रभाव पडता है। स्थिति यहा तक पहुच जाती है कि वहा के समस्त निवासी (यदि अल्प हो, जैसा कि आदि मे था भी) उसी भाषा का प्रयोग करने लग जात हैं। तत्पश्चात उनकी आने वाली सततिया उसे ही अपनी मातृभाषा मानकर अपना लेती हैं। इस प्रकार वह भाषा उनके जीवन म इतनी घुल मिल जाती है कि उसे पृथक नही किया जा सकता। एसी स्थिति म एक प्रदेश विशेष के निवासियो की भाषा के आधार पर विजेता के वश का कहना उपहासास्पद ही होगा। अग्रेजी शासन काल के इस प्रकार कितने ही उदाहरण भारत अफ्रीका अमरीका तथा अय एशियाई देशो से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। भारत की आदिम नागा आदि जातिया केरल एव दक्षिण की अय ऐसी जातिया हैं जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आग्ल भाषा का उसी प्रकार प्रयोग करती हैं जिस प्रकार इग्लैण्ड आदि देशो के निवासी। परन्तु भाषा का इस प्रकार प्रयोग करने पर भी ये जातिया अग्रेजी जाति की वशज नही कही जा सकती। अत भाषा को ध्यान मे रखते हुए भी इस विषय पर गम्भीरता से विचार करना पडेगा कि योरप की इतनी बडी जन सख्या आर्य परिवार की भाषा का प्रयोग करते हुए भी आय जाति की वशज हैं अथवा नही। क्या यह सम्भव नही कि भाषा का यह प्रयोग उसी प्रकार प्रारम्भ हुआ, जिस प्रकार भारत की आदिम जातियो म अग्रेजी का और चीन जापान लका, कोरिया आदि म बौद्ध धम का तथा योरप के एक बहुत बडे भू भाग पर मध्य एशिया, एशिया माइनर तथा भारत म इस्लाम धम का प्रचार। एक धम, एक भाषा होने पर भी क्रमश ईराक, ईरान के निवासी अरब वालो के वशज नही हो सकत और भारत की आदिम जातियाँ अग्रेजो की नही। अत भाषा को आधार मानकर तथा यह तक देकर कि आय परिवार की भाषाओं का प्रयोग करने वाली एक बहुत बडी जन-सख्या, क्योकि योरप मे रहती है अत आर्यों का मूल स्थान भी यही कही योरप म रहा होगा कहना ऐसा ही हास्यास्पद होगा जैसा किसी अपरिपक्व बुद्धि वाले विद्वान् का यह कहना है कि क्योकि

विश्व मे बौद्ध धम के मानने वाले सबसे बडी सख्या म चीन मे पाये जाते है अत बौद्ध धर्म का प्रणेता भी यही कही चीन मे ही उत्पन्न हुआ होगा।

जब से तुलनात्मक भाषा विज्ञान का प्रारम्भ हुआ है उक्त मत बहुत अधिक मात्रा मे शक्ति ग्रहण करता जा रहा है। यद्यपि प्रारम्भ म जब योरप के विद्वानो का सम्पक सस्कृत भाषा से हुआ था तब सभी ने एक स्वर से यह स्वीकार किया था कि आय परिवार की सबसे प्राचीन भाषा जिसम मूल योरपीय परिवार की ध्वनिया सुरक्षित हैं तथा जो मूल भाषा के सबसे अधिक निकट है सस्कृत है परन्तु जब धीरे धीरे योरप के विद्वानो न विशेषकर जमन और फ्रेंच विद्वानो ने अपनी भाषाओ का—ग्रीक लटिन गाथिक, जमन तथा फ्रेंच—तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया तो उन्ह कुछ ऐसे मूलभूत परिवतन के नियम दिखाई पडे, जिनके आधार पर ग्रीक लटिन, टयूटनिक आदि भाषाओ स उच्च जमन इटालियन तथा अंग्रेजी आदि भाषाओ ने विकास प्राप्त किया। इन्ही नियमो के आधार पर उन विद्वानो ने सस्कृत पर भी एक विहगम दृष्टि डाल ली तथा उक्त नियमो को पुष्ट करन वाले कतिपय शब्दो का चयन भी उसम कर लिया और एक एसी भाषा की कल्पना की जिसमे वैदिक सस्कृत अवेस्ता ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओ का उद्गम हुआ होगा ऐसा माना जाने लगा। किन्तु इसम सबसे बडी त्रुटि जो मैं समझता हू यह यह रह गई कि उपरिकथित विद्वानो का जितना सशक्त अधिकार योरप की मुख्य मुख्य भाषाओ पर था उतना भारत की सभी भाषाओ पर तो क्या स्वय वैदिक सस्कृत पर भी नही रहा होगा। दूसरे वैदिक सस्कृत की ध्वनिया के सही उच्चारण के लिए ग्रथ उपलब्ध होते हुए भी सस्कृत के उन प्रकाण्ड विद्वानो का सहयोग परम आवश्यक था जो गो मासभक्षी अंग्रेजो को हेय दृष्टि से देखते थे तथा अंग्रेज जिन्हें पाजा पयी बकवाड फुलिश कहकर जिनका उपहास करते थे। ऐसी स्थिति म योरप क विद्वानो न वैदिक सस्कृत का अध्ययन या तो उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर किया था या एम गुरुजनो की सेवा म समपण किया जो स्वय सस्कृत क मध्यम श्रेणी क विद्वान् थ और उच्च श्रेणी के विद्वानो के बीच बठने के उपयुक्त न होने क कारण उनक प्रति प्रतिकार की भावना से भरकर अंग्रेजो को सस्कृत पढान लगे। सर विलियम जोन्स के जीवन की घटना ही इसका उदाहरण है। बिना योग्य गुरु क उपलब्ध ग्रंथों क आधार पर किया गया अध्ययन वसा ही पल्लवग्राही ज्ञान है जसा आजकल क प्राइवट रूप स परीक्षा म सम्मिलित होने वाले विद्यार्थियो का। दूसरी ओर भारतीय भाषा वज्ञानिकों का अध्ययन मुख्य रूप स अंग्रेजी भाषा तक ही सीमित है और उनक द्वारा लिखी गई अधिकतर पुस्तकें अंग्रेजी भाषा म लिखी गई पुस्तकों का अनुवाद अथवा रूपान्तर मात्र हैं। इन स्थितियों

हिन्दी मे लिखित पुस्तको तथा कतिपय आग्ल भाषा मे लिखी गई इस विषय की पुस्तको को पढने का अवसर मिला, तब कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि हिन्दी ग्रथो मे प्राय उन्ही उदाहरणो से काम चला लिया गया है जिनका प्रयोग प्राय अग्रेजी ग्रथो मे पाया जाता है। स्वय यह अनुसधान करने का प्रयत्न नही किया गया है कि क्या इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी भारतीय भाषाओ म उपलब्ध हैं और यदि उपलब्ध हैं तो कितनी मात्रा मे ? क्या इन नियमो के अपवाद हैं ? यदि हैं तो उनकी मात्रा कितनी है ? तीसरे जिस प्रकार विकास को दृष्टि मे रखकर योरपीय परिवार की मूल भाषा की कल्पना की गई है, क्या वह वदिक सस्कृत या लौकिक सस्कृत के अनुरूप है ? भारत मे भाषाओ के विकास मे मुख्य रूप से कौन-कौन से नियम सक्रिय रहे हैं—आदि समस्त तत्वो को दृष्टि मे रखकर ही हमे ग्रिम नियम ग्रासमान वनर तथा तालव्य भाव के नियम को स्वीकृति प्रदान करनी चाहिए, अन्यथा नही। भारतीय विद्वानो ने सम्भवत ऐसा कष्ट नही उठाया। यदि उठाया होता तो निश्चय ही इन नियमो की विवेचना किसी ग्रथ मे उपलब्ध होती जो कि नही मिल सकी।

मैं भाषा विज्ञान के इस अन्तिम नियम पर कुछ अपने विचार प्रकट कर मूल विषय पर आने का प्रयत्न करूगा। आजकल योरपीय परिवार के लिए सबस प्रभावशाली नियम तालव्य भाव का नियम माना जाता है जिसके अनुसार—भारत योरपीय मूलभाषा के कण्ठ स्थानीय स्पश (मूल कण्ठ स्थानीय तथा साधारण) जिनके आगे कोई तालव्य स्वर (इ, ई आदि) आने पर भारत ईरानी भाषा वग म तालव्य यञ्जन के रूप म परिवर्तित हो गये और जहाँ ऐसा नही था वहाँ साधारण कण्ठ स्थानीय स्पश ही रहे।

उक्त नियम की विवचना म यह कहा गया है कि ग्रीक लैटिन आदि भाषाओ के साथ उन स्थलो की तुलना करन से प्रतीत हुआ कि जहाँ-जहाँ उक्त स्थलो म सस्कृत म तालव्य यञ्जन पाया जाता है वहा वहाँ ग्रीक और लैटिन भाषाओ म इ ई आदि कोई तालव्य स्वर (मूल या साधारण) कण्ठय स्पश क आगे पाया जाता है। इससे यही समझा गया कि भारत योरपीय मूलभाषा के तालव्य स्वर से पूव मे आने वाले कण्ठ स्थानीय स्पश क स्थान म तालव्य व्यञ्जन हो जाता है। परन्तु सस्कृत शब्दो म ऐस स्थलो मे तालव्य यञ्जन के आगे जहाँ तालव्य स्वर इ ई होना चाहिए वहाँ अ ही दखा जाता है। इसस यह अनुमान किया गया कि सस्कृत म उन शब्दो मे कण्ठय स्पश के स्थान मे तालव्य व्यञ्जन के पाये जाने का कारण केवल मौलिक शब्दो म उस स्पश के आगे आन वाला तालव्य-स्वर ही हो सकता है। साथ ही इसका यह अथ होता है कि हमको मानना चाहिए कि मौलिक भाषा के मूल स्वरों को

जहाँ ग्रीक और लैटिन ने अपने-अपने रूप में सुरक्षित रखा वहाँ संस्कृत में उन सब को केवल 'अ' के ही रूप में रखा है।

यदि कोई भारतीय विद्वान् इस नियम की स्थापना करता तो शायद इस प्रकार करता कि वदिक संस्कृत में जहाँ तालव्य व्यञ्जन के साथ 'अ' पाया जाता है वहाँ उसका विकास ग्रीक लैटिन आदि भाषाओं में दो रूपों में विकसित हुआ। कहीं यह उच्चारण मध्य में होने के कारण आगे फिसल कर दन्त्य हो गया और पीछे फिसल कर यह कण्ठ्य स्थानीय स्पर्श। इस प्रकार 'अ', 'ए (इ ई, E) के रूप में विकसित हो गया। भारतीय परिवार की भाषाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनेक स्थानों पर अ संस्कृत ध्वनि 'ए ओ, तथा अ में विकसित हुई मिलती है। इस प्रकार मूल योरपीय भाषा की कल्पना में जो च वर्ग का अभाव है वह कल्पनाकर्ताओं के मस्तिष्क में योरपीय भाषाओं की ध्वनियाँ ही काम कर रही थी। अतः इस सिद्धान्त का नाम भी 'तालव्य भाव का नियम' रखा जा सकता है। किन्तु इसकी व्याख्या के *अनुसार मूल योरपीय भाषा में च वर्ग की कल्पना करनी पड़ेगी* तथा अ, ए, ओ को मूल स्वर मानने के स्थान पर केवल अ ध्वनि को ही मूल ध्वनि मानना पड़ेगा। शेष ध्वनियाँ अ ध्वनि की ही विकसित रूप होंगी।

उपर्युक्त नियमों को उदाहरणों से इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है—

| संस्कृत | ग्रीक | लैटिन | संस्कृत | पालि | हिन्दी |
|---|---|---|---|---|---|
| च | Te | que | वाच | वाक | वाक |
| पञ्च | Pente | quinque | रुज | रोग | रोग |
| चिद | Ti | quid | वणिज | वणिक | बनिया |

यदि मूल तालव्य भाव के नियम की हम यहाँ पर आलोचना करें तो *ज्ञात होगा कि ये मूल योरपीय भाषा के कण्ठ्य स्थानीय स्पर्श संस्कृत में तो* तालव्य स्थानीय हो जाते हैं क्योंकि E तालव्य स्वर का प्रभाव है पर ग्रीक में यह दन्त्य क्यों हो जाते हैं इसका कोई उत्तर नहीं, जब कि हमारा सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि जिह्वा का फिसलन ही ध्वनि उच्चारण का परिवर्तन है। तालव्य ध्वनियाँ कण्ठ्य ध्वनियों और दन्त्य ध्वनियों के मध्य में पड़ती हैं। अतः कुछ भाषाओं में ये पीछे को खिसक गई हैं और कुछ में आगे की ओर। यह क्रम ग्रीक में आगे की ओर है तथा लैटिन में पीछे की ओर।

*अब थोड़ा स्वरों पर और विचार कर लेना चाहिए।* मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि वदिक संस्कृत की अ ध्वनि योरपीय भाषा परिवार में

तथा इनकी तद्भव भाषाओं में 'अ' ए, ओ के रूप में मिलती है। अतः "अ ध्वनि ही मूल ध्वनि है।

| संस्कृत | ग्रीक | लटिन | अवेस्ता | पालि | मागधी |
|---|---|---|---|---|---|
| अजामि | अगो | अगो | अजामि | — | — |
| अस्ति | एस्ति | एस्त | अस्ति/अस्त | अत्थि | अत्ति |
| धर्म | — | — | — | धम्मो | धम्मे |
| दम | डोमोम | डोमुस | — | — | — |
| फल्गु | — | — | — | फेग्गु | — |
| अग्र | — | — | — | एग्ग | — |
| जन | गेनोस | गेनस | — | — | जने |
| प्रिय | — | — | — | — | पिये |

अन्त में यह कहा जा सकता है कि योरप के भाषा वैज्ञानिकों ने अनेक स्थानों पर जिन्हें मूल स्वर और मूल व्यञ्जन मानकर मूल योरपीय भाषा की कल्पना की है वे ही रूप हमें पालि और प्राकृत में संस्कृत की मूल ध्वनियों के विकसित रूप में प्राप्त होते हैं। जैसे अइ आई अऊ आऊ आदि। इसी प्रकार संस्कृत की य ध्वनि के स्थान पर समस्त योरपीय परिवार में ज या ज पाया जाता है। अतः मूल ध्वनि ज न होकर य ही माननी पड़ेगी। यथा—

| संस्कृत | ग्रीक | अवेस्ता | हिन्दी |
|---|---|---|---|
| द्यौस | ज्यूस | — | — |
| द्यौमित्र | जूपीटर | — | — |
| यज्ञ | — | यजन | जग्य |
| यम | — | जम | जम |

इस सम्पूर्ण आकलन से मेरा तात्पर्य यह है कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से योरपीय परिवार की भाषाओं में वै० संस्कृत यदि सब की जननी नहीं तो ज्येष्ठा अवश्य है और यदि मूल भाषा की कल्पना की ही जाये तो संस्कृत अन्य भाषाओं की अपेक्षा उसके समीपस्थ होगी। अतः इस दृष्टिकोण से आर्यों का मूल स्थान भारत ही सम्भव है योरप नहीं। इसके लिए एक यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि पूर्व काल में विशेषकर 'ऋग्वैदिक आर्य' भाषा की शुद्धता पर सबसे अधिक बल देते थे। भाषा की शुद्धता के प्रति इस प्रकार के मोह के उदाहरण योरपीय परिवार की अन्य भाषाओं में उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलते, जैसे कि वदिक संस्कृत में। वेदों के पद पाठ, स्वर पाठ तथा जटा पाठ, इत्यादि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। साथ ही

'शतपथ' ब्राह्मण में भाषा के अशुद्ध उच्चारण करने वालों को असुर कहा गया है और उनके भाग जाने का उल्लेख भी मिलता है। यथा—

ते असुरा आत्तवचसो हे अलवो ! हे अलव ! इति वदन्त पराबभूवु तस्मान्न ब्राह्मण म्लेच्छेत्। असुर्या हि एषा वाक। (वे असुर, हे अलव ! हे अलव ! ऐसा कहते हुए हार गए। इसलिए ब्राह्मण म्लेच्छना न करे (अशुद्ध उच्चारण न करे) ऐसी वाणी आसुरी होती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत में वे आर्य परिवार जो भाषा के शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ थे वे भारत छोड़कर ईरान की ओर चले गए और वहाँ पर उन्होंने विरोधी धर्म असुर धर्म की स्थापना की। जरथुस्त्र उसका धार्मिक नेता और वृत्रासुर उस धर्म के पालक नेता बने। इन्द्र और वृत्रासुर के युद्धों के आख्यानों से ऋग्वेद भरा पड़ा है। ईरान से भारत में आर्यों का आगमन (जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं) इसलिए युक्तिसंगत नहीं लगता कि वह युग भाषा की शुद्धता पर पूर्ण ध्यान देने वाला युग था तथा वे ही व्यक्ति सत्ताधारी हो सकते थे जो भाषा और धर्म की दृष्टि से अत्यन्त शुद्ध होते थे। इससे यह निष्कर्ष निकला, क्योंकि शक्तिशाली व्यक्ति अपने स्थान को कभी भी छोड़कर नहीं भागता, बल्कि दुर्बल और शक्तिहीन ही ऐसा करते हैं। इसलिए आर्यों का वह वर्ग जो भाषा के अशुद्ध उच्चारण के कारण बहुसंख्यक जनता का सहयोग न पाकर निर्बलता अनुभव कर रहा था भारत छोड़कर ईरान की ओर चला गया अथवा उसे सत्ताधारी वर्ग ने ईरान की ओर खदेड़ दिया, दूसरे आर्यों ने जिन शब्दों को अशुद्ध शब्दों के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है वे ही शब्द या तो यों के यों या कुछ परिवर्तन के साथ अवेस्तन भाषा तथा ग्रीक, लटिन आदि में उपलब्ध होते हैं। अतः यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि आर्यों का जो वर्ग भाषा की सुरक्षा न कर सका, भारत छोड़ अन्य स्थानों की ओर फलतः चला गया। इतना होने पर भी जब आर्य ऋषि भाषा के इस स्वाभाविक विकास को न रोक सके तो धीरे धीरे इनकी कट्टरता भी कम होती चली गई और भगवान बुद्ध ने तो अपने धर्म का उपदेश भी पालि (अशुद्ध भाषा आर्यों के शब्दों में) भाषा में देकर इस कट्टरता की जड़ हिला दी। अतः भाषा के दृष्टिकोण से भी यही सिद्ध होता है कि भारत और योरप के मूल जन चाहे साथ साथ न रहे हों पर भारत और ईरान के आर्यों में प्रेम और संघर्ष दोनों रहे हैं तथा मूल रूप में ये एक वंश से ही सम्बद्ध थे। परन्तु भाषा की शुद्धता और अशुद्धता के क्रमशः दो प्रतीक सुर और असुर इस परिवार के संघर्ष के कारण बने। उक्त विवेचन से यह तो सिद्ध हो ही गया कि ईरान ईराक आदि स्थानों में बसे आर्य भारत से गए। साथ ही ग्रीस का इतिहास पर्शिया और ग्रीस के जिन संघर्षों का लेखा जोखा प्रस्तुत करता है, कालक्रम के अनुसार वैदिक

युग के बाद के पड़ते हैं। अतः निश्चित है ग्रीस और रोम में फैले हुए आर्य भारत से नहीं बल्कि उसकी ईरानी शाखा से निकल कर फैले हैं क्योंकि ग्रीस सभ्यता का भारतीय सभ्यता की अपेक्षा अवेस्तन सभ्यता से अधिक साम्य है।

तृतीय सिद्धान्त है प्राचीनतम उपलब्ध धर्म ग्रन्थ और खुदाई इत्यादि में प्राप्त उपादान सामग्री में निहित संकेत जिनके आधार पर आर्यों के मूल निवास स्थान का अनुमान लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अध्ययन के फल स्वरूप विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय आर्य, भारत में किसी अन्य स्थान से आए जो मध्य एशिया, एशिया माईनर या योरप में कोई भूखण्ड हो सकता है। उसके लिये मुख्य रूप से तीन मान्यताएँ स्थापित की गई।

(१) ऋग्वेद में कुछ ऐसी नदियों और स्थलों के नाम आते हैं जिनका अस्तित्व वर्तमान भारत में नहीं है। हाँ! कुछ नाम ईरान में अवश्य प्राप्त होते हैं। अतः आर्य ईरान से भारत आए। इसी प्रकार अवेस्ता में अहुरमज्द ने आर्यों के निवास योग्य जिन जिन प्रदेशों का वर्णन किया है उनमें सप्तसिन्धु का पन्द्रहवाँ स्थान है। अतः यह सिद्ध होता है कि भारत में आने से पूर्व आर्य अन्य चौदह प्रदेशों का भ्रमण कर चुके थे। अतः सप्तसिन्धु उनका मूल उद्गम स्थल नहीं हो सकता।

(२) ऋग्वेद दस्युराज शम्बर एवं उसके अनुयायियों तथा इन्द्र एवं उसके प्रशंसकों के पारस्परिक संघर्ष के वर्णनों से भरा पड़ा है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यों के भारत प्रवेश करने से पूर्व यहाँ कोई अन्य जाति रहती थी जिन्हें आर्यों ने दस्यु दास एवं शूद्र के नाम से अभिहित किया। इस प्रकार भारत में शान्तिपूर्वक बसने के लिये आर्यों को इन आदि-वासियों के साथ कड़ा लोहा लेना पड़ा था। यह भी इनका कहीं बाहर से आना सिद्ध करता है।

(३) वेदों में विशेषकर ऋग्वेद में उषा के सौन्दर्य वर्णन तथा उषाकाल में करणीय कृत्यों के विस्तृत विधान से यह ज्ञात होता है कि आर्य लोग स्मृति रूप में उस प्रदेश की उषा का वर्णन करते हैं जहाँ की रात्रियाँ लम्बी होती हैं। क्योंकि सप्तसिन्धु की न तो रात्रियाँ ही लम्बी होती हैं और न ही दीर्घ उषा काल ही। अतः स्पष्ट ही आर्य कहीं बाहर से आए और साथ ही उस प्रदेश की लम्बी रात्रियों की स्मृति भी लाए।

उपर्युक्त मान्यताओं का यदि गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया जाय तो ज्ञात होगा कि ये मान्यताएं केवल अनुमान प्रसूत हैं। यह तो स्वयं सिद्ध है कि अनुमान से प्रत्यक्ष अधिक सबल होता है। जब हमारे पास ऐसे कितने ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि आर्यों का मूल निवास स्थान सप्तसिन्धु प्रदेश ही है, कोई अन्य स्थान नहीं, फिर हम यह

अनुमान करने की क्या आवश्यकता है कि आर्यों का आदि देश क्या है ? यह तो ऐसा ही हुआ कि कोई व्यक्ति अपने ही घर में उपस्थित है और वहीं पर भी यह अनुमान कोई विद्वान् लगाये कि यह अपने घर में उपस्थित है भी अथवा नहीं। यह केवल बुद्धि का विलास एवं दूर की कौड़ी लाने का प्रयास मात्र है।

अब हम उपरिकथित मान्यताओं में से प्रथम का अवलोकन करते हैं। यद्यपि ऋग्वेद में कुछ ऐसी नदियों एवं स्थानों का नामोल्लेख है जिनका अस्तित्व या तो भारत (वर्तमान) में था ही नहीं और यदि था भी तो वह विस्मृति के गर्त में लीन हो गया। यथा—कुभा रसा आदि। परन्तु विद्वानों के अनुसन्धान परक अध्ययन ने यह बताया है कि इन दोनों नदियों की स्थिति काबुल में देखी जा सकती है, जो पंजाब की ओर बहती हैं तथा यह भी सिद्ध हो गया है कि सप्तसिन्धु प्रदेश में उस समय वर्तमान पंजाब ही नहीं काबुल, पेशावर से लेकर हिमालय पर्वत की तलहटी में बसे प्रदेश तथा कश्मीर भी सम्मिलित थे। ऋग्वेद में इस प्रकार का संकेत मिलता है। यथा—'रोमशा गान्धारीणामिवाविका' यहाँ पर गान्धार की भेड़ों की भाँति रोएँ वाली उपमा देना ऋग्वैदिक आर्यों के गान्धार प्रदेश के ज्ञान का सूचक है। अतः कुछ विद्वानों का कुभा रसा आदि नदियों की स्थिति ईरान में कहीं खोजना उचित नहीं। यदि इन नामों वाली नदियाँ वहाँ पर वर्तमान भी हैं तो इसका यह अर्थ नहीं निकलता कि ऋग्वैदिक आर्य यह नाम वहाँ से लेकर आए थे। बल्कि यों कहना चाहिये कि भारत से ईरान को जाने वाला आर्यों का असुर पूजक वर्ग अपने साथ यहाँ की भाषा ले गया और स्मृति रूप में वहाँ की नदियों का नामकरण संस्कार इसी भाषा में जाने पहचाने नामों के आधार पर कर लिया। यह मान्यता भारतीय आर्यों पर इसलिए भी लागू नहीं हो सकती कि 'ऋग्वेद' ईरान आदि प्रदेशों के सम्बन्ध में सर्वथा मौन है जब कि 'अवेस्ता' सप्तसिन्धु का स्पष्ट उल्लेख करता है। यथा—'जिस पन्द्रहवें देश को मैंने उत्पन्न किया है वह हप्तहिन्दु था। (अवेस्ता वेन्दिदाद प्रथम फर्गद अनुवाद—श्री सम्पूर्णानन्द कृत आर्यों का आदि देश पृष्ठ ४६)।

जहाँ तक दूसरी मान्यता का सम्बन्ध है उसका उत्तर यही है कि आर्यों एवं दस्युओं के संघर्ष का वर्णन तो वेदों में मिलता है पर यह उल्लेख कहीं पर मिलता है कि आर्यों ने कहीं बाहर से आकर भारत में प्रवेश किया और यहाँ उन्हें इस देश के आदिवासियों से लोहा लेना पड़ा। एक ही भूभाग में दो आदिम जातियाँ भी बस सकती हैं। जब ये दोनों एक दूसरे के सम्पर्क में आएँगी तो उनमें प्रेम और संघर्ष दोनों ही सम्भव हैं। इन दोनों जातियों में प्रारम्भ में संघर्ष और बाद में कुछ प्रेम के लक्षण भी मिलते हैं। महर्षि

विश्वामित्र का शम्बर कन्या से परिणय ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। महर्षि विश्वामित्र वैदिक ऋषियो मे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं तथा शाम्बरी और विश्वामित्र से उत्पन्न ऋषिवर 'शुन शेप' भी आदर के पात्र रहे हैं। अत बिना किसी पुष्ट प्रमाण के केवल अनुमान के आधार पर हम यह कहे कि आर्यों का दस्युओ के साथ सघर्ष का उल्लेख वेदो मे मिलता है, अत आर्य बाहर से आए कोई तक सगत नही। इस विचार का अध्ययन इस प्रकार भी समीचीन होगा कि आदिकाल मे आर्य सप्तसिन्धु मे निवास करते थे और दस्युजन भी सिन्धु नदी के इधर उधर घने जगलों मे निवास करते थे जैसा कि श्री के० एम० मुन्शी के 'लोपामुद्रा' उपन्यास मे ध्वनित होता है। अत आर्यों का दस्युओ के साथ सघर्ष, विशेषकर शम्बरराज के साथ नदाग तुर्क जाति का जसा सघर्ष नहीं लगता बल्कि यह लगता है कि दोनो ही जातियाँ प्राय अपने आपको भली प्रकार उस प्रदेश मे बसाये हुई हैं। इन जातियो का सघर्ष भी प्राय भूमि या राज्य-स्थापन के लिए नही, बल्कि धार्मिक विरोध के परिणाम स्वरूप होता रहा है। इसकी पुष्टि मे ऋग्वेद मे पुष्कल प्रमाण उपलब्ध होते हैं। यथा—'अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुष । त्व तस्या मित्र हन्वधर्दासस्य दम्भय ।[4] कुछ स्थल तो ऐसे आते हैं जिनसे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों के अतिरिक्त सप्तसिन्धु मे बसने वाली जाति ही दस्यु नाम से अभिहित नही होती थी बल्कि वे आर्य भी जो यज्ञादि कार्यों के प्रति उदासीन से थे दस्यु कहलाते थे। यथा—'अयमेमि वचाकशद्वि चिन्वन्दासमार्यम तथा न यो रर आर्यंनामदस्यव । इसीलिए म्योर और राथ ने लिखा है— दस्यु शब्द का प्रयोग स्यात ही अनार्यों के लिये प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है'। इस विचार को शत प्रतिशत तो सत्य नही माना जा सकता है किन्तु सशोधित रूप मे यह कहा जा सकता है कि 'दस्यु वर्ग मे आर्येतर जातियाँ ही नही आती, बल्कि वे आर्यजन भी आते हैं जो आर्य धर्म के प्रति उदासीन थे।

तृतीय सिद्धान्त का तृतीय मत अपना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी स्थापना महात्मा तिलक ने की थी। आपके अनुसार आर्य उत्तरी ध्रुव के पास निवास करते थे जहाँ छ महीने की रातें होती थी। क्योकि उषा का वर्णन तथा उषाकालीन करणीय कृत्यो का वर्णन यह सिद्ध करता है कि भारत के अल्प सामयिक उषाकाल मे उन समस्त कृत्यो की यथाविधि सम्पन्नता नितान्त मुश्किल है। अत निश्चय ही आर्य प्रारम्भ मे किसी ऐसे स्थान पर रहते थे जहाँ का उषाकाल दीर्घ सामयिक हो। वह स्थान उत्तरी

[4] ऋग्वेद, १०/२२ ८।

ध्रुव के अतिरिक्त कोई अन्य स्थान नहीं हो सकता। इस मान्यता के विरोध में श्री अविनाशचन्द्र दास तथा डॉ सम्पूर्णानन्द ने बहुत कुछ लिखा है। उन सबकी पुनरावृत्ति यहाँ पर अपेक्षित नहीं है। मेरा इस मत के विरुद्ध केवल मात्र यह तर्क है कि आर्य लोग जब छ महीने की रात्रि वाले प्रदेश को छोड़कर १२ घटे की रात्रि वाले प्रदेश में आये होंगे तब निश्चित ही उनके शरीर और मन पर गंभीर असामान्य एवं लघु रात्रि निद्रा का दुष्प्रभाव पड़ा होगा और उन्हें अत्यधिक आश्चर्य हुआ होगा कि सूर्य इतना शीघ्र किस प्रकार उदित हो रहा है। किन्तु आर्यों के किसी भी प्रकार के दुःख एवं आश्चर्य की स्पष्ट एवं अस्पष्ट अभिव्यंजना ऋग्वेद में तथा तत्कालीन किसी अन्य उपलब्ध ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होती। यदि आज हम १२ घटे की रात्रि वाले प्रदेश के निवासी आर्यों की अनुमानित रात्रि की तुलना में ४ मिनट की रात्रि वाले प्रदेश में पहुँच जाएँ (यदि कहीं है तो) तो हमारी अधिकांश जनसंख्या पूर्णनिद्रा प्राप्ति के अभाव में—जिसके हम आदी हो चुके हैं—मर जायेगी। अब जनसंख्या की शिथिल एवं रुग्णप्राय हो जाने की सम्भावना की जा सकती है। यद्यपि यह निश्चित है कि लम्बी रात्रि वाले प्रदेश के निवासी भी अति दीर्घ समय तक शयन नहीं करते होंगे। यह भी सम्भव है कि रात्रि में भी उनके कार्य यथा व्यवस्था चलते हों परन्तु यह तो एक अकाट्य तथ्य है कि उनकी जीवनचर्या २४ घटे की रात्रि और दिवस वाले प्रदेश की अपेक्षा सर्वथा भिन्न रही होगी। फिर भी आर्यों के तत्कालीन साहित्य में इस परिवर्तित जीवन चर्या का किसी भी प्रकार का कोई सकेत क्यों नहीं प्राप्त होता? रुग्ण एवं शिथिल होने की अपेक्षा आर्यों का भारत प्रवेश करते ही (जैसा उक्त मतानुयायी मानते हैं) दस्युओं एवं शूद्रों से संघर्ष उनकी शारीरिक पुष्टता एवं सुस्वस्थता की सूचना देता है। अतः इस प्रकार तो आरोग्यशास्त्र के सिद्धान्त भी फेल हो जाते हैं जो निद्रा एवं आराम आदि पर अपना निर्णय देते हैं। दूसरे यह भी मान्य नहीं है कि आर्यों की स्मृति में ही कोई त्रुटि थी कि वे प्राचीन वार्ताओं को तो स्मरण रखने में समर्थ और सद्य घटित घटनाओं को भूल जाते थे या उनका वर्णन करना आवश्यक नहीं समझते थे। जहाँ वे उषाकाल के विस्तृत रूप एवं दीर्घकालीन स्थिति का निरूपण उत्तरी ध्रुव प्रदेश की स्मृति में करते हैं तो इसी के समानान्तर छोटे दिनों एवं रात्रियों के प्रति आश्चर्य प्रकट करने में मौन क्यों हैं? अतः स्व० तिलक जी के द्वारा इस सन्दर्भ में उद्धृत ऋचाओं का एवं प्रसगों का निश्चय ही कोई भिन्न अर्थ होना चाहिए जो सप्तसिन्धु प्रदेश के अनुरूप हो अन्यथा विधेयात्मक युक्ति के अभाव में इसकी सिद्धि अपूर्ण एवं असफल सी ही रहेगी। यदि हम यह मान कि 'तिलक जी द्वारा उद्धृत ऋचाओं की रचना तो उत्तरी ध्रुव प्रदेश में

हो चुकी थी और आर्यों के भारत मे प्रवेश करने म अनेक वर्ष लगे और रात्रियो के छोटे होने का क्रम एकदम नही धीरे धीरे आर्यों को अनुभव हुआ। अत वे आश्चर्यचकित नही हुए तो दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उत्तरी ध्रुव से लेकर भारत तक आने के बीच म आर्यों ने जो अनुभव प्राप्त किए तथा जो अन्य घटनाएँ इस बीच म घटित हुईं उनका किंचित मात्र भी विवरण वेदो म क्या नही मिलता है ? क्या व उत्तरी ध्रुव की लम्बी रात्रियो के पश्चात एकदम सप्तसिन्धु प्रदेश का ही गुणानुवाद करने लगते हैं ? स्पष्ट ही इनका कोई उत्तर अब तक उपलब्ध नही हुआ है। अत जब तक ऋग्वेद या अन्य कोई समकालीन ग्रन्थ इस प्रकार के तर्कों का उत्तर नही दे देता तब तक आर्यों का मूलस्थान उत्तरी ध्रुव का प्रदेश नही माना जा सकता।

तृतीय सिद्धान्त का उत्तरार्द्ध है— खुदाई इत्यादि मे प्राप्त उपादान सामग्री जिसमे सबसे प्राचीन बोगाजकूई की खुदाई मे प्राप्त व लेख हैं जो मिट्टी की पट्टिकाओ पर कीलाक्षरो म लिखे हुए हैं। इनमे से एक लेख म हत्तीराज सुपिलल्युमम तथा मितन्नीराज मतिराज की पुत्र कन्या के विवाह का उल्लेख है। यह एक प्रकार का सधि पत्र है। इसमे अनेक विशिष्ट वदिक देवताओ के नामो का उल्लेख मिलता है जसे—मुरियश मरुतश ईदर मित्तर उरुवन अरुन आदि। उक्त लख से यह तो सिद्ध होता ही है कि ई० पूव १४००–१३०० वर्ष पूर्व आर्यों एव आय भाषा की उपस्थिति वहाँ पर थी परन्तु समस्या यह है कि वे भारत से गए अथवा वहाँ स भारत आए। जहा तक हित्ती प्रदेश से आर्यों के भारत आगमन का प्रश्न है वहा दो प्रश्न हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं—प्रथम यदि भारतीय आय हित्ती प्रदेश से भारत आए और उक्त सधिपत्र के पश्चात आए तो निश्चय ही वे इस कीलाक्षर लिपि का प्रभाव अपने साथ लकर आए होगे तब फिर भारत मे प्राप्त ब्राह्मी लिपि का उक्त लिपि के साथ सम्बन्ध क्या नही है ? जसा कि बहुत से पाश्चात्य मनीषी मानते है कि भारत म लिपि का विकास ईसा से ५०० वर्ष पूर्व ही हुआ है तब बोगाजकुई म प्राप्त कीलाक्षर लिपि का क्या महत्त्व रह जाता है जबकि वहाँ क निवासियो का एक समुदाय उससे अनभिज्ञ नही है। या यो कहिए कि उसी शाखा से बिछुडकर या उसके आस पास के किसी स्थान स जहाँ पर लिपि का विकास बहुत पहले हो चुका था—(जैसा कि य लोग मानते हैं) आने वाले भारतीय आय सप्तसिन्धु प्रदेश म प्रवेश करते ही कुछ ऐसे विकृत मस्तिष्क हो गए कि लिपि का प्रयोग करना भी भूल गए और लगभग ७००–८०० वर्षों के पश्चात् यह विकृति दूर हुई जबकि मनोविज्ञान के वश परम्परागत सस्कार के सिद्धान्त के अधीन भारतीय आर्यों की सन्तानो के मस्तिष्क म वह लिपि कुछ भिन्न स्वरूप म अवतरित हो गई। अजब विचार

विडम्बना है ! यदि बोगाजकुई के शिलालेख आर्य राजाओं की विजय रचना की प्रवृत्ति के सूचक हैं तो फिर उसी शाखा के राजा लोग भारत में आकर इस प्रकार के सन्धि पत्र लिखने के प्रति क्यों विरक्त हो गए ? इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी उठाया जा सकता है कि जिन राजाओं ने इस प्रकार की सन्धियों का अंकन मिट्टी की ईंटों पर किया तो इस प्रकार की घटनाओं का अंकन आर्यों ने अपने साहित्य में क्यों नहीं किया ? अतः स्पष्ट है कि भारत में हित्तियों की उपरि कथित शाखा से निकलकर अथवा इस दिशा एवं उसके आसपास के किसी अन्य स्थान से भारतीय आर्य नहीं आए।

दूसरे वैदिक देवताओं के नाम जो वहाँ पर प्राप्त हुए हैं और जिन शब्द रूपों में हिन्दी विद्वानों ने उन्हें अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है वे रूप वैदिक भाषागत शब्द रूपों से पूर्व के न होकर परवर्ती के ज्ञात होते हैं। यथा—वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत के संयुक्त व्यंजनों में से कभी अग्र को और कभी पश्च को द्वित्व कर उनमें स्वरागम लाकर उच्चारण करने की प्रवृत्ति उत्तरकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में बहुत अधिक मात्रा में पाई जाती है। यथा—

| संस्कृत | हित्ती | पालि | पंजाबी |
| --- | --- | --- | --- |
| मित्र | मित्तर | — | मित्तर |
| पुत्र | (इसी आधार पर) | — | पुत्तर |
| पितृ | — | — | पित्तर |
| चक्र | — | चक्क | चक्कर |
| लग्न | — | लग्ग | लग्ग |
| क्रय विक्रय | — | कय विक्कय | — |
| परिचय | — | परिचचय | — |

उक्त उदाहरण मैंने बोगाजकुई के लेख में प्राप्त मित्तर शब्द के अनुरूप खोज हैं जो उत्तरकालीन भाषाओं में प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार वहाँ से प्राप्त दूसरा शब्द है— ईन्दर। इस शब्द में स्वर भक्ति के साथ साथ पूर्व स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। जहाँ तक स्वर भक्ति का सम्बन्ध है भारतीय भाषाओं के विकास में भली प्रकार देखा जा सकता है। हाँ ! सम्भव है आरम्भ के स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति वहाँ पर न मिले। यह आवश्यक भी नहीं है कि प्रभाव एवं विकास सर्वथा समान ही हो। किन्तु मूल रूप में ये शब्दरूप वैदिक शब्द रूपों से पूर्व के नहीं पश्च के दृष्टिगत होते हैं। बोगाजकुई के अरुन शब्द को लीजिए जो संस्कृत के अरुण शब्द का वाची है। यहाँ पर ण के स्थान पर न का प्रयोग मिलता है। पालि से लेकर वर्तमान पंजाबी तक यह प्रवृत्ति

दृष्टिगत होती है यथा—संस्कृत—गुण पंजाबी—गुन, इसी प्रकार संस्कृत—अरुण हत्ती—अरुन पंजाबी—अरुन आदि। 'शुरियश' शब्द में भी भारतीय 'श' ध्वनि अपना प्रभुत्व जमाए हुए है। श ऊष्म ध्वनि भारतीय आर्य भाषा की अपनी विशेषता है। आर्य परिवार की अन्य भाषाओं में श के स्थान पर या तो 'स' मिलता है अथवा 'क' मिलता है। यथा—

| संस्कृत | अवेस्ता | ग्रीक | लटिन |
|---|---|---|---|
| शतम् | सतम् | कन्ट | केन्टुम् |

अतः यह कैसे माना जा सकता है कि भारतीय आर्य एशिया माईनर से आए और आते ही 'शुरियश' के स्थान पर 'सूर्य' 'ईन्दर' के स्थान पर इन्द्र तथा मित्तर के स्थान पर मित्र का प्रयोग करने लगे। यदि भारतीय आर्यों की शाखा बहुत बड़ी शब्द सुधारक बन भी गई होगी तो भी यत्र-तत्र उनके साहित्य में इन शब्द रूपों के भी कतिपय प्रयोग उपलब्ध होने चाहिए। लेकिन नहीं होते। मुख सुख की दृष्टि से इन्दर मित्तर आदि शब्दों का उच्चारण सहज और सरल है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इन शब्दों के उत्तरकालीन भाषाओं में पाया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उक्त लेख का भाषा वैज्ञानिक विवेचन यही सिद्ध करता है कि भारतीय आर्यों की ही कोई शाखा भारत से एशिया माईनर की ओर गई न कि एशिया माईनर से भारत आई और यह वह समय हो सकता है जब भाषा विकास की ओर अग्रसर थी।

अन्त में प्रजातिवाद भाषावाद एवं प्राचीन ग्रन्थों तथा खुदाई इत्यादि में प्राप्त उपादान सामग्री के आलोडन से ज्ञात होता है कि सप्तसिन्धु प्रदेश के अतिरिक्त किसी अन्य स्थल की सिद्धि भारतीय आर्यों के मूल उदगम के लिए नहीं होती। अब तक की प्राप्त सामग्री में सप्तसिन्धु के पक्ष में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और अन्य स्थलों के पक्ष में अनुमान प्रसूत। अनुमान से प्रत्यक्ष सर्वदा सबल होता है। अतः जब तक किसी अन्य प्रदेश के लिए प्रत्यक्ष कारण एवं सबल सामग्री सप्तसिन्धु प्रदेश की तुलना में प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक हम यह मानने में किंचित् भी संकोच नहीं करना चाहिए कि आर्यों का या यों कहिए आर्य सभ्यता एवं संस्कृति के मूल उत्स का प्रस्रवण सप्तसिन्धु प्रदेश की ही पावन भूमि से हुआ जहाँ इन्द्र ने अवरोधक वृत्रासुर को मार कर इसका मार्ग प्रशस्त किया। इस सन्दर्भ में यदि मैं डा० बी० के० घोष के शब्दों को पुनः उद्धृत कर दूं तो अधिक उत्तम होगा

'In spite of all the evidence to the contrary India was the origin home of the Aryans for there is no definite proof of the existence of an Aryan Race or language outside India previous to the age of the Mohon Jo daro culture

**संस्कृति से तात्पर्य**—जिस प्रकार व्यक्ति की पहचान उसकी बाह्य आकृति एवं आंतरिक गुणों से की जाती है, उसी प्रकार किसी जाति की पहचान उसकी सभ्यता एवं संस्कृति से की जाती है। संस्कृति अनुभव जन्य ज्ञान के और सभ्यता बुद्धि-जन्य ज्ञान के आधार पर निर्भर होती है। संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होती है जिसका अर्थ संस्कार किया हुआ, निखरा हुआ या निखारा हुआ होता है। स्वामी श्रद्धानन्द जी सरस्वती ने संस्कृति का अर्थ 'भूषणभूत सम्यक् कृति इति संस्कृति' किया है। भूषणभूत सम्यक् कृति का विश्लेषण करते हुए स्वामी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि मनुष्य के लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार ही संस्कृति है।[5] बात वास्तव में यह है कि बाह्य अथवा भौतिक उन्नति के वे अवशेष जो हमारे जीवन एवं चिन्तन की स्थायी निधि बनते जाते हैं वे ही समष्टि रूप में संस्कृति के द्योतक होते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय का अत्यन्त विशद विवेचन किया है। संस्कृति के लिए उनके यहां कल्चर (culture) शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रसिद्ध मानव शास्त्री हीबल संस्कृति शब्द की व्याख्या लगभग भारतीय दृष्टिकोण के अनुकूल ही करते है। आपके अनुसार संस्कृति समाज के समाकलित विद्य व्यवहारों की समष्टि है जो, समाज के प्रत्येक व्यक्ति का लक्षण होता है तथा वह जीव शास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता

Culture is the sum total of integrated learned behavior patterns which are characteristic of the members of a society and which are therefore not the result of Biological inheritance[6]

## प्राचीन भारत का सांस्कृतिक समन्वय

यद्यपि इतने विवेचन के पश्चात् भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आर्यजनों की सही निवास भूमि कहाँ पर थी तो भी इतना तो पूर्णत निश्चित है कि ऋग्वेद एवं शेष वदिक साहित्य भारत भूमि की अपनी निराली निधि है। इस साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आर्यों का सम्पर्क कुछ अन्य संस्कृतियों के साथ भी हुआ है। उन संस्कृतियों से इन्होंने कुछ ग्रहण भी किया और बहुत कुछ दिया भी।

ऋग्वेद में ऐसे शत्रुओं का वर्णन आता है जो कृष्ण अर्थात काले रंग के थे। 'अनासा' चिपटी नाक वाले थे। शिश्नदेवा लिङ्ग पूजक थे। अयज्वन् यज्ञ न करने वाले थे। दास दस्यु डाकू थे। शम्बर दस्यु का उल्लेख अनेक

---

[5] कल्याण हिन्दू-संस्कृति विशेषांक पृष्ठ १६४।

[6] Man in the primitive world—*Heebel* page 7

बार हुआ है जिसके दुर्गों का ध्वस इन्द्र ने अनेक बार किया है। इस प्रकार के अनक उल्लेखो एव वतमान समय मे प्राप्त अनेक आदिवासी कबीलो के आधार पर विद्वानो ने कुछ निष्कष निकाले हैं, यथा—प्राचीन भारत मे हब्शी प्रजाति वतमान थी जो अफीका से घूमती घामती भारत म आई। डा चाटुर्ज्या के अनुसार ये सवप्रथम मानव हो सकते हैं जिन्होने भारत भूमि पर चरण रखे। आजकल इनके अवशेष अण्डमान निकोबार प्राय द्वीपो म उपलब्ध होते हैं जहाँ ये अपनी अविकसित भाषा का ही प्रयोग करते हैं।[7] आय भाषा पर इनका प्रभाव नाम मात्र को ही मिलता है क्योकि यह प्रजाति अधिकतर दक्षिण मे रही। दूसरे, बाद मे आने वाली प्रजातियो ने इनको अपने म पूणत आत्मसात कर लिया। भारत क निम्न वर्णों के लोगों म इनका यह मिश्रित रूप भली प्रकार चिह्नित किया जा सकता है।

द्वितीय अनाय जाति आस्ट्रिक परिवार की थी जिनके साथ आर्यों का सान्निध्य हुआ। यही प्रजाति आगे चलकर सस्कृत साहित्य मे निषाद जाति के नाम से प्रसिद्ध हुई। विद्वानो का मत है कि निषाद सस्कृति ने आय सस्कृति को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया। इनके अवशेष भारत म कोल और मुण्डा जातियाँ हैं।

तृतीय प्रजाति जिनका आय सस्कृति के अध्ययन मे महत्त्वपूण स्थान है वह द्रविड प्रजाति थी, वेदो मे जिन्हे दास, दस्यु या शूद्र के नाम से अभिहित किया गया है। विद्वानो का मत है कि मोहन जो दडो और हडप्पा मे जिस सस्कृति के अवशेष उपलब्ध हुए हैं उसकी सस्थापक यही प्रजाति थी। कुछ विद्वान् इस मत को तब तक स्वीकार करने को तैयार नही हैं जब तक उसमे प्राप्त सामग्री एव सिक्को पर प्राप्त लेखो का पूण विश्लेषण एव अध्ययन सम्पन्न नही हो जाता। दक्षिण भारत मे बोली जाने वाली तमिल तेलगु आदि भाषाएँ उसी कबीले की भाषा या बोलियों के विकसित रूप हैं। चाहे जो कुछ हो, पर इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि आर्यों के सम्पक मे आने वाली प्रजातियो में से इस प्रजाति की सस्कृति अत्यधिक समद्ध एव सुदृढ थी और इन्हे जीतने के लिए आर्यों को सवस अधिक कठिनाई का सामुख्य करना पडा था।

चतुथ प्रजाति जिसका आय सस्कृति के निर्माण म कम योगदान नही रहा वह है मगोल प्रजाति, जो बाद म किरात जाति कहलाई। पौराणिक साहित्य मे अनेक स्थानो पर इन्हे अध-देव या अलौकिक जनों के रूप मे वर्णित किया गया है। डॉ चाटुर्ज्या के अनुसार वैदिक काल मे ही य किरात के नाम से

[7] भारतीय आय भाषा और हिन्दी पृष्ठ ४६ ४७।

संस्कृति से तात्पर्य—जिस प्रकार व्यक्ति की पहचान उसकी बाह्य आकृति एवं आंतरिक गुणों से की जाती है, उसी प्रकार किसी जाति की पहचान उसकी सभ्यता एवं संस्कृति से की जाती है। संस्कृति अनुभव जन्य ज्ञान के और सभ्यता बुद्धि-जन्य ज्ञान के आधार पर निर्भर होती है। संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होती है जिसका अर्थ संस्कार किया हुआ निखरा हुआ या निखारा हुआ होता है। स्वामी करपात्र जी सरस्वती ने संस्कृति का अर्थ भूषणभूत सम्यक् कृति इति संस्कृति किया है। भूषणभूत सम्यक् कृति का विश्लेषण करते हुए स्वामी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनुष्य के लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार ही संस्कृति है।'[5] बात वास्तव में यह है कि बाह्य अथवा भौतिक उन्नति के वे अवशेष जो हमारे जीवन एवं चिन्तन की स्थायी निधि बनते जाते हैं वे ही समष्टि रूप में संस्कृति के द्योतक होते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय का अत्यन्त विशद विवेचन किया है। संस्कृति के लिए उनके यहाँ कल्चर (culture) शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रसिद्ध मानव शास्त्री हीबल संस्कृति शब्द की व्याख्या लगभग भारतीय दृष्टिकोण के अनुकूल ही करते हैं। आपके अनुसार संस्कृति समाज के समाकलित विप व्यवहारों की समष्टि है जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति का लक्षण होता है तथा वह जीव शास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं होता

Culture is the sum total of integrated learned behavior patterns which are characteristic of the members of a society and which are therefore not the result of Biological inheritance [6]

## प्राचीन भारत का सांस्कृतिक समन्वय

यद्यपि इतने विवेचन के पश्चात् भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आर्यजनों की सही निवास भूमि कहाँ पर थी तो भी इतना तो पूर्णतः निश्चित है कि ऋग्वेद एवं शेष वैदिक साहित्य भारत भूमि की अपनी निराली निधि है। इस साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आर्यों का सम्पर्क कुछ अन्य संस्कृतियों के साथ भी हुआ है। उन संस्कृतियों से इन्होंने कुछ ग्रहण भी किया और बहुत कुछ दिया भी।

ऋग्वेद में ऐसे शत्रुओं का वर्णन आता है जो कृष्ण अर्थात् काले रंग के थे। अनासा चिपटी नाक वाले थे। शिश्नदेवा लिङ्ग पूजक थे। अयज्वन् यज्ञ न करने वाले थे। दास दस्यु डाकू थे। शम्बर दस्यु का उल्लेख अनेक

---

[5] कल्याण हिन्दू संस्कृति विशेषांक पृष्ठ १६४।

[6] Man in the primitive world—*Heebel* page 7

बार हुआ है जिसके दुर्गों का ध्वस इन्द्र ने अनेक बार किया है। इस प्रकार के अनेक उल्लेखो एव वर्तमान समय म प्राप्त अनेक आदिवासी कबीलो के आधार पर विद्वानो ने कुछ निष्कर्ष निकाले हैं यथा—प्राचीन भारत में 'हब्शी' प्रजाति वर्तमान थी जो अफ्रीका से घूमती घामती भारत मे आई। डॉ चाटुर्ज्या के अनुसार ये सर्वप्रथम मानव हो सकते हैं जिन्होने भारत भूमि पर चरण रखे। आजकल इनके अवशेष अण्डमान निकोबार द्वीपो म उपलब्ध होते हैं जहाँ ये अपनी अविकसित भाषा का ही प्रयोग करते हैं।[7] आर्य भाषा पर इनका प्रभाव नाम मात्र को ही मिलता है क्योंकि यह प्रजाति अधिकतर दक्षिण मे रही। दूसरे, बाद म आने वाली प्रजातियो ने इनको अपने म पूर्णत आत्मसात कर लिया। भारत के निम्न वर्णों के लोगो मे इनका यह मिश्रित रूप भली प्रकार चिह्नित किया जा सकता है।

द्वितीय, अनार्य जाति आस्ट्रिक परिवार की थी जिनके साथ आर्यों का सान्निध्य हुआ। यही प्रजाति आगे चलकर सस्कृत साहित्य मे निषाद जाति के नाम से प्रसिद्ध हुई। विद्वानो का मत है कि निषाद सस्कृति ने आर्य सस्कृति को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया। इनके अवशेष भारत में कोल और मुण्डा जातियो हैं।

तृतीय प्रजाति जिनका आर्य सस्कृति के अध्ययन मे महत्त्वपूर्ण स्थान है वह द्रविड प्रजाति थी, वेदों मे जिन्हे दास, दस्यु या शूद्र के नाम से अभिहित किया गया है। विद्वानो का मत है कि मोहन जो दडो और हडप्पा मे जिस सस्कृति के अवशेष उपलब्ध हुए हैं उसकी सस्थापक यही प्रजाति थी। कुछ विद्वान् इस मत को तब तक स्वीकार करने को तैयार नही हैं जब तक उसमे प्राप्त सामग्री एव सिक्को पर प्राप्त लेखो का पूर्ण विश्लेषण एव अध्ययन सम्पन्न नही हो जाता। दक्षिण भारत में बोली जाने वाली तमिल तेलुगु आदि भाषाएँ इसी कबीले की भाषा या बोलियो के विकसित रूप हैं। चाहे जो कुछ हो पर इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि आर्यों के सम्पर्क मे आने वाली प्रजातियो म से इस प्रजाति की सस्कृति अत्यधिक समृद्ध एव सुदृढ थी और इन्हे जीतने के लिए आर्यों को सबसे अधिक कठिनाई का सामना करना पडा था।

चतुर्थ प्रजाति जिसका आर्य सस्कृति के निर्माण म कम योगदान नहीं रहा वह है मगोल प्रजाति जो बाद मे किरात जाति कहलाई। पौराणिक साहित्य में अनेक स्थानो पर इन्हें अर्ध-देव या अलौकिक जनो के रूप मे वर्णित किया गया है। डॉ चाटुर्ज्या के अनुसार वैदिक काल म ही ये किरात के नाम से

---

7 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ४६ ४७।

जाने लगे थे।[8] इस जाति का भारत के सास्कृतिक निर्माण [अचन पूजा] मे बहुत अधिक योगदान रहा है।

सस्कृति के अन्य उपादानो को छोडकर हम यहाँ पर केवल भाषा की दष्टि से ही इनके पारस्परिक आदान प्रदान का अवलोकन करने का प्रयत्न करेंगे। पिछले तीन चार सौ वर्षों के अनथक प्रयास के फलस्वरूप विद्वान् भाषा विद एक सवसम्मत निष्कष पर पहुँचे हैं कि योरप रूस, ईरान भारत आदि म बोली जाने वाली भाषाओ का मूल उत्स कोई एक भाषा है जिससे छान्दस, ग्रीक, लैटिन, जर्मेनिक केल्टिक, अवेस्तन आदि विश्व की समद्ध भाषाएँ प्रस्फुटित हुई हैं। इनमे कौनसी भाषा प्राचीन है तथा आदि भाषा के अधिक समीप है, इस उलझन म न पडकर यह तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि उक्त भाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन इस बात के लिए हमारा माग प्रशस्त कर सकता है कि हम एक मूल भाषा का अनुमान कर सकें तथा उसकी ध्वनियो एव रूपो का निर्धारण कर सकें और यह काय पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिक सम्पन्न करने का प्रयास कर चुके हैं किन्तु उनका यह काय कहाँ तक वैज्ञानिक है, यह नही कहा जा सकता। इसके विरोध म डा राम विलास शर्मा के तक अत्यन्त विचारणीय हैं, जैसा कि उन्होने कन्टुम और शतम के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे कहा है एक समस्या और है यदि आर्यों की पश्चिमी शाखा मूल कण्ठय ध्वनिया को सुरक्षित रखे हुए शत' क स्थान पर केन्तुम् का व्यवहार करती थी, तो जमन और अग्रेजी म केण्टुम् की जगह हुण्डेट और हण्ड्रेड का व्यवहार कसे होने लगा? जमन म कसर काषिटाल, काल्ट, कार्टे केनेन केस केन कनावे, किट आदि ढेरो शब्द हैं जो क से आरम्भ होते हैं जिनके मध्य या अन्त म क हो उनका जिक्र नही। फिर जमन आर्यों न केण्टुम् के 'क' से क्यो परहेज किया?।[9] इसी प्रकार भारतीय आय परिवार की ओर भी आपन सकेत किया है कि विद्वानो के अनुसार आर्यों की पश्चिमी शाखा ने मूल कण्ठय ध्वनिया को सुरक्षित रखा है भारत और रूस की शाखा ने उन्हें ऊष्म बना दिया है। लटिन कन्तुम' सस्कृत शत' इनम लटिन न मूल ध्वनि का सुरक्षित रखा, सस्कृत आदि पूव की भाषाओ न उस श या स का रूप दे दिया। प्रश्न यह है कि किम् क, कुत कुत्र आदि क-युक्त शब्दो का विशाल भण्डार रखने वाली भाषा ने 'केन्तुम् के 'क' को ही क्या अछूत समझा?[10]

---

[8] भारतीय आय भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ६२।

[9] भाषा और समाज, पृष्ठ ३८।

[10] वही, पृष्ठ ३८।

उपर्युक्त सन्दर्भ इसका पर्याप्त प्रमाण है कि पाश्चात्य भाषाविद् इस सिद्धान्त के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाये। आवश्यकता इस बात की है कि आर्य-परिवार की सभी भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित मिलकर सम्पूर्ण शब्द कोष एवं ध्वनि सामग्री का विश्लेषण करें तथा बहुमान्य निर्णय पर पहुँचने का यत्न करें। कुछ शब्दों को चुन कर किसी एक व्यक्ति के द्वारा प्रस्थापित सिद्धान्त त्रुटिविहीन हो जाए इसकी बहुत कम सम्भावना है। भाषा पाण्डित्य के साथ साथ समाज शास्त्र, राजनीति शास्त्र तथा मनोविज्ञान का ज्ञान भी उस मण्डली के लिए परम अपेक्षित है।

उपर्युक्त मूल भाषा की कल्पना का संकेत देने के पश्चात् हम अपने विषय पर आते हैं। भारतीय आर्य परिवार जो अन्य आर्य परिवारों से भिन्न दृष्टिगत होता है उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'मूर्धन्य ध्वनियां' हैं। ये ध्वनियाँ या तो भारतीय आर्य-परिवार में प्राप्त होती हैं या जर्मनिक परिवार में। कुछ मात्रा में विद्वानों का विचार है कि लैटिन में उनका प्रवेश हो चुका था। इस पर यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो स्पष्ट हो जाएगा—पाश्चात्य रंग में रंगे विद्वानों को यह चाहे न रुचे—कि जर्मनिक शाखा भारतीय शाखा से मूर्धन्य ध्वनियों के विकास के बाद अलग हुई है जिसने आकर रोमन संस्कृत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। ग्रीक और रोमन संस्कृति तथा परशियन संस्कृति के बाद जर्मन संस्कृति का अभ्युदय इसका प्रमाण है। यह निश्चित सा है और मान लेना चाहिए कि आर्य परिवार में मूर्धन्य ध्वनियाँ विजातीय तत्त्व हैं और बहुत सम्भव है कि भारत में अनार्य संस्कृति का सम्पर्क ही इनका प्रदाता रहा हो। आस्ट्रिक प्रजाति की तथा द्रविडों की भाषाएँ मूर्धन्य ध्वनि प्रधान होने के कारण इस मान्यता को और भी बल मिल जाता है। आर्य, क्योंकि विजेता थे अतः उन्होंने अपनी भाषा की प्रकृति और प्रत्यय की सुरक्षा करते हुए विजितों द्वारा दिए गए शिथिल एवं अशुद्ध उच्चारणों को न चाहते हुए भी स्वीकार कर लिया। अनेक स्थानों पर 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रवेश भी आर्येतर भारतीय कबीलों का ही प्रभाव कहा जा सकता है। यद्यपि इस पर भी डा. रामविलास शर्मा के तर्क अकाट्य हैं तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण विजातीय प्रभाव है जिसके लिए पाणिनि को 'डलयोः रलयोः रभेदः' कहना पड़ा। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति छान्दस के प्रकृति और प्रत्ययों के अनुरूप नहीं बैठती। डॉ. चाटुर्ज्या ने ऐसे अनेक शब्दों की सूची प्रस्तुत की है।

भाषा के अतिरिक्त अनेक अन्य सांस्कृतिक उपादान भी आर्यों ने इन आर्येतर जातियों से ग्रहण किए। यथा—लिङ्ग (शिव) पूजा, नाग पूजा, मातृका पूजन शक्ति पूजन वृक्ष पूजन ग्राम के बाहर पत्थर पर सिंदूर या लाल रंग से रंगे

हुए पत्थर की पूजा, गान्धव विवाह गो पूजा, शिव पूजन, कृषि म धान की खेती अनेक शाक सब्जियो का उत्पादन तथा योगविद्या आदि।

उपर्युक्त विश्लेषण से मेरा तात्पय केवल यह बता देना है कि छान्दस युग म ही भाषा ने अनेक विजातीय तत्त्वो को ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। यह स्वाभाविक था, क्योकि आज की भारतीय भाषाएँ अरबी फारसी पुतगीज आँग्ल आदि भाषाओ के प्रभाव स अपने को वचित न कर सकी तो फिर उस समय की छान्दस उस भाषा के बोलने वालो के सम्पक म आई, अन्य भाषाओ के प्रभाव से मुक्त रह सकी होगी, कुछ जँचता नही है। ये प्रभाव कौन कौन से हो सकते हैं किस प्रकार के हैं तथा कौन सी भाषाओ के हैं यह स्वतन्त्र रूप से विचार के विषय हैं और पृथक ग्रन्थ की अपेक्षा रखते हैं। अत मैं समझता हूँ यहाँ पर इतने सकेत ही पर्याप्त हैं।

प्राचीन भारतीय आय भाषा पर विचार करने से पूव एक महत्वपूण विषय पर विचार कर लेना असगत न होगा। विद्वानो का विचार है कि छान्दस और अवेस्ता की भाषा म इतना साम्य है कि केवल कुछ ध्वनियो के परिवतन कर देने पर दोनो भाषाओ का स्वरूप समान हो जाता है। उनके निष्कष हैं कि ध्वनियो का यह अन्तर भारत ईरानी शाखा स पृथक होने पर छान्दस ने विकसित कर लिया और ऋग्वेद की भाषा अवेस्ता की भाषा का पश्चकालीन विकसित रूप है किन्तु दोनो भाषाओ की तुलना के पश्चात मन यह मान्यता स्वीकार करने को तयार नही होता। यदि छान्दस से विकसित भाषाओ—पालि प्राकृत आदि—का मिलान अवेस्ता की भाषा से करें तो इन मे पर्याप्त मात्रा मे समानता दृष्टिगत होती है। कितने ही ध्वनि परिवतनो के आधार वे ही तत्त्व हैं जो पालि या साहित्यिक प्राकृतो के भी हैं। सस्कृत/छान्दस अवेस्ता/प्रा० फारसी पालि/ प्राकृत आदि भाषाओ के कुछ चुने हुए उदाहरणो के द्वारा मैं अपने मत की पुष्टि करने का प्रयत्न करूगा

१ सस्कृत/छान्दस के अन्त्य 'अ' के स्थान पर अवेस्ता म ओ, प्राचीन फारसी मे अ, ओ पालि मे ओ तथा मागधी म ए मिलता है—

| छान्दस/सस्कृत | अवेस्ता | प्रा० फारसी | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|---|
| जात | जातो | जात | जातो | जातो/जाते |
| पुत्र | पुथ्रो | पुथ्र | पुत्तो | पुत्तो/पुत्ते |

२ छान्दस या सस्कृत के ऋ के स्थान पर अवेस्ता म ए ओ इ मिलते हैं। ठीक इसी प्रकार पालि तथा अन्य प्राकृतो म भी 'ए ओ इ मिलते हैं—

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता[11] |
|---|---|
| अजति | अजेति |
| पति | पेतिस |
| सन्तम | हॅन्ताम् |
| यम | यिम |
| वसु | वोहु |

| छान्दस/संस्कृत | पालि/प्राकृत |
|---|---|
| अत्र | एत्थ |
| अधस्तात | हेट्ठा |
| तमस | तिमस |
| त्रिपु | तिपु |
| अन्तर् | अतो |
| तिरस्क | तिरोक्ख |

३ छान्दस/संस्कृत 'ऋ' के स्थान पर अवेस्ता 'ऍर' प्रा० फारसी 'र' पालि/प्राकृत इ उ, अ तथा रि ईर मिलते हैं—

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता/प्रा० फारसी | | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|---|
| शृणोति | केरेनओइति | — | — | कीरनोति |
| वृक्षम | वरेशम | — | रुक्ख | रुक्ख |
| मृगाङ्क | — | — | मयक | मियक |

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता/प्रा० फारसी | | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|---|
| ऋषि | — | खइस | इसि | रिसि |
| ऋणम | — | — | इण | रिण |

४ छान्दस/संस्कृत के ऐ/औ का अवस्ता म 'आइ तथा आउ' होते हैं परन्तु पालि/प्राकृत मे 'अइ तथा अउ' होते हैं—

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|
| पौर | — | पउरो | पउरो |
| गौड | — | — | गउड |
| यस्मै | यह्माइ | — | — |
| चत्यम् | — | चइत्त | — |

[11] अवेस्ता/प्रा० फारसी के नियम 'हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास', पृष्ठ २४–३८ से लिए गए हैं।

हुए पत्थर की पूजा, गान्धर्व विवाह, गौ पूजा, शिव पूजन, कृषि में धान की खेती अनेक शाक सब्जियों का उत्पादन तथा योगविद्या आदि।

उपर्युक्त विश्लेषण से मेरा तात्पर्य केवल यह बता देना है कि छान्दस युग में ही भाषा ने अनेक विजातीय तत्त्वों को ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। यह स्वाभाविक था, क्योंकि आज की भारतीय भाषाएँ अरबी फारसी, पुर्तगीज, आंग्ल आदि भाषाओं के प्रभाव से अपने को वंचित न कर सकीं तो फिर उस समय की छान्दस उन भाषा के बोलने वालों के सम्पर्क में आई, अन्य भाषाओं के प्रभाव से मुक्त रह सकी होगी कुछ जँचता नहीं है। ये प्रभाव कौन कौन से हो सकते हैं किस प्रकार के हैं तथा कौन-सी भाषाओं के हैं यह स्वतन्त्र रूप से विचार के विषय हैं और पृथक ग्रन्थ की अपेक्षा रखते हैं। अतः मैं समझता हूँ यहाँ पर इतने संकेत ही पर्याप्त हैं।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा पर विचार करने से पूर्व एक महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार कर लेना असंगत न होगा। विद्वानों का विचार है कि छान्दस और अवेस्ता की भाषा में इतना साम्य है कि केवल कुछ ध्वनियों के परिवर्तन कर देने पर दोनों भाषाओं का स्वरूप समान हो जाता है। उनके निष्कर्ष हैं कि ध्वनियों का यह अन्तर भारत ईरानी शाखा से पृथक् होने पर छान्दस ने विकसित कर लिया और ऋग्वेद की भाषा अवेस्ता की भाषा का पश्चकालीन विकसित रूप है किन्तु दोनों भाषाओं की तुलना के पश्चात मन यह मान्यता स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। यदि छान्दस से विकसित भाषाओं—पालि प्राकृत आदि—का मिलान अवेस्ता की भाषा से करें तो इन में पर्याप्त मात्रा में समानता दृष्टिगत होती है। कितने ही ध्वनि परिवर्तनों के आधार वे ही तत्त्व हैं जो पालि या साहित्यिक प्राकृतों के भी हैं। संस्कृत/छान्दस अवेस्ता/ प्रा० फारसी पालि/ प्राकृत आदि भाषाओं के कुछ चुने हुए उदाहरणों के द्वारा मैं अपने मत की पुष्टि करने का प्रयत्न करूगा

१ संस्कृत/छान्दस के अन्त्य 'अ' के स्थान पर अवेस्ता में ओ, प्राचीन फारसी में अ, ओ पालि में 'ओ' तथा मागधी में 'ए' मिलता है—

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता | प्रा० फारसी | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|---|
| जात | जातो | जात | जातो | जातो/जाते |
| पुत्र | पुथ्रो | पुथ्र | पुत्तो | पुत्तो/पुत्ते |

२ छान्दस या संस्कृत के अ के स्थान पर अवेस्ता में ए ओ, इ मिलते हैं। ठीक इसी प्रकार पालि तथा अन्य प्राकृतों में भी 'ए ओ, इ मिलते हैं—

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता[11] |
|---|---|
| अजति | अजैति |
| पति | पैतिस् |
| सन्तम | हॅन्तम |
| यम | यिम |
| वसु | वोहु |

| छान्दस/संस्कृत | पालि/प्राकृत |
|---|---|
| अत्र | एत्थ |
| अधस्तात् | हेट्ठा |
| तमस | तिमस |
| त्रिपु | तिपु |
| अन्तर् | अतो |
| तिरस्क | तिरोक्ख |

३ छान्दस/संस्कृत 'ऋ' के स्थान पर अवेस्ता 'ऍर' प्रा० फ़ारसी 'र', पालि/प्राकृत इ, उ, अ तथा रि ईर मिलते हैं—

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता/प्रा० फारसी | | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|---|
| कृणोति | केरेनओइति | — | — | कोण्णोति |
| वृक्षम् | वरेशम | — | रुक्ख | रुक्ख |
| मृगाङ्क | — | — | मयक | मियक |

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता/प्रा० फारसी | | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|---|
| ऋषि | — | ख़इस | इसि | रिसि |
| ऋणम | — | — | इण | रिण |

४ छान्दस/संस्कृत के ऐ/औ का अवेस्ता में आइ तथा आउ' होते हैं परन्तु पालि/प्राकृत में अइ तथा अउ होते हैं—

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|
| पौर | — | पउरो | पउरो |
| गौड | — | — | गउड |
| कस्म | कह्माइ | — | — |
| चरयम् | — | चइत्त | — |

[11] अवेस्ता/प्रा० फारसी के नियम 'हिन्दी भाषा का उदभव और विकास', पृष्ठ २४–३८ से लिए गए हैं।

व्यञ्जन—

१ व्यञ्जनों से अनुगमित संस्कृत 'क, त, प' अवेस्ता में ख, थ, फ' हो जाते हैं। ठीक यही नियम पालि एवं प्राकृतादि (साहित्यिक) भाषाओं में लक्षित किया जा सकता है—

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता/प्रा० फारसी | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|
| क्रतु | ख्रतुस | — | — |
| स्वप्नम् | ह्वफ्नेम | — | — |
| पलितम् | — | फलितम् | फलितम् |
| पनस | — | — | फणसो |
| परिघा | — | — | फलिहा |
| परुष | — | — | फरुसो |
| स्तन | — | — | थणो |
| स्तम्भ | — | — | थम्भो |
| स्त्री | — | — | थी |
| क्षण | — | — | खणो |
| कर्परम् | — | — | खप्पर |
| स्कन्द | — | — | खन्द |

२ छान्दस/संस्कृत 'घ ध भ' अवेस्ता में ग द ब में परिवर्तित हो जाते हैं। प्राकृतों में भी इन महाप्राण ध्वनियों के महाप्राणत्व के स्थान पर अल्पप्राणत्व के दर्शन होते हैं—

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता/प्रा० फारसी | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|
| दीर्घम् | दरेगेम् | — | — |
| अध | अदा | — | — |
| भ्राता | ब्राता | — | — |
| भगिनी | — | बहिणी | बहिणी |
| घास | — | — | गस (नि० प्रा०) |
| सद्य | — | सद (नि० प्रा०) | |
| भूमि | — | — | बूम (नि० प्रा०) |

३ छान्दस/संस्कृत श के स्थान पर स और श स के स्थान पर ह' अवेस्ता/प्रा० फारसी की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं। पालि और अन्य प्राकृतों की यह सर्वप्रमुख विशेषताएँ मानी गई हैं—

| छान्दस/संस्कृत | अवेस्ता/प्रा० फारसी | पालि | प्राकृत |
|---|---|---|---|
| सप्त | हप्त | — | — |
| शरद | हरुद | — | — |
| शाक | हाख | — | — |
| सोम | होमु | — | — |
| मत | हथ | — | — |
| द्वादश | — | — | बारह |
| दश | — | — | दह |
| कार्षापण | — | — | काहावणो |
| असि | अहि | अहि | अहि |
| दशमुख | — | — | दहमुखा |
| अस्माकम | — | — | अम्हाण |
| शाप | — | — | सावो |
| शपथ | — | — | सवहो |

इनके अतिरिक्त अवेस्ता मे पाया जाने वाला 'ज' कश्मीरी म अभी तक सुरक्षित है। कश्मीरी मे संस्कृत 'श के स्थान पर छ' और मागधी मे इच उपलब्ध होते हैं। यदि भारत की सम्पूर्ण आर्य परिवार की भाषाओ का विश्लेषण कर उनका अवेस्ता के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि कुछ परिस्थिति विशेष म हुए ध्वन्यात्मक परिवतनो के अतिरिक्त अवेस्ता की भाषा म भा आ का ही अनुसरण करती है।

द्वितीय अध्याय

# प्राचीन भारतीय आर्य भाषा

विकास शाश्वत होता है—बोली से भाषा का विकास—संस्कृत मे ऐसे अ तर पर विचार—बोलियो का लुप्त हो जाना—भाषा के अध्ययन मे कठिनाइयो का साम्मुख्य—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का प्रारम्भ—ऋग्वेद प्राचीनतम कृति—आर्यों का आगमन—ऋग्वेद की भाषा का भाषा वैज्ञानिक विवेचन—ईरानी से साम्य—तालव्य भाव के नियम का प्रभाव—वैदिक संस्कृत का ध्वन्यात्मक विवेचन—रूपात्मक विवेचन—कोष पर विचार—वैदिक काल मे भाषा मे विकास के चिह्न—उस समय की भाषा एव बोलियो की स्थिति—संस्कृत भाषा का प्रादुर्भाव—संस्कृत का बहुमुखी विकास—ध्वन्यात्मक विवेचन—रूपात्मक विवेचन—उपसर्ग एव निपातो का विवेचन ।

## भाषा और बोली

विकास प्रकृति का एक चिरंतन और शाश्वत सिद्धान्त है। आज डार्विन (Darwin) के विकासवाद को चाहे उसके वर्तमान समय में महत्ता न दी जाती हो, किन्तु विश्व के गण मान्य मनीषी शास्त्रवेत्ता पण्डित, चिन्तनशील दार्शनिक एवं प्रयोगनिरत सत्यान्वेषी वैज्ञानिक आज इस तथ्य से पूर्णतः अभिज्ञ हो चुके हैं कि प्रकृति का कण-कण विकासशील है। आज से हजारों अथवा लाखों वर्ष पूर्व (विषय वस्तु के अनुरूप) जो प्राकृतिक उपादान जिस स्थान एवं स्थिति में थे, आज उस स्थान एवं स्थिति से आगे या पीछे प्रसृत निसृत या अपसृत हो चुके हैं। यह इतर बात है कि धर्माधिकारी उनमें से किसी को ह्रास और किसी को विकास की संज्ञा से अभिहित करें परन्तु वैज्ञानिक *विस्तृत अर्थ में उन्हें विकास की श्रेणी में ही अधिष्ठित करेंगे।* दार्शनिक परिभाषा में प्रकृति जड और चेतन के समस्त कार्य-कलापों गति विधियों, उत्थान पतनों एवं गुण अवगुणों को अपने में समाविष्ट किए हुए है। मानव, प्रकृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मानव की क्रियाओं का नाम है जीवन। भाषा इसी जीवन के भली प्रकार यापन का महत्त्वपूर्ण साधन है। इस प्रकार मानव जीवन और भाषा का परस्पर गहन सम्बन्ध है।

सांख्य-दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार कार्य न्यूनाधिक रूप में कारण के गुण और धर्म से समवेत होता है।[1] अतः हम कह सकते हैं कि प्रकृति के विकासशील गुण की उपलब्धि भाषा में भी होनी चाहिए। यदि हम भाषा का विश्लेषण करने बैठें तो ज्ञात होगा कि भाषा के दो स्वरूप प्रायः प्रत्येक युग में वर्तमान रहते हैं। एक, उसका शुद्ध प्राकृतिक स्वरूप जिसे बोली, देशभाषा अथवा जनसाधारण के दैनिक जीवन में काम आने वाले वस्तु व्यापारों एवं भाव व्यापारों के लिए प्रयुक्त की जाने वाली ग्राम्य भाषा कहा जा सकता है जिसका कोई लिखित व्याकरण नहीं होता। लोक रुचि ही जिसका व्याकरण प्रमाण या शास्त्र होता है। भाषा का दूसरा स्वरूप उपरिकथित स्वरूप का शुद्ध, संस्कृत एवं परिमार्जित किया हुआ साहित्यिक अथवा कृत्रिम रूप है *जिसे विद्वत्समाज या शिष्ट-जनों की भाषा कहा जाता है।* उसे व्याकरण के नियमों में आबद्ध कर, आवश्यकतानुसार उसमें नवीन शब्दों का उसकी पूर्ववर्ती भाषा से या अन्य किसी समृद्ध भाषा से प्रवेश करवा कर

---

[1] सांख्य-कारिकावलि एवं न्याय दर्शन।

अथवा निर्माण कर जीवन के उदात्त एवं गम्भीर भावों विचारों एवं तथ्यों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया जाता है। इस अंतर को भली प्रकार चिह्नित करने के लिए ही विद्वानों ने प्रथम रूप को बोली की और दूसरे रूप को भाषा की संज्ञा दी है। संस्कृत वैयाकरणों एवं काव्य शास्त्रियों ने इसे वाणी भाषा और विभाषा जैसे वर्गों में भी विभाजित करने का प्रयास किया है। अन्तर केवल इतना है कि ये वैयाकरण शुद्ध शिष्ट परिमार्जित किन्तु कृत्रिम भाषा को मूल मान कर जनसाधारण की भाषा की ओर प्रयाण करते हैं, जैसे भरत ने लिखा है—

'मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी।
वाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता॥'[2]

मागधी अवन्तिजा प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी वाल्हीका तथा दाक्षिणात्या ये सात भाषाएं है। आगे ये लिखते हैं—

'शकाराभीर चाण्डाला शबर द्रमिलान्ध्रजा।
हीना वनचराणाञ्च विभाषा नाटके स्मृता॥'[3]

जंगली लोगों द्वारा बोली जाने वाली शकारा आभीर चाण्डाला शबर द्रमिल आन्ध्रजा आदि हीन बोलियां ही नाटक में विभाषाएँ कही जाती हैं। भाषा से लेखक का क्या तात्पर्य था तथा विभाषा' शब्द किस प्रकार की बोली के लिए प्रयुक्त होता था, इसे स्पष्ट करते हुए अपने भाष्य में अभिनव गुप्तपादाचार्य लिखते हैं—

भाषा संस्कृतापभ्रंश, भाषापभ्रंशस्तु विभाषा सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिनाम च एता एव नाटये तु।[4]

उपर्युक्त विवृति में संस्कृत को वाणी अथवा देववाणी मान कर भाषा को संस्कृत का अपभ्रष्ट स्वरूप कहा है तथा भाषा के अपभ्रष्ट स्वरूप को विभाषा कहा है। इसीलिए भाषा के अन्तर्गत उपरिकथित सात प्राकृत भाषाओं को और विभाषा के अन्तर्गत जंगली गुफाओं में रहने वाले हीन व्यक्तियों की बोलियों को जो भिन्न भिन्न प्रदेशों में भिन्न भिन्न तरीकों से बोली जाती थी किन्तु विकास की ओर अग्रसर थी लिया गया है। इन विभाषाओं का प्रयोग नाटकों में हीन पात्रों के मुख से करवाना वैध माना जाता था। इस प्रकार हमारे सामने भाषा के तीन रूप आ जाते हैं। जहाँ तक भाषा के लिए 'वाणी' शब्द के प्रयोग का सम्बन्ध है वह केवल अतिधार्मिक भावना का ही

---

[2] भरत का नाट्य शास्त्र १७/४६।
[3] वही १७/५०।
[4] भरत नाट्यशास्त्र की टीका, पृष्ठ ३७६।

परिणाम है। जहाँ तक विभाषा का सम्बन्ध है वह बोली और भाषा के बीच की स्थिति है। इसमें थोड़ा बहुत साहित्य भी होता है। ग्राम्य प्रयोगों की अनुना के साथ-साथ व्याकरण के नियमों का बन्धन भी रहता है। अत यह स्पष्ट है कि भाषा की मुख्य स्थितियाँ बोली और भाषा ही है।

उपयुक्त विवेचन से हम सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि लोक में भाषा के दो रूपों की समानान्तर स्थिति प्रत्येक अवस्था में बनी रहती है। हाँ ! यह अवश्य है कि एक बोली की अनेक भाषाएँ चाहे न हों परन्तु एक भाषा की अनेक बोलियाँ अवश्य होती हैं यथा—हिन्दी की—व्रज कन्नौजी, बघेली बुन्देली, छत्तीसगढ़ी अवधी, खड़ी बोली बागरू आदि। बोली का ही परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप भाषा बनता है साथ ही भाषा का अपभ्रष्ट रूप भी बोली के कोष को समृद्ध करता है। डॉ रामविलास शर्मा का यह मत कि परिनिष्ठित भाषाओं से बोलियाँ उत्पन्न ही नहीं होतीं [5] मान्य नहीं है। यदि यह मत मान भी लिया जाए तो आज भारत में आर्य परिवार की भाषाओं के अधीन बोली जाने वाली तीन चार सौ बोलियों का अस्तित्व छान्दस युग में भी मानना पड़ेगा, जो कि सम्भव नहीं है। जैसा कि डा राम विलास स्वीकार करते हैं कि सामाजिक उत्थान पतन एवं उसकी स्थिति का भाषा के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध होता है तो उन्हें यह स्वीकार करने में नहीं हिचकिचाना चाहिए कि प्रारम्भ में आर्य लोग एक कबीले के ही रूप में थे। समाजशास्त्र के अनुसार प्राचीन काल का वह समुदाय जो एक सांस्कृतिक इकाई में आबद्ध था कबीला कहलाता था। कबीले के सभी लोग उस समय निश्चय ही किसी एक बोली का प्रयोग करते रहे होंगे। जैसे जैसे उनमें विस्तार हुआ होगा, त्यों त्यों समय और परिस्थिति के अनुसार उनकी बोलियों में भी अन्तर आया होगा और इस प्रकार एक बोली अनेक में परिवर्तित हुई होगी पर मूल आधार उसके कबीले की भाषा ही रही होगी। सम्भवत डॉ० रामविलास के साथ मूल कठिनाई यह रही है कि इन्होंने आर्यों के जन अथवा गोत्र को कबीला मान लिया है और हिन्दी का सम्बन्ध भी छान्दस के समय की किसी भिन्न बोली के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। मज़ेदार बात तो यह है कि डाक्टर साहब इसी अध्याय में भोजपुरी सम्बन्धी वर्गों को ग्रियर्सन के मत से ही काटते नज़र आते हैं। वाली के विकास का मूलाधार बोली ही नहीं अन्य कारण भी होते हैं। यथा—उसी से परिष्कृत परिनिष्ठित रूप अन्य परिवारों की भाषाएँ सामाजिक धार्मिक राजनैतिक परिस्थितियाँ आदि। बात वास्तव में यह है कि बोली का रूप जब परिष्कृत होकर भाषा का बाना

---

[5] भाषा और समाज पृष्ठ ३६७।

धारण कर लेता है तो यह रूप अधिक से अधिक समृद्ध होने में तल्लीन हो जाता है विद्वान् लोग नवीन ध्वनियाँ, नवीन शब्दों एवं नवीन प्रयोगों द्वारा उसे अधिक से अधिक सशक्त एवं अभिव्यञ्जिका बनाने में दत्तचित्त हो जाते हैं और वही बोली विशेष, दिन दूनी रात चौगुनी फलने फूलने लगती है। उसमें अन्य भाषाओं के शब्द एवं प्रयोग भी ग्रहण किये जाने लगते हैं। ऐसी स्थिति में जन सामान्य दो सिद्धान्तों के अधीन—१ अनुकरण व २ मुखसुख—नवीन बोली को धीरे धीरे पनपाने लगता है। अनुकरण के सिद्धान्त के अनुसार वह विद्वानों के शब्दों और ध्वनियों का उच्चारण करने का प्रयत्न करता है और 'मुख सुख' के अधीन उसे अशुद्ध बना देता है तथा उसके समकक्षी अपने प्राचीन शब्दों का त्याग करने लगता है। धीरे धीरे ज्यों भाषा का प्रभुत्व बढ़ता जाता है, बोली भी जाने अनजाने में परिवर्तित होती रहती है और इस प्रकार एक ऐसी स्थिति आती है कि बोली एकदम नये रूप में आ उपस्थित होती है। उदाहरण के लिए आज से ५०–६० वर्ष पूर्व गाँव के लोग, विद्यार्थी के लिए चट्टा और विद्यालय के लिए चटसाल का प्रयोग करते थे। अब इन दोनों शब्दों का स्थान विद्यार्थी और विद्यालय (स्कूल) ने ले लिया है। इसी तरह अहीरवाटी में गेहूँ की रोटी के लिए 'माण्डो' शब्द का प्रयोग होता था पर अब अधिकांश ग्रामीण भी माण्डो कहने से लजाने लगे हैं और उसके स्थान पर शिष्ट शब्द फुलके का प्रयोग करते हैं। सहायक क्रिया स का स्थान हिन्दी सहायक क्रिया है ने ले लिया है। ब्रजभाषा भाषी ग्रामीण जन भी अब हौं कहना उचित नहीं समझते बल्कि मैं का प्रयोग करते हैं। 'हिन्दी के प्रभाव के कारण अहीरवाटी का प्रवाह आकारान्त होता जा रहा है। अब काकोजी के स्थान पर काकाजी' कहना अधिक शिष्ट समझा जाता है। थो सहायक क्रिया (भूतकाल) का भी यही हाल है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि परिनिष्ठित भाषा से बोली का विकास हो ही नहीं सकता उचित नहीं है। अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि एक बोली के पश्चात् जो दूसरी बोली का प्रचलन लोक में देखा जाता है वह उस पूर्ववर्ती बोली का विकसित रूप ही नहीं होता, बल्कि शिष्टजनों द्वारा व्यवहृत परिनिष्ठित भाषा के अनुभूत क्लिष्ट उच्चारणों एवं रूप प्रयोगों का सरलीकृत स्वरूप भी होता है। इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि पूर्ववर्ती बोली का उसके परिमार्जित स्वरूप के प्रकाश में आने पर पूर्णतया देहान्त हो जाता है परन्तु इतना आवश्यक है कि वह बोली परिनिष्ठित भाषा के कोष से अपना भण्डार भरती रहती है तथा उसके प्रकाश में अपने कुछ प्रयोगों का त्याग करती हुई नवीन बोली का आवरण धारण कर लेती है। इस प्रकार नवीन बोली पुरानी बोली और परिनिष्ठित भाषा का सम्मिलित परिणाम होती है।

किसी भी भाषा के वज्ञानिक अध्ययन के समय एक बडी कठिनाई जो आती है, वह यह कि साहित्य मे उसकी पूववर्ती बोली का रूप प्राय अलक्षित हो जाता है। कितने ही ग्राम्य प्रयोगा एव रूपो पर वैयाकरण प्रतिबन्ध लगा देते हैं और हमारे सामने केवल उसका परिमार्जित एव परिष्कृत रूप, जो ग्रन्था म प्रयुक्त हुआ होता है उपस्थित होता है तब यह जानना कठिन हो जाता है कि अमुक भाषा जिसका अध्ययन किया जा रहा है किसी बोली से समुत्पन्न है अथवा शिष्ट एव साहित्यिक भाषा का विकृत रूप है। इसी प्रश्न को लेकर भारतीय आय परिवार की भाषाओ के विकास के सम्बन्ध मे विद्वानो म अत्यधिक विवाद चल रहा है, विशेषकर सस्कृत एव प्राकृतो के विषय मे। डा चाटुर्ज्या ने लिखा है कि 'प्राच्य बोली छान्दस एव ब्राह्मण ग्रन्थो की सस्कृत से इतनी अधिक दूर जा चुकी थी कि उदीच्य प्रदेश से आने वाले व्यक्ति को प्राच्यो की भाषा समझने म कुछ कठिनाई का अनुभव होता था।'[6] उक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि आय लोग मूलत अर्थात जब सप्तसिन्धु प्रदेश म थे, छान्दस अथवा ब्राह्मण ग्रन्थो की भाषा बोलते थे, परन्तु धीरे धीरे जब वे पूव की ओर अग्रसर होते गए उनका उच्चारण शिथिल होता गया। इस शिथिलता के कारण जो अन्तर आया वही अन्तर नवीन बोली का उत्पादक सिद्ध हुआ। यदि डॉ रामविलास शर्मा के अनुसार यह मानें कि वे भिन्न बोली पहले से ही बोलते थे तो बोली को समझना बाद मे कठिन क्यो हुआ? तथा प्राचीन ग्रन्थो में याद के ब्राह्मणा मे ही इसका उल्लेख क्यो हुआ? अत स्पष्ट है कि छान्दस का अशुद्ध उच्चारण, 'छान्दस' की बोली के अवशेष (जिसे वे पहले बोलते रहे होगे) तथा अनार्यों के सम्पक ने प्राच्या को जन्म दिया, जिसमे छान्दस के अपभ्रष्ट रूप का योग सर्वाधिक था।

## प्राचीन भारतीय आय भाषा

बोली और भाषा का अन्तर स्पष्ट हो जान पर अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार छान्दस तथा उसकी बोलिया ने क्रमश विकसित होकर प्राकृतो एव अपभ्रशो के रास्ते से आधुनिक भारतीय आय भाषाओ को जन्म दिया। यद्यपि यह चाहे विवादास्पद विषय है कि आर्यों का मूल निवास स्थान भारत है अथवा ये लोग कहीं बाहर से यहाँ आए पर यह सवमान्य मत है कि ऋग्वेद आर्यों का छान्दस भाषा मे लिखित आय परिवार की भाषाओ का प्राचीनतम लिपिबद्ध ग्रन्थ है। छान्दस को यदि भारतीय आय परिवार की भाषाओ का मूल उत्स मान कर चलें तो भारतीय आय परिवार की भाषाओ

---

[6] भारतीय आय भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७५।

का विकास क्रम की दृष्टि से काल विभाजन एवं वर्ग विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—[7]

(१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ (प्रा० भा० आ० भा०)— छान्दस एवं संस्कृत।

समय—१५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक।

(२) मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ (म० भा० आ० भा०)— (अ) पालि अशोक के शिलालेखों की भाषा, (ब) साहित्यिक प्राकृतें (स) अपभ्रंश।

समय—५०० ई० पूर्व से १०००–१२०० ई० तक।

(३) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं (आ० भा० आ० भा०)—हिन्दी गुजराती, मराठी आदि।

समय—१०००–१२०० ई० से आज तक।

उपर्युक्त वर्गीकरण का नामकरण सस्कार विद्वानों ने भिन्न भिन्न रूपों में किया है, यथा—डा चाटुर्ज्या प्रथम को आ० भा० आ० की भाषाएँ द्वितीय को म० भा० आ० की भाषाएँ तथा तृतीय को न० भा० आ० की भाषाएं कहते हैं तो डा उदयनारायण तिवारी तृतीय को आधुनिक भारतीय आर्य भाषा परिवार की संज्ञा देते हैं पर इससे मूल विषय में कोई अन्तर नहीं आता।

छान्दस भाषा के वैज्ञानिक विवेचन का मूल आधार मुख्यतः ऋग्वेद और गौणतः वैदिक साहित्य हो सकता है। यद्यपि इस समय छान्दस भाषा की बोली का कोई भी रूप हमारे सामने नहीं है तो भी विद्वानों ने अनुमानतः उसके रूप निर्धारण का प्रयत्न किया है। डा चाटुर्ज्या का मत है कि वेदों के संकलन काल और लेखन काल की भाषा में अवश्य अन्तर रहा होगा, क्योंकि लेखन के हजारों वर्ष पश्चात् वेदों का संकलन किया गया है। अतः मूल रूप में जो ऋचाएँ लिखी गई होंगी वे सम्भवतः वर्तमान स्वरूप से कुछ अंशों में भिन्न रही होंगी। आपने अनुमान का आधार स्वयं ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल और दसवें मण्डल की भाषा का अन्य मण्डलों की भाषा से भिन्न होना है। आपने इस आधार पर दो ऋचाओं के अनुमानित रूप इस प्रकार दिये हैं—[8]

---

[7] उक्त विभाजन का आधार डा० चाटुर्ज्या द्वारा दिया गया विभाजन है जो भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ १५ १६ पर अंकित है। अभी तक विद्वान् किञ्चित् मत भेद के बाद भी इसे ही मान कर चलते हैं।

[8] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ७०।

सहिता रूप—  "अग्निम ईले (ईडे) पुरोहितम
यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्
होतारम रत्न धातमम ॥" (ऋग्वेद १/१)

मूल अथवा अनुमानित रूप—
अग्निम इजदइ पुरज धितम्
यजजस्य दइवम् ऋत्विजम
घह उतारम् रत्न धा तमम्

इसी प्रकार लोक प्रचलित प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र का भी अनुमानित रूप डॉ० चाटुर्ज्या ने प्रस्तुत किया है[9]—

सहिता रूप—  तत सवितुर् वरणियम
भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो न प्रचोदयात ।"

मूल या अनुमानित रूप—
तत सवितृस वरइ नियम
भगज दइवस्य धीमधि ।
धियज यज नस प्र क उदयात ॥

यह मानते हुए कि भाषा विकासशील है और ऋग्वदिक ऋषियो ने प्रारम्भ मे भाषा के जिस रूप म ऋचाएँ लिखी होगी उस समय की भाषा मे और ऋचाओ के सकलन काल तक की भाषा म अवश्य अन्तर आया होगा, परन्तु उपयुक्त जो सम्भावित रूप डॉ चाटुर्ज्या ने दिए हैं उनम ऐसा लगता है कि पाश्चात्य विद्वानो द्वारा ही आविष्कृत 'तालव्य भाव का नियम' तथा अवेस्ता की भाषा को छान्दस से प्राचीन मानने की भावना ही काम कर रही है। कण्ठ्य स्थानीय क वग का 'अ इ ई स्वर के कारण तालव्य स्थानीय च वग म परिवर्तित हो जाना तालव्य भाव का एक नियम है। इसीलिए डॉ साहब को चोदयात का प्राचीन रूप 'क उदयात खोजना पडा। साथ ही पाश्चात्यो ने समान ध्वनि और समान शब्द का सिद्धान्त भी बनाया। इस आधार पर कुछ समान शब्दो एव ध्वनियो को प्राचीन मान कर मूल भाषा का अनुमान लगाया गया। इसके अधीन विद्वान 'ज' की अपेक्षा 'ज' ध्वनि को प्राचीन मानते है। क्योकि यह अवेस्ता और ग्रीक म भी मिलती है। इसीलिए इन्ह भर्गो >भग >भगस के स्थान पर भगज करना पडा। इस सिद्धान्त की कठोर आलोचना डा रामविलास शर्मा न की है जो अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण एव

[9] भारतीय आय भाषा और हिन्दी पृष्ठ ७१ ।

प्रशसनीय है।[10] अवेस्ता में 'द ध तथा ह्' की पूववर्ती ध्वनि ए के स्थान पर 'अज प्राप्त होता है तथा 'गुप्' प्रत्यय के 'स् क' स्थान पर भी वही ज प्राप्त होता है तथा साथ ही 'य, व, ह के पूववर्ती ओ को 'अज' का स्थानी स्वीकार कर उक्त ऋचाओं का अनुमानित रूप प्रस्तुत किया गया है। यदि छान्दस एधि के स्थान पर अवेस्ता म अजधि मिलता है तो इस का यह तात्पय नहीं कि 'ए सवत्र अज' ही बन जाए जसा कि इन्होंने उपस्थित किया है।

उपयुक्त विवेचन क पश्चात् यदि हम छान्दस के पश्चकालीन विकास का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि पाश्चात्य विद्वान जिन विकास सूत्रों का अवलोकन मूल भाषा से ग्रीक और उससे संस्कृत तक करते हैं व सूत्र संस्कृत से उत्तरोत्तर विकसित हुई भाषाओं में उपलब्ध होते हैं। इसका विस्तृत विवेचन हम पूव पृष्ठों म कर चुके हैं।

अस्तु हम इस विवाद में न उलझ कर कि सकलन की भाषा मूल छान्दस है अथवा लेखन समय की भाषा का विकसित रूप है यह देखने का प्रयास करेंगे कि इस समय जो भाषा का प्राचीनतम प्रमाणित रूप ऋग्वेद संहिता में उपलब्ध है, उसकी क्या-क्या प्रवृत्तियाँ हैं और उसका उत्तरोत्तर विकास किस प्रकार हुआ है ? भाषा के वर्णनिक विश्लेषण में उसकी ध्वनियाँ पद विन्यासों कोष तथा वाक्य गठन आदि पर विचार किया जाता है। अत हम सवप्रथम छान्दस की ध्वनियों का विवचन प्रस्तुत करते हैं—

ध्वनितत्त्व—

छान्दस भाषा में निम्नलिखित ध्वनियाँ विद्वानों ने चिह्नित की हैं—

(१) स्वर ध्वनियाँ—अ, आ, इ ई उ, ऊ ऋ, ॠ ल ए ऐ ओ औ तथा अनुस्वार।

स्वरों की मुख्य प्रवृत्ति है उनका बलाघात। यह तीन प्रकार का होता है—(१) उदात्त (२) अनुदात्त, (३) स्वरित। इस बलाघात से शब्दों के अथ म परिवतन आ जाता है। छान्दस मे ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ एक ही शब्द बलाघात के कारण भिन्न भिन्न अथ देने लगता है यथा—

इ॑न्द्र शत्रु से न्द्र का उच्चारण यदि स्वरित किया जायेगा तो इसका अथ होगा इन्द्र है शत्रु जिसका और यदि अन्त्य स्वर को उदात्त और प्रारम्भिक स्वरों को अनुदात्त उच्चारण करें तो इन्द्रशत्रु का अथ होगा इन्द्र का शत्रु। प्रथम म बहुव्रीहि समास हो जाता है और द्वितीय मे तत्पुरुष समास। अपश्रुति

१० भाषा और समाज पृष्ठ, ११६–१४०।

का नियम भी उपलब्ध होता है पर इसकी पुष्टि अभी भी पूर्व कथित "अवेस्ता की भाषा प्राचीन है' सिद्धान्त के आधार पर की जाती है।

(२) व्यञ्जन ध्वनियाँ—क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग आदि स्पर्श ध्वनियाँ य, र, ल, व, श, ष, स, ह, विसर्ग, जिह्वा मूलीय,[11] उपध्मानीय[12] तथा ट वर्ग के अन्तर्गत ळ, ळ्ह ध्वनियाँ जो 'ड और ढ' की स्थानी कहा जा सकती हैं, मिलती हैं।

प्रवृत्तियाँ—वर्गान्त पाँच अनुनासिक ध्वनियों में से केवल 'न और म' का अन्य व्यञ्जनों के समान स्वतन्त्र प्रयोग मिलता है। पदान्त में कहीं कहीं 'ङ' ध्वनि भी उपलब्ध होती है, यथा—प्रत्यङ कीदृङ आदि। संस्कृत (छान्दस) में भ' को ह' का आदेश हो जाता है तथा 'घ्' के स्थान पर 'ह' के उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद के 'ष' का यजुर्वेद में 'ख' उच्चारण किया जाता है। पदादि 'य' का उच्चारण भी 'ज' होता है, यज्ञस्य>जज्ञस्य। ऋग्वेद के 'र' का उच्चारण यजुर्वेद में 'ए' युत होता है, यथा—सहस्रशीर्षा>सहस्रशीरेषा, आदि श, स, ह' से पूर्व के अनुस्वार का उच्चारण एक विशेष प्रकार का होता है जिसका लिपि चिह्न ଓ पाया जाता है।

रूप तत्व—

वैदिक शब्द रूपों को चार भागों में बाँटा जा सकता है—१ नाम २ आख्यात ३ उपसर्ग, ४ निपात। महर्षि यास्क ने 'नामाख्याते चोपसर्ग निपाताश्च' के द्वारा ऐसा ही वर्गीकरण किया है। नाम और आख्यात स्वतन्त्र चलते हैं और उपसर्ग तथा निपात उनके साथ जुड़ कर अर्थ देते हैं।

(१) नाम—(क) इसके अन्तर्गत छान्दस के स्वरान्त तथा व्यञ्जनान्त समस्त संज्ञा सर्वनाम तथा विशेषण शब्द आते हैं।

(ख) इसमें तीन वचन—१ एक वचन २ द्विवचन, ३ बहुवचन, तीन लिङ्ग—१ स्त्रीलिङ्ग, २ पुल्लिंग ३ नपुंसक लिङ्ग, आठ कारक—कर्ता कर्म, करण, सम्प्रदान अपादान सम्बन्ध अधिकरण तथा सम्बोधन—पाए जाते हैं। प्रत्येक शब्द का प्रयोग लिङ्गानुसार तीनों वचनों एवं आठों कारकों में सुबन्त प्रत्यय लगाकर किया जाता है।

विशेषण शब्दों—संख्यावाचक शब्दों सहित—का प्रयोग भी सुबन्त प्रत्यय लगा कर ही किया जाता है।

सर्वनाम शब्दों की रूप निष्पत्ति संज्ञा शब्दों से कुछ भिन्न रूप में होती है।

---

[11] क तथा ख से पूर्व अर्द्ध विसर्ग सदृश ⨯ चिह्न।

[12] प तथा फ के पूर्व अर्द्ध विसर्ग सदृश ⨯ चिह्न।

नाम के अन्तर्गत महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि की वैदिक प्रक्रिया के अनुसार अनेक व्यापकता का उल्लेख किया है। सुप् व्यत्यय के अन्तर्गत चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग, षष्ठी के स्थान पर प्रथमा और षष्ठी का प्रयोग निम्नलिखित प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[13] निम्नलिखित प्रयोग— गाये व्योमन् (व्योमनि के स्थान पर) शब्द रूपों में विभक्ति की अविकृता प्रथमा बहुवचन में देवा तथा देवास, तृतीया बहुवचन में अर्कैः, षष्ठी बहुवचन में गो शब्द का गोनाम् रूपम् आदि प्राप्त होते हैं। समास प्रक्रिया में भी स्वच्छन्दता बरती जाती थी।

(२) आख्यात—समस्त धातुओं को विकरण की दृष्टि से दस गणों में विभाजित किया गया है, यथा—भ्वादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, चुरादि आदि।

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने वैदिक धातुओं की तीन प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है[14]—

१ धातु से पूर्व अ या आ आगम का प्रयोग।

२ धातु का द्वित्व।

३ धातु एवं तिङ् प्रत्यय के मध्य विकरण का सन्निवेश। पाणिनि ने वैदिक प्रक्रिया में क्रिया के काल एवं भावों के दस प्रकारों को वर्णित किया है, यथा—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् तथा लृङ्। अंग्रेजी भाषा में इनके समानार्थी शब्द निम्न प्रकार से हैं—

लट् (Present) लिट् (Perfect Past) लुट् (Periphrastic Future), लृट् (Simple Future) लेट् (Subjunctive) लोट् (Imperative) लङ् (Imperfect Past) लिङ् (Potential) लुङ् (Aorist), लृङ् (Conditional)।

धातुओं को स्व और पर की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया गया है—१ आत्मनेपदी २ परस्मैपदी ३ उभयपदी।

वैदिक भाषा की मुख्य प्रवृत्ति-स्वच्छन्दता तिङन्तों के प्रयोग और धातु रूपों में देखने को मिलती है—

१ संस्कृत की परस्मैपदी धातुओं का प्रयोग आत्मनेपद में भी प्रयुक्त हुआ है, यथा इच्छते इच्छति।

---

[13] षष्ठी युक्तश्छन्दसि वा, चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या, यजेश्च करणे, आदि—वैदिक व्याकरण पृष्ठ १६।

[14] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४६।

२ बहुवचन के लिए कहीं-कहीं एक वचन सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है—चषाल ये अश्व यूपाय तक्षति ('तक्षन्ति' के स्थान पर)।

३ तिङ्' प्रत्यय जोडते समय सार्वधातुक और आर्धधातुक का ध्यान नहीं रखा जाता। इसलिए 'वर्धतु और वर्धयतु' दोनों रूपों का प्रयोग वेद मे मिलता है।

४ विकरण का व्यत्यय भी मिलता है, यथा— भिद धातु के साथ कहीं विकरण मिलता है और कहीं नहीं मिलता है। इसलिए वेद में भेदति जसा रूप भी मिलता है और भिन्दति भिनत्ति जैसे रूप भी मिलते है।

५ कृदन्त प्रत्ययों के प्रयोग में भी नियमों की परवाह नहीं की गई है। 'क्त्वा और ल्यप' का प्रायोगिक जो अन्तर संस्कृत में मिलता है, वह छान्दस मे नहीं। क्त्वा के स्थान पर ल्यप' का प्रयोग धातु से पूर्व उपसर्ग जोडने पर ही किया जाता है किन्तु छान्दस में उपसर्ग युक्त धातु के साथ भी 'क्त्वा' का प्रयोग कर दिया जाता है जबकि संस्कृत में वहाँ पर क्त्वा का प्रयोग निषिद्ध है यथा—परिधापयित्वा आगत्वा आदि।

३ ४ उपसर्ग और निपात—छान्दस में उपसर्गों तथा निपातों का प्रयोग बहुतायत से पाया जाता है। हाँ! कहीं कहीं उपसर्ग को मूल शब्द से पृथक् लिखने की शैली भी दृष्टिगत होती है। कितने ही उपसर्ग तो ऐसे हैं कि जिनकी व्युत्पत्ति भी सन्दिग्ध है। निपातों में अकेले 'तुमुन्' अर्थ में प्रयुक्त होने वाले १८ प्रत्ययों का (निपात) विधान छान्दस मे उपलब्ध होता है।

कोष शब्द भण्डार के सम्बन्ध मे विद्वानों का मत है कि छान्दस के साहित्यिक भाषा होने पर भी तत्कालीन बोलियों का प्रभाव उस पर देखा जा सकता है। अतः अनेक ग्राम्य शब्द वदिक साहित्य मे खोजे जा सकते हैं। तैत्तिरीय संहिता में प्रयुक्त सुवग (स्वर्ग) शब्द का प्रयोग सामयिक बोली का ही लगता है।[15] न केवल छान्दस की बोलियों के ही शब्द, बल्कि तत्कालीन प्रचलित अनार्य भाषाओं के शब्दों को भी छान्दस मे ग्रहण किया गया है। कदली नाग, कुण्डतूल नीर आदि शब्द द्रविड भाषा परिवार और आस्ट्रिक भाषा परिवार के अधिक समीप हैं। इसी प्रकार लिङ्ग और लगुड शब्दों की व्युत्पत्ति भी डा० चाटुर्ज्या ने आस्ट्रिक भाषा के शब्द के आधार पर की है— लक मूल शब्द लग>लङग>लिङग।[16]

---

[15] डॉ० भोलानाथ तिवारी कृत भाषा विज्ञान, पृष्ठ १६६।

[16] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ५०।

नाम के अन्तर्गत महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि की वैदिक प्रक्रिया के अनुसार अनेक व्यत्यया का उल्लेख किया है। सुपां व्यत्यय के अन्तर्गत चतुर्थी के अर्थ मे षष्ठी का प्रयोग सप्तमी के स्थान पर प्रथमा और षष्ठी का प्रयोग निर्विभक्तिक प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[13] निर्विभक्तिक प्रयोग—परमे व्योमन (व्योमनि के स्थान पर) शब्द रूपा मे विकल्प की अधिकता, प्रथमा बहुवचन मे देवा तथा देवास तृतीया बहुवचन म अर्कै पदभि षष्ठी बहुवचन मे गो शब्द का 'गोनाम गवाम आदि प्राप्त होते हैं। समास प्रक्रिया म भी स्वच्छन्दता बरती जाती थी।

(२) आख्यात—समस्त धातुओ का विकरण की दृष्टि से दस गणो म विभाजित किया गया है, यथा—भ्वादि दिवादि स्वादि तुदादि, चुरादि आदि।

डा० उदयनारायण तिवारी ने वदिक धातुओ की तीन प्रवृत्तियो की ओर सकेत किया है[14]—

१ धातु से पूर्व अ' के आगम का प्रयोग।

२ धातु का द्वित्व।

३ धातु एव तिङ प्रत्यय के मध्य विकरण का सन्निवेश। पाणिनि ने वदिक प्रक्रिया मे क्रिया के काल एव भावो मे दस प्रकारो को वर्णित किया है, यथा—लट लिट लुट लृट लेट लोट, लड, लिङ, लुङ तथा लृङ। आग्ल भाषा म इनके समानार्थी शब्द निम्न प्रकार से हैं—

लट (Present), लिट (Perfect Past), लुट (Periphrastic Future), लृट (Simple Future), लेट् (Subjunctive), लोट (Imperative) लङ (Imperfect Past), लिङ (Potential), लुङ (Aorist), लृङ (Conditional)।

धातुओ को 'स्व और पर की दृष्टि से तीन भागो म विभाजित किया गया है—१ आत्मनेपदी २ परस्मैपदी ३ उभयपदी।

वैदिक भाषा की मुख्य प्रवृत्ति-स्वच्छन्दता तिङन्तो के प्रयोग और धातु पदो मे देखने को मिलती है—

१ संस्कृत की परस्मैपदी धातुओ का प्रयोग आत्मनेपद म भी प्रयुक्त हुआ है यथा इच्छते इच्छति।

---

[13] षष्ठी युक्तश्छन्दसि वा चतुर्थ्यर्थे बहुल छन्दसि षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या, यजेश्च करणे, आदि—वदिक व्याकरण पृष्ठ १६।

[14] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४६।

२ बहुवचन के लिए कहीं-कहीं एक वचन सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है—यथा य अश्व यूपाय तक्षति ('तक्षन्ति' के स्थान पर)।

३ तिङ् प्रत्यय जोड़ते समय सार्वधातुक और आर्धधातुक का ध्यान नहीं रखा जाता। इसलिए 'वर्धन्तु और वर्धयन्तु' दोनों रूपों का प्रयोग वेद में मिलता है।

४ विकरण का व्यत्यय भी मिलता है, यथा—भिद् धातु के साथ कहीं विकरण मिलता है और कहीं नहीं मिलता है। इसलिए वेद में 'भेदति' जैसा रूप भी मिलता है और 'भिदति' 'भिनत्ति' जैसे रूप भी मिलते हैं।

५ कृदन्त प्रत्ययों के प्रयोग में भी नियमों की परवाह नहीं की गई है। 'त्वा' और 'ल्यप्' का प्रायोगिक जो अन्तर संस्कृत में मिलता है वह छान्दस में नहीं। 'त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' का प्रयोग धातु से पूर्व उपसर्ग जोड़ने पर ही किया जाता है किन्तु छान्दस में उपसर्ग युक्त धातु के साथ भी 'त्वा' का प्रयोग कर दिया जाता है जबकि संस्कृत में वहाँ पर त्वा का प्रयोग निषिद्ध है, यथा—परिधापयित्वा आगत्वा आदि।

३४ उपसर्ग और निपात—छान्दस में उपसर्गों तथा निपातों का प्रयोग बहुतायत से पाया जाता है। हाँ! कहीं कहीं उपसर्ग को मूल शब्द से पृथक् लिखने की शैली भी दृष्टिगत होती है। कितने ही उपसर्ग तो ऐसे हैं कि जिनकी व्युत्पत्ति भी संदिग्ध है। निपातों में अकेले 'तुमुन्' अर्थ में प्रयुक्त होने वाले १८ प्रत्ययों का (निपात) विधान छान्दस में उपलब्ध होता है।

कोष शब्द भण्डार के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि छान्दस के साहित्यिक भाषा होने पर भी तत्कालीन बोलियों का प्रभाव इस पर देखा जा सकता है। अतः अनेक ग्राम्य शब्द वैदिक साहित्य में खोजे जा सकते हैं। तैत्तिरीय संहिता में प्रयुक्त सुवर्ग (स्वर्ग) शब्द का प्रयोग [illegible] ही लगता है।[15] न केवल छान्दस की बोलियों के ही शब्द वरन् तत्कालीन प्रचलित अनार्य भाषाओं के शब्दों को भी छान्दस में ग्रहण किया गया है। कदली, नाग, कुण्डल, नीर आदि शब्द द्रविड भाषा परिवार [illegible] भाषा परिवार के अधिक समीप हैं। इसी प्रकार लिङ्ग और [illegible] शब्दों की व्युत्पत्ति भी डा० चाटुर्ज्या ने आस्ट्रिक भाषा के [illegible] है—'लक' मूल शब्द लग>लङ्ग>लिङ्ग।[16]

---

15 डा० भोलानाथ तिवारी कृत भाषा विज्ञान पृष्ठ [illegible]।

16 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ २०।

## संस्कृत भाषा के उद्भव से पूर्व की स्थिति

उपर्युक्त विशेषताएँ उस भाषा विशेष से उद्धृत की गई हैं जिसका रूप ऋग्वेदादि संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में वर्तमान है। आर्य जब सप्तसिन्धु प्रदेश में थे तब वे इन ऋचाओं का निर्माण कर रहे थे और बहुत सम्भव है कि बोलचाल में भी ये लोग इसी भाषा का प्रयोग करते थे। छान्दस में शब्दों की अनेकरूपता ही इस अनुमान का प्रमाण हो सकती है। प्रारम्भ में आर्यों में अटनशीलता एवं विशेष प्रवृत्ति थी जो उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल भी थी। तत्कालीन आर्य सभी कबील एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर अग्रसर होते रहते थे। डॉ चाटुर्ज्या का मत है कि आस्ट्रिक परिवार के जन मूलतः भारतीय थे जो यहाँ से इण्डोनेशिया आदि स्थानों से होते हुए आस्ट्रेलिया पहुँचे और उनमें से कुछ पुनः भारत लौट आए।[17] आर्य तो प्रायः समस्त मध्य एशिया और समस्त योरप में फैल गये। अतः आर्य-जन धीरे धीरे सप्तसिन्धु प्रदेश से मध्य देश के मार्ग से पूर्वी प्रदेशों की ओर बढ़ने लगे। इस अभियान में इनका अनेक अनार्य कबीलों से सम्पर्क हुआ। आर्यों ने उन पर विजय प्राप्त कर अपनी प्रभुता स्थापित की। वेदों में इस प्रकार के अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं। इन जातियों ने विजेताओं से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने हेतु आर्यों की भाषा सीखना प्रारम्भ किया। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं परन्तु अनार्य जातियों के लिए आर्य भाषा की कतिपय ध्वनियों, यथा—ऋ ए ऐ ओ औ संयुक्त व्यञ्जन तथा अन्य ध्वनियाँ—का उच्चारण दुष्कर था परन्तु फिर भी वे बड़े मनोयोग से इस भाषा को ग्रहण करने का प्रयत्न करते रहे होंगे। यह स्वाभाविक भी है। आज के भारतीय तो गौराङ्ग महाप्रभुओं के महाप्रयाण करने के पश्चात् भी उनकी भाषा को सीखने पढ़ने का प्रमत्न छोड़ने को तैयार नहीं हैं बल्कि अभी तक उस राजभाषा का गौरवमय पद प्रदान किए हुए हैं परन्तु उस समय की स्थिति कुछ भिन्न थी आर्य लोगों को यह रुचिकर न था कि अशिक्षित लोग आर्य भाषा का अशुद्ध उच्चारण करें। अतः अनेक स्थानों पर आर्य ऋषियों ने उनके प्रति क्षोभ प्रकट किया है तथा उन्हें आसुर राक्षस, बर्बर तथा झगड़ालू वृत्ति वाला कहा गया है। ताण्ड्य या पञ्चविंश ब्राह्मण में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि व्रात्य लोग उच्चारण में सरल एवं वाक्य को कठिनता से उच्चारण किया जाने वाला कहते हैं। आर्यधर्म में दीक्षा प्राप्त किए बिना ही दीक्षित आर्यों की भाषा बोलने का उपक्रम

---

[17] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ४८ ४६।

करते हैं।[18] डॉ० चाटुर्ज्या ने व्रात्य जाति के सम्बन्ध मे लिखा है कि व्रात्य जाति से आर्यों का तात्पर्य उस अटनशील जाति विशेष से था जो वैदिक अग्निहोत्र और ब्राह्मणो की सामाजिक एव धार्मिक व्यवस्था को नही मानने वाले थे।[19]

जहाँ एक ओर इन ब्राह्मण ऋषियो ने भाषा के अशुद्ध उच्चारण करने वालो का उल्लेख किया है वहाँ भाषा के शुद्ध एव सही उच्चारण करने वालो के लिए किया गया निर्देशन भी स्थान स्थान पर उपलब्ध होता है। भाषा के शुद्ध उच्चारण करने वालो मे उदीच्य जनो का नाम विशेष रूप से लिया गया है। उदीच्य प्रदेश मे भाषा बडी जानकारी से बोली जाती है भाषा सीखने के लिए लोग उदीच्य जना के पास ही जाते है जो भी वहाँ स लौटता है उससे सुनने की इच्छा करते हैं।[20]

उपर्युक्त उद्धरणो से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग मे ही छान्दस भाषा विकास की ओर अग्रसर थी तथा ब्राह्मण ऋषि इस अवाञ्छित विकास को रोकने के प्रति पर्याप्त मात्रा म सतर्क थे, किन्तु भाषा का प्रवाह कभी बन्धन स्वीकार नही करता लाख प्रयत्न करने पर भी वह अपनी गति से अग्रसर रहती है। विद्वान लोग उसे स्थायी एव एकरूप बनाने के लिए व्याकरण के नियमो का निर्माण करते हैं भाषा की शुद्धता की दुहाई देते है किन्तु जन साधारण अपनी सुविधा के अनुसार भाषा का विस्तार एव प्रसार रूपात्मक एव ध्वन्यात्मक परिवर्तनों द्वारा करता चला जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख मिलने के कारण हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच सकते हैं कि भाषा का यह परिवर्तन ब्राह्मण ग्रन्था के लेखन काल तक पर्याप्त माना मे प्रकाश मे आ चुका था। ब्राह्मण ग्रन्था के रचना काल तक आर्य सस्कृति और भाषा आधुनिक बिहार प्रदेश तक पहुँच चुकी थी, क्योकि व्रात्या से इनका सम्पर्क लगभग पूर्वी प्रदेशो में ही हुआ है। अत हम कह सकते हैं कि इस समय में दो बोलिया तो कम मे कम ऐसी थी जिन्हें ब्राह्मण ऋषियो ने पूर्णत चिह्नित कर लिया था—एक तो उन लोगो की बोली, जो अशुद्ध उच्चारण करते थे अर्थात पूर्वी प्रदेशो की बोली, दूसरी उन लोगो की बोली जो कट्टरतावादी थे और भाषा का पूर्ण रूप से शुद्ध उच्चारण करते थे

---

[18] अदुरुक्त वाक्य दुरुक्तम आहु अदीक्षिता दीक्षितवाचम वदन्ति। (ताण्डय ब्राह्मण, १७/४)।

[19] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ७२।

[20] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ७२ से उद्धृत—तस्माद उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग उद्यते, उदञ्च उ एव यन्ति वाचम शिक्षितम्, यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति। (कौषीतकी ब्राह्मण ७/६)

अर्थात पश्चिमोत्तरी प्रदेश के उदीच्य जनों की। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष केवल इन दो बोलियों का ही उल्लेख मिलता है किन्तु डा० चाटुर्ज्या का मत है कि इन दोनों के बीच एक ऐसी भाषा अवश्य रही होगी जो न तो पश्चिमोत्तर उदीच्य की भाँति रूढ़िबद्ध हो रही होगी और न पूर्व की प्राच्या की तरह शिथिल और स्खलित ही। अर्थात् वह दोनों के बीच के मार्ग का अनुसरण करती रही होगी।[21] उक्त दोनों प्रदेशों के बीच में बोली जाने वाली बोली की कल्पना विद्वानों ने मध्य देशीय बोली के नाम से की है जिससे आगे चल कर अनेक प्राकृतों अपभ्रंशों एवं आधुनिक भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में निम्नलिखित तीन बोलियाँ जन साधारण में प्रचलित थीं—

(१) उदीच्या—इसके क्षेत्र में आधुनिक पंजाब एवं पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात अफगानिस्तान तक का भू भाग समाविष्ट किया जा सकता है।

(२) मध्यदेशीया—इसमें वर्तमान उत्तर प्रदेश आ जाता है।

(३) प्राच्या—प्राच्य देश के अन्तर्गत वर्तमान बिहार और बंगाल आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छान्दस भाषा के साथ साथ उपर्युक्त तीनों बोलियाँ धीरे धीरे पनपती जा रही थीं। इसके अतिरिक्त यदि हम समस्त वैदिक साहित्य का सूक्ष्म भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि ऋग्वैदिक भाषा और ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा परस्पर पूर्ण साम्य को व्यक्त करने में सक्षम नहीं है। विशेषकर रूप की दृष्टि से कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। ऐसा लगता है कि यह रूप छान्दस से अपेक्षाकृत कुछ सरल है। अतः बहुत सम्भव है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन ऋषियों ने परस्पर की बोलचाल एवं शिक्षण कार्य के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाषा में किया हो। डा० चाटुर्ज्या ने इसकी उत्पत्ति दो प्रकार से दिखाई है या तो उस भाषा का नवीन रूप जो प्राचीनतम भारतीय आर्य भाषा का साहित्यिक रूप था और ब्राह्मण लोग पाठशालाओं में अध्ययन करते थे अथवा मध्यदेशीय और प्राच्या के उपादानों से युक्त उदीच्या का एक पुराना रूप।[22]

वास्तविक बात तो यह है कि गौतम बुद्ध के रंगमञ्च पर उपस्थित होने से पूर्व भारतीय आर्य भाषा अति तीव्र गति से विकास की ओर अग्रसर थी। इसका रूप अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं में बढ़ता जा रहा था। अनार्य जातियाँ इस विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान कर रही थीं एक तो

---

[21] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ ७३।

[22] वही, पृष्ठ ७५।

द्ध उच्चारणो एव प्रयोगा द्वारा आय भापा की श दावली को नवीन रूप र—भत का भत्त या भट्ट उच्चारण करके—द्वितीय जाने और अनजाने मे रिकेल और हरिद्रा' जसे अपने शब्दा का प्रवेश करवा कर। उधर भापा की ासशील प्रवृत्ति भी काय निरत थी।

उपर्युक्त प्रत्यालोचन के पश्चात छान्दस युग की भापागत स्थिति पूणत ट हो जाती है। इस समय भापा तीन रूपा मे विकसित हुई सी दृष्टिगत ी है। इस विकास को निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है—

(१) 'छान्दस की तीन बोलिया—(क) प्राच्या (ख) मध्यदेशीया ) उदीच्या—पूणत प्रकाश म आ चुकी थी।

(२) ऋग्वेद की साहित्यिक भापा जिसे पाठशालाओ मे पढाया ना था।

(३) परस्पर बातचीत की विद्वाना की भापा जो छा दस को पढान का ध्यम थी तथा जिसमे ब्राह्मण ग्र था का सजन हुआ था।

यह तो सिद्ध हो गया कि बुद्ध से पूव उत्तर भारत मे तीन बोलियो का भव हो चुका था किन्तु यह सिद्धि ब्राह्मण ग्रन्थो मे उल्लिखित सन्दर्भो पर आधारित है। आज हमारे समक्ष इन बोलिया का कोई भी रूप नही है ससे उसका सूक्ष्म विश्लेपण कर नवीन तथ्यो को खोज निकाला जाए। धक से अधिक इन प्रदेशा की बाद की साहित्यिक भापाओ के आधार पर बोलिया के रूपो एव ध्वनियो का अनुमान लगाया जा सकता है। प्राचीन चारो मे महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ध्वनि परिवतन का सकेत दिया है जो चातुर्या की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूण है। व्याकरण अध्ययन की महत्ता प्रकाश डालते हुए इन्होने लिखा है—

"तेऽसुरा हेऽलयो हेऽलय इति कुव त पराबभूवु। तस्माद ब्राह्मणेन न च्छितवै नापभापितवै म्लेच्छो ह वा एव यदपशब्द"।[3]

वे असुर हेअलय! हेअलय! कहते हुए हार गए। अत ब्राह्मण लोग अशुद्ध च्चारण से म्लेच्छ भापा बोलने वाले न बनें। इससे ज्ञात होता है कि नाय जन छान्दस 'र' के स्थान पर ल का उच्चारण करते थे द्वितीय

---

[3] गद्य परिजात—स० डा० सूयकान्त पृष्ठ १६। टीका मे शतपथ को उल्लिखित किया है—माध्यदिनाना शतपथब्राह्मणे तु हेऽलवो हेलव इति वदन्त'। वही पृष्ठ २०। आर्यों की मूल जन्म भूमि मे यह पाठ इस प्रकार है—ते असुरा अत्त वचसो हे अलयो! हे अलय। इति वदन्त पराबभूवु तस्मान्न ब्राह्मण म्लेच्छेत।

अर्थात पश्चिमोत्तरी प्रदेश के उदीच्य जनो की। ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष केवल इन दो बोलियो का ही उल्लेख मिलता है किन्तु डा० चाटुर्ज्या का मत है कि इन दोनो के बीच एक ऐसी भाषा अवश्य रही होगी जो न तो पश्चिमोत्तर उदीच्य की भाँति रूढिबद्ध ही रही होगी और न पूर्व की प्राच्या की तरह शिथिल और स्खलित ही। अर्थात् वह दोनो के बीच के मार्ग का अनुसरण करती रही होगी।[२१] उक्त दोनो प्रदेशो के बीच मे बोली जाने वाली बोली की कल्पना विद्वानो ने मध्य देशीय बोली के नाम से की है जिससे आगे चल कर अनेक प्राकृतो अपभ्रंशो एव आधुनिक भाषाओ का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थो के काल म निम्नलिखित तीन बोलियाँ जन साधारण मे प्रचलित थी—

(१) उदीच्या—इसके क्षेत्र मे आधुनिक पजाब एव पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात अफगानिस्तान तक का भू भाग समाविष्ट किया जा सकता है।

(२) मध्यदेशीया—इसमे वतमान उत्तर प्रदेश आ जाता है।

(३) प्राच्या—प्राच्य देश के अन्तगत वतमान बिहार और बगाल आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छान्दस भाषा के साथ साथ उपर्युक्त तीनो बोलियाँ धीरे धीरे पनपती जा रही थी। इसके अतिरिक्त यदि हम समस्त वैदिक साहित्य का सूक्ष्म भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि ऋग्वैदिक भाषा और ब्राह्मण ग्रन्थो की भाषा परस्पर पूर्ण साम्य को व्यक्त करने म सक्षम नही है। विशेषकर रूप की दृष्टि से कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। ऐसा लगता है कि यह रूप छान्दस से अपेक्षाकृत कुछ सरल है। अत बहुत सम्भव है कि ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रणयन ऋषियो ने परस्पर की बोलचाल एव शिक्षण काय के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाषा मे किया हो। डा० चाटुर्ज्या ने इसकी उत्पत्ति दो प्रकार से दिखाई है या तो उस भाषा का नवीन रूप जो प्राचीनतम भारतीय आय भाषा का साहित्यिक रूप था और ब्राह्मण लोग पाठशालाओ म अध्ययन करते थे अथवा मध्यदेशीय और प्राच्या के उपादानो से युक्त उदीच्या का एक पुराना रूप।[२२]

वास्तविक बात तो यह है कि गौतम बुद्ध के रगमञ्च पर उपस्थित होने से पूर्व भारतीय आय भाषा अति तीव्र गति से विकास की ओर अग्रसर थी। इसका रूप अनेक शाखाओ और प्रशाखाओ मे बढता जा रहा था। अनार्य जातियाँ इस विकास म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान कर रही थीं एक तो

---

[२१] भारतीय आय भाषा और हिन्दी पृष्ठ ७३।

[२२] वही पृष्ठ ७५।

अशुद्ध उच्चारणों एव प्रयोगो द्वारा आय भाषा की श दावली को नवीन रूप देकर—भर्तृ का भत्त या भट्ट उच्चारण करके—द्वितीय जाने और अनजाने म 'नारिकेल और हरिद्रा' जैसे अपने श दा का प्रवेश करवा कर। उधर भाषा की विकासशील प्रवृत्ति भी काय निरत थी।

उपयुक्त प्रत्यालोचन के पश्चात छान्दस युग की भाषागत स्थिति पूणत स्पष्ट हो जाती है। इस समय भाषा तीन रूपो मे विकसित हुई सी दृष्टिगत होती है। इस विकास को निम्न प्रकार स प्रदर्शित किया जा सकता है—

(१) 'छा दस की तीन बोलियाँ—(क) प्राच्या, (ख) मध्यदेशीया (ग) उदीच्या—पूणत प्रकाश म आ चुकी थी।

(२) ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा जिसे पाठशालाओ मे पढाया जाता था।

(३) परस्पर बातचीत की विद्वाना की भाषा जो छा दस को पढाने का माध्यम थी तथा जिसम ब्राह्मण ग्र थो का सजन हुआ था।

यह तो सिद्ध हो गया कि बुद्ध से पूव उत्तर भारत मे तीन बोलियो का उदभव हो चुका था किन्तु यह सिद्धि ब्राह्मण ग्रन्थो मे उल्लिखित सन्दर्भों पर ही आधारित है। आज हमारे समक्ष उन बोलियो का कोई भी रूप नही है जिससे उनका सूक्ष्म विश्लेषण कर नवीन तथ्यो की खोज निकाला जाए। अधिक से अधिक इन प्रदेशा की बाद की साहित्यिक भाषाओ के आधार पर उन बोलियो के रूपों एव ध्वनियो का अनुमान लगाया जा सकता है। प्राचीन आधारो मे महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ध्वनि परिवतन का सकेत दिया है जो डा चाटुर्ज्या की दृष्टि म अत्यन्त महत्त्वपूण है। व्याकरण अध्ययन की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए इन्होने लिखा है—

'तेऽसुरा हेऽलयो हेऽलय इति कुव त पराबभूवु। तस्माद ब्राह्मणेन न म्लेच्छितव नापभाषितव म्लेच्छो ह वा एव यदपश द।"[२३]

वे असुर हेअलय! हेअलय! कहत हुए हार गए। अत ब्राह्मण लोग अशुद्ध उच्चारण से म्लेच्छ भाषा बोलन वाले न बनें। इससे ज्ञात होता है कि अनाय जन छान्दस र के स्थान पर 'ल' का उच्चारण करत थे द्वितीय

---

[२३] गद्य परिजात—स० डा० सूयकान्त पृष्ठ १६। टीका म शतपथ को उल्लिखित किया है—माध्यदिनाना शतपथब्राह्मणे तु हेऽवा हेवल इति वदन्त। वही पृष्ठ २०। आर्यों की मूल जन्म भूमि मे यह पाठ इस प्रकार है—ते असुरा अत्त वचसो हे अलयो! हे अलय। इति वदन्त परावभूवु तस्माद्ध ब्राह्मण म्लेच्छेत।

शतपथ ब्राह्मण म पाठ भेद से 'हेलय' के स्थान पर 'हेलव' भी मिलता है।[24] इससे निष्कष निकलता है कि वे 'य' के स्थान पर व का उच्चारण करते थ। इसके अतिरिक्त अय कोई उल्लेख तत्कालीन बोली की प्रवृत्तियों का नही मिलता। इन आधारो पर जब बाद की साहित्यिक भाषाओ का अध्ययन करते हैं तो मागधी प्राकृत म सवत्र 'र' के स्थान पर 'ल' पाया जाता है, यथा—

राजा>लाजा चोर>चोल, भर्ता>भत्ता, क्षुद्र>खुल्ल।

*अब यदि मागधी को प्राच्या का साहित्यिक रूप इस आधार पर मान लें* तो कुछ ऐसी प्रवत्तियों को भी स्वीकार किया जा सकता है जिनका प्रयोग प्राच्या म होता रहा होगा, यथा— र त के सयोग पर दोनो का मूधयीकरण हो गया है—वि>कृत>विकट भतृ>भट्ट कतृ>कट्ट कृत>कट, नि>कृत>निकट—मध्य-देशीय म ये रूप क्रमश भत्त कत्त आदि हुए होंगे।

डॉ० उदयनारायण तिवारी का मत है कि प्राच्या की यह प्रकृति इतनी बलवती हो गई थी कि परवर्ती भाषा का द्योतक दशम मण्डल उसे अपनाए हुए है।[25] यथा—रम्>लम्, रोमन>लोमन् म्रुच्>म्लुच्। आपके अनुसार अय मण्डलो म क्रमश रम्, रोमन म्रुच का प्रयोग हुआ है।

इन सब म उदीच्या म ये ध्वयात्मक परिवतन नही हुए होगे। उदीच्या की यह मुख्य प्रकृति लक्षित की गई है कि वह परिवतन के प्रति विशेष रुचि नही रखती। अत वह रूढ़िवादी एव कट्टरतावादी है। डा चाटुर्ज्या भी तिवारी जी के उपरिकथित मत से सहमत हैं।[26] आपने अनेक उदाहरणो द्वारा इस मत की पुष्टि की है।

भाषागत यह स्थिति अधिक से अधिक उलझनदार होती जा रही थी। ब्राह्मण ऋषि भाषागत शुद्धता के हामी होते हुए भी दिन प्रति दिन छादस मे प्रवेश पा रहे ग्राम्य बोलियो के शब्दो एव निपातों को रोक नही पा रहे थे। बहुत सम्भव है कि वेदो की ऋचाओ के रचयिता ऋषि उत्तर भारत के विभिन प्रदेशो के निवासी रहे हो तथा उनम से कुछ भाषा-नीति मे उदार भी रहे हो और प्रातीय बोलियो के शदो को अपनाने मे हिचकचाहट न करते हो। *परिणाम स्वरूप छादस म विकल्पो की भरमार होती जा रही थी और*

---

[24] वयाकरण महाभाष्य पृष्ठ २२—शाखा तरे हेलव हेलवो इति।
[25] हिदी भाषा का उदभव और विकास, पृष्ठ ५५।
[26] भारतीय आय भाषा और हिदी, पृष्ठ १०७–११०।

व्याकरण के नियम शिथिल होते जा रहे थे।[27] उधर प्राच्य लोग वैदिक कर्म काण्ड के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करने लगे थे। फलत छान्दस को स्वीकार करने को तत्पर न थे। गौतम बुद्ध और उनके दो शिष्यो का छान्दस के सम्बन्ध मे सवाद ही इसका प्रमाण है। उस समय इस बढती हुई भाषा की रूपात्मक एव ध्वन्यात्मक अव्यवस्था को अवरुद्ध कर देने के लिए तथा समस्त उत्तर भारत के समस्त जनो के लिए मान्य उदीच्या बोली को आधार बना कर शालातुरीय विद्वान पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी का प्रणयन किया और लगभग ई० पू० ५०० मे सस्कृत नाम की नवीन भाषा अस्तित्व मे आई।

पाणिनि ने छान्दस के रूप वविध्य के प्रशमन हेतु अपने व्याकरण का सजन किया तथा इसी भाषा-सस्कार के कारण इसे 'सस्कृत' कहा जाने लगा। इस सस्कृत भाषा मे कुछ ऐसी विशेषताएँ थी कि तुरन्त ही अफगानिस्तान से लेकर बगाल तक के ब्राह्मणो द्वारा अपना ली गई। अपनाने के पीछे स्पष्ट ही दो कारण थे एक तो सस्कृत छान्दस की स्वछन्दता पर अकुश का काम करने के लिए प्रकाश मे आई थी और ब्राह्मण ग्रन्थों एव उपनिषदो के प्रणेता ऋषि भाषा की इस अनेक रूपता से परेशान थे। अत सस्कृत से उन्हे एक प्रकार का सुख मिला। दूसरे सस्कार कर्ता ब्राह्मण उस प्रदेश से सम्बन्ध रखता था जहाँ की बोली समस्त आर्यजन एक आदर्श बोली के रूप मे स्वीकार करते थे। सस्कृत की सब से बडी महत्ता यह है कि छान्दस के कट्टर विरोधी बौद्धो ने भी अपने अनेक ग्रन्थो का प्रणयन इस भाषा मे किया। इस प्रकार छान्दस के पश्चात भारतीय आर्य भाषा का दूसरा महत्त्वपूर्ण साहित्यिक रूप सस्कृत के नाम से रगमञ्च पर जम गया और आज तक न्यूनाधिक रूप म भारतीय हिन्दू समाज

---

[27] डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस अव्यवस्था का अच्छा निदर्शन किया है—विभिन्न स्थानो के आर्य भाषा मे विभिन्न प्रकार के प्रयोग काम में लाते थे। 'तुम दोनो के लिए' कोई युवाम बोलता था, कोई 'युवम' और कोई केवल 'वाम' से ही काम चला लेता था। इसके अतिरिक्त पश्चात् और 'पश्चा' 'युष्मासु और युष्मे', 'देवा' और देवास' श्रवण और श्रोणा' अवद्योतयति और अवज्योतयति, देवै और देवभि आदि दोहरे प्रयोग चलते थे। कुछ लोग विभक्ति न लगा कर केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग कर डालते थे (यथा—परमे व्योमन) तो कुछ शब्द का अग भग करने पर सन्नद्ध थ। आत्मना—त्मना इसका अच्छा उदाहरण है। कोई व्यक्ति किसी अक्षर को एक रूप मे बोलता था तो दूसरा दूसरे रूप म। एव ड कहीं ल, ल' कही ढ तथा कही ल्ह बोला जाता था। (हिन्दी भाषा और साहित्य पृष्ठ ६)।

वे हृदयो पर जमी हुई है। हिन्दुओ के समस्त सास्कृतिक कायक्रम इसी भाषा के माध्यम से सम्पन्न होते हैं। सस्कृत पढना एक पुण्य काय समझा जाता है। डॉ॰ चाटुर्ज्या ने सस्कृत के उदभव के सम्बन्ध मे लिखा है—"उसके तथा उसकी भाषा के सौभाग्य से इसी समय एक महान वयाकरण का पश्चिमोत्तर प्रदेश मे उदय हुआ जहाँ के जनसाधारण की बोलियाँ अब तक भी छान्दस और ब्राह्मण ग्रन्थो की भाषा के रूप तत्त्व ध्वनि विनान तथा व्याकरण की दृष्टि से इतनी निकट थी कि उनसे भिन्न प्रतीत न होकर केवल उसका एक लौकिक या प्रचलित रूप बनी हुई थी। इस लौकिक रूप पर स्थानीय जन भाषाओं की शब्दावली और मुहावरो का प्रभाव पड चुका था तब भी पाणिनि ने अपने व्याकरण से हमेशा के लिए साहित्यिक सस्कृत के रूप मे नियम बद्ध कर दिया। इस प्रकार वदिक भाषा और ब्राह्मण ग्रन्थो की साहित्यिक भाषा के पश्चात भारतीय आय भाषा का तीसरा रूप साहित्यिक सस्कृत प्रतिष्ठित हुआ। मूलत यह उदीच्य बोलिया पर आधारित था और मध्य देश पूव तथा दक्षिण के भी अखिल ब्राह्मण जगत ने इसे सहष स्वीकार कर लिया।[26]

पूव कथित तीन बोलियो मे से उदीच्या ने साहित्यिक बाना पहन कर बोली स भाषा के पद पर अपने को अधिष्ठित कर अपनी पदवृद्धि का शखनाद किया। यद्यपि इन दिनो गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी अपने प्रवचनो की अभिव्यक्ति छान्दस के माध्यम से न कर उनका प्रचार एव प्रसार तत्कालीन लोक भाषाओं म कर रहे थे तो भी वे सस्कृत के चतुमुखी विकास को रोक न सके और भाषागत इस सघष म बौद्धो एव जनियो को पराजय का मुखाव लोकन करना पडा।

## सस्कृत का भाषा तात्त्विक विवेचन

### ध्वनि तत्त्व

छान्दस की अति समीपी बोली उदीच्या पर आधारित होने पर भी सस्कृत म ध्वन्यात्मक दृष्टि से अनेक स्थानो पर भिन्नता दृष्टिगत होती है। अनेक ध्वनियो को छोड दिया गया अनेको के उच्चारण म अन्तर आ गया।

स्वर—सस्कृत म छान्दस के प्राय समस्त स्वर मिलते हैं। केवल दीघ ऋ और ऌ का त्याग कर दिया गया। ह्रस्व ऌ केवल क्लृप् धातु म ही प्रयुक्त हुई है। अइ (ऐ) अउ (औ) के उच्चारण शिथिल हो गए। डॉ॰ सरनामसिंह ने स्वरो व्यञ्जनो के उच्चारण म हुए परिवतनो की भी

---

[26] भारतीय आय भाषा और हिन्दी पृष्ठ ७७।

सूचना दी है।[27] श स ह' से पूर्व म अनुस्वार के विशेष उच्चारण को भी छोड दिया गया।

व्यञ्जन—१ ल और ल्ह' ध्वनिया सस्कृत म नही मिलती।

२ उपध्मानीय और जिह्वामूलीय विसर्गो का प्रयोग और उच्चारण समाप्त हो गया।

३ मूर्धन्य ध्वनियो का विकास बढ गया।

४ अघोष अल्प प्राण ध्वनियाँ सघोष अल्प प्राण ध्वनियो मे धडल्ले से परिवर्तित होने लगीं।

५ बलाघात की प्रवृत्ति समाप्त हो गई पर उच्चारण के प्रति सतर्कता अधिक बढ गई। शेष समस्त छान्दस व्यञ्जन उपलब्ध होते हैं।

रूपतत्त्व

सस्कृत म छान्दस की भाति ही तीन वचन, तीन लिङ्ग तथा आठ कारको का विधान मिलता है। छान्दस मे जहाँ कारको मे शब्दो के अनेक रूपो का विधान था उनम से प्राय एक को स्वीकार कर शेष रूपो को छोड दिया गया। देवा और देवास मे से प्रथमा बहुवचन म केवल देवा को ही स्वीकार किया गया। इसी प्रकार देवै और देवेभि' मे स केवल देव' 'पतिना और पत्या में से केवल पत्या को रख लिया गया। प्रथमा के द्विवचन मे अश्विन् और देवी' के सस्कृत मे अश्विनौ और दव्यौ रूप ही उपलब्ध होने है। गुहा और गुहानि' मे से केवल 'गुहानि प्रयोग ही स्थिर किया गया। कारक व्यत्यय और निर्विभक्तिक प्रयोगो को पूर्ण रूप स नही रोका जा सका।

आख्यात—छान्दस के आधार पर ही सस्कृत मे भी सभी धातुओ को दस गणो मे विभाजित किया गया है। धातुओ की तीनो वैदिक विशेषताएँ सस्कृत म सुरक्षित हैं।

सस्कृत म भी धातुओ का प्रयोग तीनो पदो—१ आत्मनेपद, २ परस्मै पद ३ उभयपद—म किया जाता है। छान्दस की अव्यवस्था को यहाँ पर रोक दिया गया, यथा—इच्छ छान्दस म आत्मनेपद मे भी प्रयुक्त होती है और परस्मपद म भी पर सस्कृत म इसे परस्मपद के लिए ही स्थिर कर दिया गया। इस प्रकार अनेक धातु रूपो का स्थिरीकरण हम सस्कृत म मिलता है।

सस्कृत म लेट' लकार को छोड कर छान्दस के शेष नौ लकारो का प्रयोग उपलब्ध होता है पर डॉ उदयनारायण तिवारी का मत है कि शेष

[27] डॉ सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' कृत पालि साहित्य और समीक्षा।

संस्कार भी छान्दस भाषा में जिन जिन भावों की अभिव्यक्ति करते थे उनकी संस्कृत में नहीं करते। आपने अपने मन्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'वदिक तथा संस्कृत में सब से अधिक भिन्नता धातु रूपों में दिखाई देती है। संस्कृत में 'अभिप्राय' (लेट Subjunctive तथा निबन्ध Injunctive) भावों के रूप लुप्त हो गए हैं। अभिप्राय के उत्तम पुरुष के रूप संस्कृत में अनुज्ञा (लोट Imparetive) में मिला लिए गए और निबन्ध भाव का प्रयोग केवल निषेधार्थक मा अव्यय के साथ ही रह गया है। संस्कृत में केवल वर्तमान काल में ही धातु के विभिन्न भावों के रूप उपलब्ध होते हैं तथा सामान्य अतीत के विधि (आशीर्लिङ्) के रूप ही मिलते हैं। वदिक भाषा के वर्तमान सम्पन्न तथा सामान्य भविष्यत् के भी कुछ-कुछ भावों के रूप मिलते हैं।'[३८]

संस्कृति में अनेक नवीन धातुओं की सृष्टि हुई है।

संस्कृत में कृदन्तों के प्रयोग के प्रति तो अभिरुचि अधिक है किन्तु अनेक रूप प्रतिबद्ध हैं, यथा—छान्दस में त्वा और त्यप् के प्रयोग में कोई नियम नहीं जबकि संस्कृत में उपसर्ग रहित धातु के साथ त्वा और उपसर्ग सहित धातु के साथ त्यप् का प्रयोग मिलता है।

संस्कृत में क्रियाजात विशेषणों तथा असमापक पदों का उतना प्राचुर्य नहीं है जितना छान्दस भाषा में है।

उपसर्ग और निपात—छान्दस में उपसर्गों को शब्द से पृथक लिखने की जो प्रथा थी वह प्रायः समाप्त हो गई। निपातों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई, साथ ही वदिक संस्कृत के तै, तवै तात् ताति त्वन् आदि कृदन्त तथा तद्धित प्रत्यय लुप्त हो गए। छान्दस में समास पद्धति तो पाई जाती है, पर संस्कृत में विशेषकर उत्तर काल में जितनी जटिल है वैसी नहीं। छान्दस में द्वन्द्व समास में दो प्रणालियाँ काम में लाई जाती हैं—पहली प्रणाली में दोनों पद विशेषण होते हैं, यथा—नील लोहित ताम्र धूम्र आदि। द्वितीय प्रणाली में दोनों पद द्विवचन में होते हैं यथा—मित्रा वरुणौ सूर्या चन्द्रमसौ, इन्द्रवायू पर संस्कृत में इन सब के स्थान पर द्वन्द्व समास में केवल अन्त्य पद के लिए द्विवचन का विधान कर उसका रूप स्थिर कर दिया गया, यथा—रामलक्ष्मणौ मातापितरौ।

कोष—संस्कृत के शब्द भण्डार को सर्वाधिक मात्रा में प्राकृत भाषाओं ने प्रभावित किया। वट निकट, विकट, नापित जसे शब्द प्राकृत हैं। तदुपरान्त

[३८] हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृष्ठ ६८।

द्रविड भाषाओ के शब्दो को भी सस्कृत म विद्वानो ने चिह्नित किया है, यथा—नारिकेल, कदली, तन्दुल, ताम्बूल, हरिद्रा आदि ।

साहित्य—सस्कृत साहित्य विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य के साथ तुलना के लिए रखा जा सकता है । वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, माघ दण्डी जैसे महाकाव्यकार, कालिदास भवभूति जसे नाटककार तथा भरत, दण्डी मम्मट विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ जैसे का यममज्ञ आचाय पाणिनि पतञ्जलि, वररुचि जैसे वैयाकरण और चरक तथा सुश्रुत जैसे आयुर्वेदाचाय सस्कृत भाषा ने पदा किए । दशनो का सूक्ष्म विश्लेपण सस्कृत भाषा की अपनी निधि है । गीता जैसी कम सिद्धान्त की पुस्तिका और वदान्त जसा अध्यात्म सिद्धान्त विश्व म वेजोड हैं । इनके अतिरिक्त सस्कृत भाषा म ज्योतिष, गणित, बीजगणित, रेखागणित जसे विपयो का भी सूक्ष्म निदशन है । कहने का तात्पय यह है कि वाङ्मय के सभी रूपो का विवेचन सस्कृत मे उपलब्ध होता है और वह भी उच्चकोटि का ।

---

तृतीय अध्याय

# मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाएँ

प्राच्या बोली का विकास—गौतम बुद्ध का अपनी मात भाषा मे ही उपदेश देना—प्राकृतों का प्रादुर्भाव—मध्यकालीन भारतीय आय भाषाओं का काल विभाजन—प्राकृत भाषाओं की प्रकृति पर विचार विमर्श—चण्ड, हेमचन्द्र, दण्डी वाग्भट्ट, मार्कण्डेय, षड्भाषा-चन्द्रिका, धनिक, प्राकृत-चन्द्रिका, पाश्चात्य एव आधुनिक भाषा वज्ञानिक—वैदिक सस्कृत और प्राकृतों का सम्बन्ध—प्राकृतों का प्रादुर्भाव—छान्दस से अथवा सस्कृत से—प्राकृतों की महत्ता का दिग्दर्शन—प्राकृतों की सख्या—कुवलयमाल कथा तथा अन्य वयाकरण एव डा चटर्जी मत।

तृतीय अध्याय

# मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाएँ

प्राच्या बोली का विकास—गौतम बुद्ध का अपनी मातृ भाषा मे ही उपदेश देना—प्राकृतों का प्रादुर्भाव—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का काल विभाजन—प्राकृत भाषाओं की प्रकृति पर विचार विमर्श—चण्ड हेमचन्द्र, दण्डी वाग्भट्ट, मार्कण्डेय, षड्भाषा-चन्द्रिका, धनिक, प्राकृत-चन्द्रिका, पाश्चात्य एव आधुनिक भाषा वैज्ञानिक—वैदिक सस्कृत और प्राकृतों का सम्बन्ध—प्राकृतों का प्रादुर्भाव—छान्दस से अथवा सस्कृत से—प्राकृतों की महत्ता का विवरण—प्राकृतों की सख्या—कुवलयमाल कथा तथा अन्य वैयाकरण एव डॉ चटर्जी का मत।

संस्कृत को यद्यपि समस्त उत्तर भारत ने एक साहित्यिक एव सास्कृतिक भाषा के रूप मे अपना लिया था, फिर भी भाषा का यह सघर्ष गौतम बुद्ध के काय क्षेत्र मे अवतरित होने तक गम्भीर रूप धारण कर चुका था। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि अनार्यो के सम्पर्क मे आने से छान्दस भाषा अपना स्वरूप सुरक्षित नही रख सकी थी और प्राच्य प्रदेश की भाषा छान्दस से इतनी दूर जा चुकी थी कि उदीच्य निवासी को उसे समझने मे कठिनाई होती थी। अत भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशो के प्रसार एव प्रचार के लिये अपनी मातृ भाषा को ही साधन बनाया और परिणाम स्वरूप प्राकृतो का प्रादुर्भाव हुआ। अब यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सस्कृत के समान प्राकृत भी कोई एक साहित्यिक भाषा थी जो समस्त भू-खण्ड पर अपना एकछत्र प्रभुत्व जमाए हुए थी, अथवा भिन्न भिन्न प्रदेशो मे भिन्न भिन्न नाम वाली प्राकृतें अपने साहित्य सजन में लीन थी। यदि साहित्य की प्राचीनता की दृष्टि से उपयुक्त बोलियो के अभ्युत्थान के इतिहास पर दृष्टिपात करे तो ऐसा लगता है कि मध्यकालीन भारतीय आय भाषा को तीन मुख्य वर्गो मे पर्वो अथवा अवस्थाओ मे विभाजित करना पडेगा, क्योकि ये तीनो वग अपनी विशेषताओ एव प्रवृत्तियो की दृष्टि अपने आप मे आदिकालीन भारतीय आय भाषा के तीन वर्गों की अपेक्षा अधिक अन्तर एव गहन विकास के चिह्नों को धारण किए हुए है।

इस विभाजन को डा चाटुर्ज्या ने अपनी पुस्तक, 'भारतीय आय भाषा और हिन्दी (पृष्ठ १०८ पर)', मे चार अवस्थाओ मे प्रदर्शित किया है—म भा आ की विभिन्न अवस्थाओं—प्राथमिक म भा आ परिवतन कालीन म भा आ द्वितीय या माध्यमिक म भा आ तथा अन्त्य म भा आ या अपभ्रश—किन्तु कुछ आगे चलकर आपने केवल उसे तीन तक ही सीमित कर दिया है—एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न आद्य, मध्य तथा अन्त्य म भा आ की विभिन्न बोलियो के प्रादेशिक सम्बन्धो का निरूपण करना है।[1] डॉ उदय नारायण तिवारी ने इसे पर्वो की सज्ञा दी है किन्तु अवस्थायें तीन ही निरूपित की हैं—जनपदीय भाषाओ का स्वरूप निरन्तर परिवर्तित परिवर्धित होता रहा। ६०० ई० पूव से १००० ई० तक के १६०० वर्षो तक भारतीय आय भाषा विभिन्न प्राकृतो तथा तत्पश्चात् अपभ्रश के रूप मे विकसित होती हुई आधुनिक भारतीय आय भाषाओ की जननी बनी। आय भाषा के मध्य-

[1] भारतीय आय भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०८ १०९।

कालीन स्वरूप के विकास का ठीक ठीक विवेचन करने के लिय १६०० वर्षों के इस काल को निम्न पर्वों मे बांटा जा सकता है—

१ प्रथम पव, जिसम लगभग २०० ई० पू तक प्रारम्भिक परिवतन तथा २०० ई० पूव से २०० ई० तक का विकास अ तभूत है।

२ २०० ई० से ६०० ई० तक द्वितीय पव।

३ ६०० ई० से १००० ई० तक तृतीय पव।

कुछ विद्वान् इन्हे—१ प्रथम प्राकृत २ द्वितीय प्राकृत व ३ तृतीय प्राकृत कहकर भी अपना काय सम्पन्न कर लेते हैं। हम इन्ह इन सभी अप्रत्यक्ष नामो से अभियक्त न कर प्रत्यक्ष एव स्पष्ट रूप म—१ पालि तथा अशोक के शिला लेखो की भाषा २ साहित्यिक प्राकृतें तथा ३ अपभ्रश—अभिहित करना ही उचित समझते हैं। वस्तुत विद्वानो ने मध्य भारतीय आय भाषा काल की समस्त भाषाओ को ही प्राकृत माना है और देश भद के अनुसार ही व इनका वर्गीकरण करते है जो उचित नही है। इससे पूव कि हम मध्यकालीन भारतीय आय भाषा की तीन अवस्थाओ का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन करें यह आवश्यक हो जाता है कि हम प्राकृत' शब्द क स्वरूप को समझ लें कि मध्यकालीन भाषा का नाम 'प्राकृत क्यो पडा ? प्राकृत शब्द पर विचार करते हुए प्राकृत वयाकरणो ने इसकी व्युत्पत्ति प्रकृति' शब्द से सम्पन्न की है। वे इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि किसी न किसी भाषा की प्रकृति होती है तथा उस प्रकृति से उत्पन्न रूप ही प्राकृत कहलाता है। प्रकृति शब्द का निवचन है—प्रक्रियते उत्पद्यते यया सा प्रकृति । सवप्रथम प्राकृत सवस्व के रचियता 'चण्ड न प्राकृत के लक्षण म बताया है कि प्राकृत वह भाषा विशेष है जिसकी योनि (उद्भूयते यस्या सा योनि) सस्कृत है। सस्कृत योनि इति प्राकृतस्य प्रकार लक्षितवान।[1] प्राकृत भाषा के महान् वयाकरण हेमचन्द्र ने भी अपने 'प्राकृत शब्दानुशासन म 'अथ प्राकृतम् (८ १ १) सूत्र की व्याख्या करत हुए लिखा है— प्रकृति सस्कृत है उससे उत्पन्न अथवा विकसित भाषा ही प्राकृत है। (अथ प्राकृतम् ८ १ १) प्रकृति सस्कृतम्। तत्र भव तत आगत वा प्राकृतम्।

दण्डी न अपन काव्यादश म भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किय हैं। आपके अनुसार महर्षियो ने सस्कृत को देववाणी कहकर उसकी व्याख्या की है। इसी देववाणी से विकसित अथवा इसी क समान शब्दों वाली अनक प्राकृता

---

१ अपभ्रश काव्य त्रयी भूमिका, पृष्ठ ८२।

का क्रम है ('संस्कृत नाम दैवी—वाग-वाख्याता महर्षिभि । तद् भवस्ततसमो देशीत्यनेक प्राकृत क्रम ) ।'[3]

वाग्भट्ट ने भी लगभग दण्डी से मिलते जुलते विचारो की ही, इस विषय पर अभिव्यक्ति की है। आपके अनुसार भी संस्कृत देवताओ की भाषा है तथा शब्द शास्त्र म उसका स्वरूप भी स्थिर कर दिया गया है। प्राकृत तो संस्कृत से विकसित तथा उन्ही के समान देशी शब्दो से युक्त अनेक प्रकार की है।

यथा—'संस्कृत स्वर्गिणा भाषा शब्द शास्त्रेषु निश्चिता। प्राकृत तज्ज तत्तुल्य देश्यादिकमनेकधा ।'[4] कथारूपकपरिभाषा म भी प्राकृत को संस्कृत की विकृति ही माना है। ( प्रकृते संस्कृतायास्तु विकृति प्राकृती मता। तद्भवा संस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा।) । (षड्भाषा चन्द्रिकायाम्)

प्रकृति संस्कृत। तत्र भव प्राकृतमुच्यते।' (मार्कण्डेय—पष्ठ १)

'प्रकृतेरागत प्राकृत, प्रकृति संस्कृतम्। (धनिक दशरूपक—वृत्ति २/६०)

'प्रकृति संस्कृत तत्र भवत्वात् प्राकृत स्मृतम्। (प्राकृत चन्द्रिका)

प्राकृतस्य सवमेव संस्कृतम् योनि । (वासुदेव कर्पूरमञ्जरी टीका)

उपर्युक्त उद्धरणो के अध्ययन के पश्चात् हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१ क्या मध्यकालीन प्राकृत भाषाए संस्कृत भाषा का विकृत रूप हैं?

२ क्या प्राकृतो की अपनी कोई लोक बोली थी? यदि हाँ, तो उस बोली का उदभव क्या है?

हम इससे पूर्व यह देख चुके हैं कि अनार्यों के सम्पर्क म आने से छान्दस भाषा मे विकार उत्पन्न होते जा रहे थ, इसका उल्लेख स्थान स्थान पर ब्राह्मण ग्रन्थो मे उपलब्ध होता है। 'र और 'ल का अभेद जिसकी ओर शतपथ-ब्राह्मण म ह अरय के स्थान पर हे अलय का उदाहरण देकर निर्देशित किया है। वह प्राच्य भाषाओ की विशेषता मागधी प्राकृत म भी उपलब्ध होती है। दूसरे प्राकृत भाषा मे प्राप्त अनेक तदभव शब्दो की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा से सिद्ध नही होती। विद्वानो का मत है कि उक्त शब्द छान्दस भाषा के उन शब्दो के तद्भव रूप हैं जिनका प्रयोग संस्कृत म बन्द हो गया था। ऋग्वेद मे अकारान्त शब्दो के प्रथमा एव तृतीया के बहुवचन मे देवा और देव रूपो के साथ साथ देवास और देवेभि' रूप भी उपलब्ध होते हैं। संस्कृत म अकारान्त शब्दो के क्रमश प्रथमा बहुवचन एव तृतीया बहुवचन के

---

[3] काव्यादर्श १/३३।

[4] वाग्भटालङ्कार २/२।

कालीन स्वरूप के विकास का ठीक ठीक विवेचन करने के लिए १६०० वर्षों के इस काल को निम्न पर्वों मे बाँटा जा सकता है—

१ प्रथम पर्व जिसमे लगभग २०० ई० पू तक प्रारम्भिक परिवर्तन तथा २०० ई० पूव से २०० ई० तक का विकास अन्तर्भूत है।

२ २०० ई० से ६०० ई० तक द्वितीय पर्व।

३ ६०० ई० से १००० ई० तक तृतीय पर्व।

कुछ विद्वान् इन्हे—१ प्रथम प्राकृत २ द्वितीय प्राकृत व ३ तृतीय प्राकृत कहकर भी अपना काम सम्पन्न कर लेते हैं। हम इन्हे इन सभी अप्रत्यक्ष नामो से अभिव्यक्त न कर प्रत्यक्ष एव स्पष्ट रूप मे—१ पालि तथा अशोक के शिला लेखा की भाषा २ साहित्यिक प्राकृतें, तथा ३ अपभ्रश—अभिहित करना ही उचित समझते हैं। वस्तुत विद्वानो ने मध्य भारतीय आय भाषा काल की समस्त भाषाओ को ही प्राकृत माना है और देश भद के अनुसार ही व इनका वर्गीकरण करते है, जो उचित नही है। इससे पूव कि हम मध्यकालीन भारतीय आय भाषा की तीन अवस्थाओ का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन करें, यह आवश्यक हो जाता है कि हम 'प्राकृत शब्द' के स्वरूप को समझ ■ कि मध्यकालीन भाषा का नाम 'प्राकृत क्यो पडा ? प्राकृत शब्द पर विचार करत हुए प्राकृत वयाकरणो ने इसकी व्युत्पत्ति प्रकृति' शब्द से सम्पन्न की है। वे इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि किसी न किसी भाषा की प्रकृति होती है तथा उस प्रकृति से उत्पन्न रूप ही प्राकृत' कहलाता है। प्रकृति शब्द का निवचन है—प्रक्रियते उत्पद्यते यया सा प्रकृति। सवप्रथम 'प्राकृत सवस्व के रचयिता 'चण्ड' ने प्राकृत के लक्षण मे बताया है कि प्राकृत वह भाषा विशेष है जिसकी योनि (उद्भूयते यस्या सा योनि) सस्कृत है। 'सस्कृत योनि इति प्राकृतस्य प्रकार लक्षितवान।[2] प्राकृत भाषा के महान वयाकरण हेमचन्द्र ने भी अपने 'प्राकृत शब्दानुशासन' मे 'अथ प्राकृतम (८११) सूत्र की व्याख्या करत हुए लिखा है—'प्रकृति सस्कृत है, उससे उत्पन्न अथवा विकसित भाषा ही प्राकृत है।' (अथ प्राकृतम् ८११) प्रकृति सस्कृतम्। तत्र भव तत आगत वा प्राकृतम्।

दण्डी ने अपने 'काव्यादश मे भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। *आपके अनुसार महर्षियो ने सस्कृत को देववाणी कहकर उसकी व्याख्या की है।* इसी देववाणी से विकसित अथवा इसी के समान शब्दो वाली अनेक प्राकृता

---

² अपभ्रश काव्य त्रयी भूमिका, पृष्ठ ८२।

का क्रम है ('संस्कृत नाम दैवी—वागन्वाख्याता महर्षिभिः । तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृत क्रमः') ।[3]

वाग्भट्ट ने भी लगभग दण्डी से मिलते जुलते विचारों की ही, इस विषय पर अभिव्यक्ति की है । आपके अनुसार भी संस्कृत देवताओं की भाषा है तथा शब्द शास्त्र में उसका स्वरूप भी स्थिर कर लिया गया है । प्राकृत तो संस्कृत से विकसित तथा उन्हीं के समान देशी शब्दों से युक्त अनेक प्रकार की है ।

यथा—संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्द शास्त्रेषु निश्चिता । प्राकृतं तज्ज तत्तुल्य देश्यादिकमनेकधा ।[4] वैयाकरणपरिभाषा में भी प्राकृत को संस्कृत की विकृति ही माना है । (प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता । तद्भवा सत्संस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा ।) । (षड्भाषा चन्द्रिकायाम्)

प्रकृतिः संस्कृतं । तत्र भवं प्राकृतमुच्यते । (मार्कण्डेय—पृष्ठ १)

*'प्रकृतेरागत प्राकृतं, प्रकृतिः संस्कृतम्'। (धनिक दशरूपक—वृत्ति २/६०)*

'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्' । (प्राकृत चन्द्रिका)

'प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतम् योनिः । (वासुदेव-कर्पूरमञ्जरी टीका)

उपर्युक्त उद्धरणों के अध्ययन के पश्चात् हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१ क्या मध्यकालीन प्राकृत भाषाएं संस्कृत भाषा का विकृत रूप हैं ?

२ क्या प्राकृतों की अपनी कोई लोक बोली थी ? यदि हाँ तो उस बोली का उद्भव क्या है ?

हम इससे पूर्व यह देख चुके हैं कि अनार्यों के सम्पर्क में आने से छान्दस भाषा में विकार उत्पन्न होते जा रहे थे इसका उल्लेख स्थान स्थान पर ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है । र और ल का अभेद जिसकी ओर शतपथ-ब्राह्मण में हेऽरयः के स्थान पर हेऽलयः का उदाहरण देकर निर्देशित किया है । वह प्राच्य भाषाओं की विशेषता मागधी प्राकृत में भी उपलब्ध होती है । दूसरे प्राकृत भाषा में प्राप्त अनेक तद्भव शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा से सिद्ध नहीं होती । विद्वानों का मत है कि उक्त शब्द छान्दस भाषा के उन शब्दों के तद्भव रूप हैं जिनका प्रयोग संस्कृत में बन्द हो गया था । ऋग्वेद में अकारान्त शब्दों के प्रथमा एवं तृतीया के बहुवचन में देवा और देवैः रूपों के साथ साथ देवासः और देवेभिः रूप भी उपलब्ध होते हैं । संस्कृत में अकारान्त शब्दों के क्रमशः प्रथमा बहुवचन एवं तृतीया बहुवचन में

---

[3] काव्यादर्श १/३३ ।

[4] वाग्भटालङ्कार २/२ ।

'आस और एभि' वाले रूपों का प्रयोग प्राप्त नहीं होता है। पालि में प्रथमा बहुवचन 'आ और आसे'[8] अन्त वाले रूप (दोनों) उपलब्ध होते हैं, यथा—देवा और देवासे'। तृतीया बहुवचन म संस्कृत मे स्वीकृत 'देवैं' रूप का अनुकरण न कर छान्दस ने 'देवेभि' के आधार पर बुद्धेहि और बुद्धेभि' रूपो के प्रयोग का प्रचलन दृष्टिगत होता है। आगे चलकर अन्य प्राकृतो ने भी छान्दस के 'एभि' वाले रूप को ही अपनाया है यथा—देवेहि, देवेहिं, देवेहिं। इन रूपो को देखते हुए लगता है कि मध्यकालीन आर्य भाषाओ का विकास संस्कृत की सरणि पर न होकर स्वतन्त्र रूप से हुआ है। अत संस्कृत को इन भाषाओ की योनि कहना औचित्य की सीमा म नही आता।

यदि हम यह बात मान लें कि छान्दस भाषा से ही अनेक प्रादेशिक बोलियो का विकास हुआ और इन्ही बोलियो का विकसित एव परिमार्जित रूप साहित्यिक प्राकृतें हैं तो हमारे सामने दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर तत्कालीन प्राकृत वैयाकरणो ने (जो इन भाषाओ को बोलते भी थे तथा इनके पण्डित भी थे) प्राकृतो का उद्भव संस्कृत से क्यो माना है? क्या वे गलती पर थे? प्राकृत के इन महान् पण्डितो को गलत कहना ऐसा ही होगा जैसा कि पाणिनि जैसे विद्वान् को संस्कृत का अल्प ज्ञाता कहना। क्योंकि जो स्थान संस्कृत मे पाणिनि का है, वही स्थान प्राकृतो म हेमचन्द्र चण्ड तथा मार्कण्डेय आदि का भी है। तो फिर हमे मान लेना चाहिए कि प्राकृतो का उद्भव संस्कृत से ही हुआ है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानो ने भी इसे स्वीकार किया है। यदि हम इसे स्वीकार करते हैं तो हमारे सामने यह समस्या आती है कि ब्राह्मण ग्रन्थो मे जिसे भ्रष्ट भाषा कहा गया है उसका क्या हुआ? या तो वे अपनी मौत स्वय मर गई या फिर उनका लिखित साहित्य उपलब्ध नही है। परन्तु बात ऐसी नही है। प्राकृत व्याकरणकारो ने जो कुछ कहा है उसको यदि हम गहराई से विचारें तो हमारी समस्या का समाधान हो जाता है। बात यह है कि व्याकरण तब लिखा जाता है जब कोई भाषा पूर्ण प्रकाश म आ जाती है तथा कवि और साहित्यकार उसे अपने विचारो की अभिव्यक्ति के लिए अपना लेते हैं। लक्षण ग्रन्थों की रचना हमेशा लक्ष्य ग्रन्थो के आधार पर होती है। जब चण्ड अपना 'प्राकृत-सर्वस्व' और हेमचन्द्र प्राकृत शब्दानुशासन लिख रहे थे संस्कृत उस समय सर्वोच्च वर्ग की एक समृद्ध भाषा थी जिसके सभी रूप स्थिर एव सिद्ध थे। भाषा का

---

[8] "प्रथमा के बहुवचन म कभी-कभी आसे प्रत्यय भी देखा जाता है और यह वैदिक रूप देवास' की छाया पर मात होता है।"

आद्यादत्त ठाकुर कृत पालि प्रबोध, पृष्ठ ३१।

एक अपना नियम और सिद्धान्त था। पठन और पाठन की वह भाषा थी तथा समाज की सर्वाधिक जनसख्या का वह सास्कृतिक निरूपण करती थी। अत ये विद्वान भी सस्कृत के गहन अध्ययन के पश्चात् ही देशी भाषाओं की ओर अग्रसर हुए होगे और उन सिद्ध शब्दा के साथ ही देशी भाषा में प्राप्त शब्दो की सगति बैठाने म अपने कत्तव्य की 'इति श्री' समझते रहे होगे। क्योंकि इन वयाकरणो द्वारा अपनाई गई शैली ठीक वसी ही है, जैसी कि सस्कृत वयाकरणा की थी। उसी प्रकार से लोप, आगम, आदेश आदि का विधान इन लोगो ने अपनी व्याकरणा म किया है। अत हो सकता है इस प्रकार से इन्होने प्रत्येक शब्द की सगति सस्कृत शब्दो के साथ बिठा कर इन्हें 'सस्कृतजा' कह कर छुट्टी ले ली हो। फिर एक बात यह भी है कि सस्कृत अधिकाशत छान्दस् जसी ही है। केवल छान्दस मे जो अनक रूपता पाई जाती थी उस पर ही विशेष प्रतिबन्ध सस्कृत मे दृष्टिगोचर होता है। अत उन अनेक रूपी शब्दो को छोडकर प्राकृत के अन्य रूपो एव ध्वनियो की सिद्धि सस्कृत के आधार पर सरलता से की जा सकती है। अत बहुत कुछ सम्भव है कि प्राकृत वयाकरणों न उन रूपो की ओर ध्यान न देकर केवल शेष रूपा की सिद्धि सस्कृत से सम्भव देखकर उन्हें सस्कृतजा कह दिया हो।

यद्यपि कतिपय स्थानो पर इस बात का विरोध भी प्राचीन ग्र थो मे उपलब्ध होता है किन्तु जहा कही इस बात का विरोध भी हुआ है तो वह भाषा वज्ञानिक न होकर पूणत धार्मिक रहा है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से प्राकृत के अधिकाश वयाकरण जन विद्वान हुए हैं। इन्होने प्राकृतो को सस्कृतजा' मान कर भी, अधमागधी को आदिम भाषा सिद्ध करने का खोखला प्रयास किया है। उस पशु एव पक्षियो द्वारा समझी जाने वाली भाषा कह कर शायद इन्हान अधिक गौरवान्वित करना चाहा है पर वैज्ञानिक दृष्टि से कही पर भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया गया कि अधमागधी सस्कृत या छान्दस की पूवजा किस प्रकार से सम्भव है? वाक्पतिराज ने प्राकृत को एक महासमुद्र कहा है जिससे सभी भाषाएँ उत्पन्न होती है[6]—

सकलाश्चेमा वाच प्राकृत महाणवाद निर्यान्ति तत्रैव च प्रविशन्ति।'

राजशेखर ने इसे सस्कृत की योनि कहा है—'तद् योनि किल सस्कृतस्य'।[7] अत जन विद्वानो या अन्य प्राकृत वयाकरणों या काव्य शास्त्रज्ञो ने कहने को तो कह दिया कि प्राकृत अधमागधी सस्कृत की योनि है पर क्यो? और कसे? यह बताने का कष्ट नही किया। अत इन विद्वानो के उक्त भाषाओं के

---

6 गउड वहो (गौडवध) सयलाओ इम वाया विसन्ति एत्तो य णेंति वायाओ।

7 काव्य मीमासा—भूमिका, पृष्ठ १६।

लिए जो प्रशस्ति-वाक्य उपलब्ध होते हैं वे केवल मात्र धार्मिक कट्टरता के ही सूचक हैं शुद्ध भाषा वैज्ञानिक तथ्य नहीं। अतः उन्हें सिद्धान्त सूत्र नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त उन प्राकृत वैयाकरणों की मान्यता कि प्राकृतों का उद्भव संस्कृत से हुआ है, सही नहीं प्रतीत होती, क्योंकि भाषा-वैज्ञानिक तथ्य एवं पुरातन संकेत यह द्योतित करते हैं कि मध्यदेशीय एवं प्राच्य बोलियाँ संस्कृत के अस्तित्व में आने से पहले ही प्रकाश में आ चुकी थीं। उक्त बोलियाँ ही वस्तुतः मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के विकास का आधार हैं। अतः समझ में नहीं आता कि संस्कृत प्राकृत भाषाओं की योनि कैसे कही गई? डॉ॰ श्यामसुन्दर ने साहित्यिक प्राकृतों से अनेक ऐसे शब्दों को उद्धृत किया है जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत व्याकरण से सिद्ध नहीं की जा सकती। इनके मत से ऐसे शब्दों का उद्भव संस्कृत से नहीं छान्दस से हुआ है।[8] किसी भाषा में प्राचीन भाषा के तद्भव रूपों की प्राप्ति भी इस बात की पुष्टि नहीं करती कि वह उसकी जन्मदात्री है और इसका तात्पर्य यह भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि उस भाषा विशेष का उद्भव उसकी पूर्ववर्ती भाषा से न होकर पूर्ववर्ती भाषा की पूर्ववर्ती भाषा से हुआ है। यदि इसे सिद्धान्ततः स्वीकार कर लेंगे तो कम से कम हिन्दी और बंगला का उद्भव तो सीधे संस्कृत से स्वीकार करना पड़ेगा।

सिद्धान्ततः जिस भाषा के सुबन्त एवं तिङन्त रूप अपनी पूर्ववर्ती भाषा के सुबन्तों एवं तिङन्तों के तद्भव रूप हों तथा जिस भाषा की प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ उस भाषा की अन्तिम प्रवृत्तियों—ध्वन्यात्मक रूपात्मक आदि—के साथ साम्य प्रकट करती हों तभी कहा जा सकता है कि अमुक भाषा का विकसित रूप अमुक भाषा है। संक्षेप में कह सकते हैं कि दोनों के प्रकृति और प्रत्ययों में संगति होनी चाहिए जो विकास के सूत्र से संवलित हो।

उपर्युक्त मान्यता के आधार पर यदि हम प्राकृत भाषाओं का परीक्षण करें तो परिणाम स्पष्ट है कि संस्कृत व्याकरण के नियमों में इतनी निबद्ध कर दी गई थी कि उसका तुरन्त विकास होना सम्भव नहीं था। यद्यपि विकास के इस प्रवाह को पाणिनि की अष्टाध्यायी भी पूर्णतया अवरुद्ध करने में सफल न हो सकी क्योंकि पूर्ववर्ती संस्कृत और परवर्ती संस्कृत की प्रकृति में एक सूक्ष्म विकास का सूत्र देखा जा सकता है और पतञ्जलि का महाभाष्य पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या ही नहीं है, बल्कि संस्कृत के विकसित नवीन रूपों की सिद्धि का प्रस्तुतीकरण भी है। दूसरे यदि हम डॉ॰ चाटुर्ज्या को प्रमाण मानें तो संस्कृत का उदय ई॰ से ५०० वर्ष पूर्व स्वीकार करना

---

[8] हिन्दी भाषा और साहित्य पृष्ठ ११ १२।

पडेगा। इन्होने डा० हेमचन्द्र राय चौधरी द्वारा प्रदत्त पाणिनि के जन्म काल की तिथि ही अधिकृत एवं सही रूप मे स्वीकार की है।[9] ठीक इसी तिथि के आस पास तथा कुछ इससे भी पहले आर्यों मे प्राकृतो की आधारभूत बोलियां प्रकाश मे आ चुकी थी। अतः वे प्राकृतें जो संस्कृत के साथ साथ साहित्यिक क्षेत्र में अवतरित हो चुकी थी कभी भी संस्कृत से विकसित भाषाएँ नही कही जा सकती। जब हम यह मान्यता स्वीकार कर लेते हैं तो हमारे समक्ष एक प्रश्न और उपस्थित होता है जिसका उत्तर अवश्यम्भावी है और वह यह कि फिर प्राकृत वैयाकरणो ने संस्कृत को प्राकृत भाषाओ की प्रकृति योनि अथवा उत्पादिका आदि क्यो कहा है? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि संस्कृत और छान्दस का अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है और वह अन्तर यह है कि छान्दस के कतिपय प्रयोगो और शब्द रूपो का संस्कृत मे लोप हो गया। शेष प्रयोगों और शब्द रूपो में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगत नही होता जिससे कि प्राकृत शब्दो की तरह संस्कृत शब्दो को भी तद्भवादि शब्दो की कोटि में रखा जा सके। संक्षेप मे इस यो भी स्पष्ट किया जा सकता है कि संस्कृत छान्दस का ही वह व्यवस्थित रूप है जिसमे व्यक्तिगत स्वच्छन्दता के लिए कोई स्थान नही रहा। दूसरे इस तथ्य से भी हम दूर नही जा सकते कि प्राकृत व्याकरणो के निर्माण काल के समय संस्कृत का प्रभाव उल्लेखनीय था। वह न केवल भारत मे एक बहुत बडे शिक्षित और अशिक्षित समुदाय की ही समादृत भाषा थी बल्कि प्रायः समस्त एशिया मे इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसे 'संस्कृत की दिग्विजय' घोषित किया है—'संस्कृत की भारत और भारत से बाहर दिग्विजय की उपरिलिखित कुछ अप्रासंगिक चर्चा का उद्देश्य चार संस्कृतियां—एक आर्य और तीन अनार्य (द्रविड़ निषाद एवं किरात) के भारत में हुए एकीकरण का महत्त्व दिखलाना था।[10] अतः ऐसी स्थिति मे प्राकृत वैयाकरण भी संस्कृत की इस चकाचौंध में छान्दस भाषा के स्वरूप को न पहचान सके हो तो कोई आश्चर्य नही तथा दूसरे प्राकृत के अधिकांश शब्द रूप इस प्रकार के है जो संस्कृत शब्दो के तद्भव रूप कहे जा सकते हैं क्योंकि संस्कृत मे वे शब्द छान्दस भाषा से तत्सम रूप मे आ गए थे और उन्हे ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया गया था। अतः प्राकृत शब्दावली समान रूप से छान्दस भाषा की शब्दावली और संस्कृत भाषा की शब्दावली का तद्भव रूप कही जा सकती है। यदि ऐसी बात है तो फिर प्राकृत वैयाकरणो ने प्राकृत भाषाओ का सम्बन्ध छान्दस भाषा से क्यो नही

---

[9] भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृष्ठ ७७।

[10] वही, पृष्ठ ६५।

स्थापित किया, संस्कृत में ही क्या किया ? उत्तर स्पष्ट है कि बौद्धों एवं जैनों का, जिनके धर्म का अभ्युदय ही वैदिक ऋषियों एवं ब्राह्मणों की यज्ञ प्रधान संस्कृति के विरोध में हुआ था तथा इन भाषाओं पर जिनका पूर्ण आधिपत्य था, छान्दस भाषा के प्रति आन्तरिक वैमनस्य हो सकता है। भगवान् तथागत का अपने शिष्यों को उनके उपदेशों को छान्दस में अनूदित करने की अनुमति न देना ही इसका प्रमाण है। "जब प्राच्या बोली छान्दस तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा से इतनी दूर चली गई कि उदीच्य प्रदेश से आने वाले व्यक्ति के लिए प्राच्यों की भाषा को समझने में कठिनाई होने लगी, तो बुद्ध के दो ब्राह्मण शिष्यों ने यह प्रस्ताव रखा था कि तथागत के आदेशों को प्राचीन भाषा छान्दस अर्थात् सुशिक्षितों की साधुभाषा में अनूदित कर लिया जाए, परन्तु बुद्ध ने इसे अस्वीकृत कर दिया और साधारण मानवों की बोली को ही अपने प्रवचन प्रसार का माध्यम रखा। उनका यह अनुरोध रहा कि समस्त जन उनके उपदेश को अपनी मातृभाषा में ही ग्रहण करें।[11] इससे सिद्ध होता है कि ये लोग छान्दस को किसी भी तरह का महत्त्व देने के लिए तत्पर न थे। एक यह भी कारण हो सकता है कि बौद्ध और जैन विद्वान् संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते थे तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में संस्कृत के लिए उनके हृदय में भी आदर की भावना थी। इसीलिए इन्होंने संस्कृत भाषा को प्राकृतों का मूल माना जो कि वास्तव में नहीं है।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत भाषा से प्राकृतों का उद्भव किसी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राकृतों का उद्भव छान्दस भाषा और उसकी बोली (यदि कोई थी तो) के ही विकसित रूप का परिणाम है। ये प्राकृतें देश भेद के अनुसार अर्थात् भिन्न प्रदेशों में कुछ अन्तर से बोली जाने के कारण अनेक थीं। 'कुवलयमाल कहा'[12] 'राज प्रश्नीय सूत्र',[13]

---

[11] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी ('सकाय निरुत्तिया' से उद्धृत अवतरण के अनुसार) पृष्ठ ७६।

[12] जाव यो अन्तरे दिट्ठ इमिणा आवेयय। (व) ति अपसारया बुद्धक्य विक्कय पयत्त वट्टमाण कलयरव हट्टमग्ग ति। तत्थय पवि समाणेठ दिट्ठ अणेय देस भासा लक्खिए देस वणिए इअ अट्ठारस देसी भासाउ पुलहऊण सिरि अत्तो। अण्णाइ अ पुल एई खस पारस ब बरादीए। (कुवलयमाल कहा—अपभ्रंश का यत्रयी की भूमिका, पृष्ठ ६१ तथा ६४ से उद्धृत)

[13] तए ण से दढ पतिण्णे दारए उम्मुक बाल भावे विण्णाय परिणयमित्ते जोव्वण गमणुपत्ते बावत्तरि कला पडिए अट्ठारस विह देसिप्पगार भासा विसारिए णवग सुत्त पडि बोहए गीय रई गधव्व नट्ट कुसले सिंगारागार चारु वेसे। (राज प्रश्नीय सूत्रे—आ० समिति० प्र०, पृष्ठ १४८)

औपपातिक सूत्र,[14] विपाक सूत्र,[15] ज्ञान सूत्र [16] जन सिद्धात, जिनदास महत्तरेण[17] आदि मे अठारह प्राकृतो का वणन आता है जिन्हे देशी भाषा के नाम से व्यवहृत किया गया है। कुवलयमाल' ग्रन्थ म एक वृत्तान्त आता है कि श्रीदत्त ने थोडे से अतर पर अनेक व्यापारियो से आपूरित पण्य वीथि को देखा जहाँ पर व्यापारी लोग अपनी-अपनी भाषा में वार्तालाप कर रहे थे। इस प्रकार श्रीदत्त ने अठारह देशी भाषाओ मे बोलने वालों को वहाँ पर देखा। इसके अतिरिक्त पारस खस बब्बरी आदि भाषा भाषी जनो को भी देखा। कुछ ऐसी ही कथाएँ जन सूत्र ग्रन्थो म भी मिलती हैं।

जैन सूत्र ग्रन्थो मे जो अधिकाशत अधमागधी भाषा मे लिखे गए हैं, ऐसे अनेक वृत्त आते हैं जिनम अठारह देशीय भाषाओ का प्रसङ्ग आता है। कही किसी राजकुमार को अठारह भाषाओ का पडित बताया गया है, तो कहीं गणिकाओ को अष्टादश भाषा विशारदा कह कर सम्बोधित किया गया है। सूत्र ग्रन्थो की अधमागधी, साहित्यिक अधमागधी, जिसकी गणना महाराष्ट्री आदि के साथ की जाती है से अत्यन्त प्राचीन है। इसलिए डॉ सक्सेना ने इसे प्राचीन अधमागधी नाम से अभिहित किया है। इस तरह हम कह सकते हैं कि पालि के समय म ही समानान्तर रूप से उक्त अधमागधी भी विकसित हो चुकी थी और उसमे सूत्र ग्रन्थ लिखे जाने प्रारम्भ हो गए थे। इन ग्रन्थो म अठारह देशय भाषाओ का वणन यह सिद्ध करता है कि उस समय म (चाहे भाषाओ के रूप म नही) ये बोलियाँ निश्चय ही प्रकाश मे आ चुकी होंगी।

---

[14] तए ण से दढ पइण्णो दारए बावत्तरि कला पडिए नवग सुत्त पडि बोहिए अट्ठारस दसि भासा विसारिए गीय रत्ती गधव्वणट्ट कुसले।
(औपपातिक सूत्र—आ० समिति प्र० पृष्ठ ६८)

[15] तत्थ ण वाणिय गामे कामज्झया नाम गणिया होत्था। बावत्तरि कला पडिया चउसट्ठी ढ्ढिगणिया गुणोववेया एगूणतीस विसेसे, रमयणि एक्कवीस रति गुणप्पहाणा बत्तीस पुरिसोवचार कुसला णवग सुत्त पडिबोहिया अट्ठारस दसि भासा विसारिया सिंगारागार चारु वेसा गीय रई गधव्व नट्ट कुसला।
(विपाक सूत्रे—अ० २, सू० ८ आ० समिति० प्र०, पृष्ठ ४५)

[16] ■ तेण से ये हे कुमारे बावत्तरि कला पडिए णव गध सुयत्त पडि बोहिए, अट्ठारस विहिप्पयार देसि भासा विसारिए गीय रई गधव्व नट्ट कुसले।
(ओ० इ० ता० प० २५ आ० समित्ति प्र०, पृष्ठ ३८)

[17] तत्थ ण चपाए णयरीए देवदत्ता णाम गणिया परिवसइ चउसट्ठि कला पडिया चउसट्ठि गणिया गुणोववेया अउणतीस विसेस रममाणी एक्कवीस रइगुण प्पाहाणा बत्तीस पुरिसोवचार कुसला, णवग सुत्त पडिबोहिगा अट्ठारस देसि भासा विसारया सिंगारागार चारु वेसा। (ओ० इ० ता० प० ७१ आ० समिति प्र० पृष्ठ ६२)

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि देशी भाषाएँ छान्दस युग से ही पनप रही थी जिनमे सर्वप्रथम उदीच्य वालो ने अपनी बोली के आधार पर सस्कृत का स्वरूप निर्धारण कर उसे साहित्यिक रगमञ्च पर प्रतिष्ठित किया। इसके पश्चात् मध्यदेशीय बोली से विकसित पालि भाषा ने साहित्यिक वेश भूषा धारण की और इसके साथ ही साथ प्राच्या बोली ने मागधी के नाम से साहित्य ससार मे प्रवेश किया। इन दोनो प्रदेशो के मध्य जन-साधारण मे एक अन्य बोली भी प्रचलित थी जिसमे मध्यदेशीया एव प्राच्या के तत्त्व मिश्रित थे। इस बोली के विकसित साहित्यिक रूप को वैयाकरणो ने अर्धमागधी भाषा के नाम से अभिहित किया। जैन धर्म के प्रचारको ने इस ही अपनी धार्मिक भाषा स्वीकार कर इसके माध्यम से अपने धर्म का प्रचार किया। जब मागधी और अर्धमागधी लगभग साहित्यिक स्वरूप या परिनिष्ठित रूप ग्रहण कर चुकी थी, उस समय अपनी पूर्ण शक्ति के साथ मध्यदेश मे एक अन्य भाषा पनप रही थी जिसका प्राचीन रूप पालि कहा जा सकता है (यद्यपि अभी सभी विद्वान् इस पर एक मत नही हैं), उसे विद्वानो ने शौरसेनी प्राकृत के नाम से अभिहित किया। उपर्युक्त प्राकृतो के साथ साथ प्राकृत वैयाकरणो ने एक अन्य प्राकृत भाषा का नाम गिनाया है जिसे महाराष्ट्री कहा जाता है। महाराष्ट्री जैसा कि इसके नाम से भी व्यञ्जित होता है तथा प्राकृत वैयाकरणो ने भी स्वीकार किया है कि यह महाराष्ट्र प्रदेश की बोली का विकसित साहित्यिक रूप है परन्तु आधुनिक भाषा विज्ञ इससे सहमत नही हैं। ये इसे शौरसेनी प्राकृत का पश्चकालीन विकसित रूप मान कर चलते हैं। यह भाषा अपने समय की सर्वाधिक लोक प्रिय भाषा रही है। प्राकृत वयाकरणो ने तो प्राकृत शब्द को महाराष्ट्री का पर्यायवाची ही बना दिया है।

उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मध्यकाल मे प्राकृत भाषाए जिनका न्यूनाधिक साहित्य आज भी उपलब्ध है देश भेद के अनुसार सात रूपो मे प्रचलित थी—(१) पालि (२) शौरसेनी (३) मागधी (४) अर्धमागधी (५) महाराष्ट्री, (६) पशाची तथा (७) अपभ्रंश।

इन सभी भाषाओ को सस्कृत की छोटी बहन कहा जा सकता है क्योकि इनका विकास भी सस्कृत के [illegible] तर छान्दस भाषा से सम्भूत लगता है। डा० चाटुर्ज्या के मत से भी [illegible] होती है कि सस्कृत के पश्चात वे म [illegible] ड जिन्ह हम [illegible] उसी के कनीयस रूप कह सकत

प्राचीन वैदिक भाषा से ही प्राकृतो की उत्पत्ति हुई है, अर्वाचीन सस्कृत से नही।[19] डा बाबूराम सक्सेना ने भी पालि भाषा के विकास पर विचार करते हुए यही मान्यता स्थापित की है कि पालि म कुछ लक्षण ऐसे मिलत हैं जिनसे हम यह निश्चयपूवक कह सकते है कि इसका विकास उत्तरकालीन सस्कृत की अपेक्षा वदिक सस्कृत और तत्कालीन बोलिया से मानना अधिक उचित है। तृतीया बहुवचन म अकारान्त सज्ञाओ का एभि प्रत्यय और प्रथमा बहुवचन म आस के विकल्प म आस धातु (यथा गम) और धात्वादेश (यथा अच्छ) के प्रयाग मे भेद का अभाव, अडागम (हसीत=अहसीत्) का प्राय अभाव आदि बातें उदाहरण हैं। सस्कृत के 'इह' के स्थान म पालि इध पाया जाता है जो वदिक-पूव भाषा का अवशेष समझा जाता है।[20]

---

[19] हिन्दी भाषा और साहित्य पृष्ठ ११ १२।
[20] सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ २६३।

चतुथ अध्याय

# पालि एवं अशोक के शिला-लेखो की भाषाएँ

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति एवं इतिहास—पालि किस क्षेत्र की भाषा थी—विद्वानों के मतों की समीक्षा एवं निष्कर्ष—पालि का ध्वन्यात्मक विवेचन—पालि की रूपात्मक स्थिति—पालि का शब्द कोष—अशोकी शिला लेखों की भाषा—पालि से छान्दस का साम्य और वैषम्य—ध्वनि और रूप।

## 'पालि' शब्द का निर्वचन और उसका भाषा के अथ मे प्रयोग

संस्कृत भाषा को छोड कर प्राय अन्य समस्त भारतीय भाषाओ का नाम किसी न किसी प्रदेश विशेष के नाम पर पाया जाता है। अत पालि के नाम करण के रहस्य को जानने की अभिरुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। 'अभिधानप्पदीपिका' में पालि शब्द की निरुक्ति तन्ति बुद्ध वचन तथा पक्ति अथ देते हुए पा रक्षणे धातु स की गई है—'पा पालेति रक्खतीति पालि'। कुछ विद्वान् इसी को आधार मान कर इसे भाषा रूप मे स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु भिक्षु जगदीश काश्यप इससे सहमत नही हैं। उनका कहना है कि यह निरुक्ति उस समय की गई है जब पलियाय और पालि का सम्बन्ध विच्छेद हो चुका था। पालि शब्द की व्युत्पत्ति के लिए तीन विद्वानो के मत विचारणीय हैं—

(१) भिक्षु जगदीश काश्यप का मत—पालि शब्द का विकास 'परियाय पलियाय शब्द से हुआ है। इसके लिए आपने दो तक दिए हैं। एक तो यह कि परियाय शब्द का अथ बुद्ध वचन होता है और इस अथ मे इस शब्द का प्रयोग 'दीघनिकाय' 'अगुत्तर निकाय' तथा 'भब्रु शिला लेख' मे बुद्ध देसना के अथ म प्रयोग किया गया है। मुझे इस विचार के लिए यही कहना है कि र के स्थान पर ल' का आदेश मागधी भाषा की विशेषता है अत 'पालि' मागधी भाषा का शब्द ठहरता है पालि भाषा मे इसके स्थान पर पारि' शब्द का प्रयोग मिलता है, यथा—'अय धम्म परियायेति—('अगुत्तर निकाय')। इम धम्म परियाय अत्थ—(दीघनिकाय—ब्रह्मजाल सुत्त)। अत यह बात समझ मे नही आतीकि पालि के अनुयायियो ने इसके लिए 'पारि 'शब्द को न अपनाकर 'पालि मागधी शब्द को क्या अपनाया ?

(२) भिक्षु सिद्धाथ का मत—आपका कथन है कि पालि शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत 'पाठ' शब्द से हुई है। आपके अनुसार बहुत से वेदपाठी ब्राह्मण भी बौद्ध धम मे दीक्षित हुए और अपने साथ अनेक वैदिक शब्दो को भी लेकर आए। बौद्ध धम ने उन्हे स्वीकार भी कर लिया। अत पाठ शब्द वेदो के पाठ स्वाध्याय के लिए प्रयुक्त होता था और इसी अथ म यह यहाँ भी अर्थात बुद्ध वचना के पाठ के अथ म प्रयुक्त होने लगा और धीरे धीरे भाषावाची हो गया। आपके अनुसार सस्कृत मूधन्य ध्वनियाँ पालि भाषा म ल' मे बदल जाती हैं। अत पाठ का पालि मे हुआ पाल और मिथ्या सादृश्य के आधार पर पाल का हो गया 'पालि। मैं समझता हूँ कि एक शब्द को केवल सिद्धान्त

उपर्युक्त दोषो के होते हुए भी यह मत विचारणीय है। यदि पालि का अर्थ एक 'जमायत' की अथवा सघ की भाषा लिया जाए तो इस शब्द का उपर्युक्त लाक्षणिक अर्थ 'पक्ति' शब्द के साथ असगत न होगा। इन तीन मतो के अतिरिक्त एक अन्य मतानुसार 'पालि' शब्द का अर्थ किया जाता है— पाटलिपुत्र की भाषा'। ये 'पाटलि' शब्द के मध्यस्थ 'ट' लोप कर पालि शब्द निष्पन्न करते हैं। दूसरा एक मत और प्रचलित है जिसके अनुसार 'पल्लि' (ग्राम) शब्द से 'पालि' की व्युत्पत्ति हुई मानी जाती है। उक्त दोनों मत पुष्ट भाषा वैज्ञानिक एव ऐतिहासिक तथ्यो के अभाव से ग्रस्त होने के कारण विशेष महत्व नही रखते।

फिर पालि से क्या तात्पर्य है? प्रश्न विचारणीय ही रहता है। बात वास्तव मे यह है कि प्रारम्भिक समय मे मूल त्रिपिटक ग्रन्थो के लिए पालि शब्द का प्रयोग उसी प्रकार किया जाता था जिस प्रकार वेदो के लिए 'सहिता' शब्द का। अमुक बात ऋग्वेद सहिता में है, अमुक यजुर्वेद सहिता में इसी प्रकार बौद्ध साहित्य मे पालि शब्द का प्रयोग हुआ है—'पालि मत्त इध आनीत, नत्थि अट्ठकथा इध'—यहाँ केवल पालि लाई गई है यहाँ अर्थ कथा नहीं है—उक्त पद मे पालि शब्द का प्रयोग 'मूल त्रिपिटको' के लिए किया गया है। अन्यत्र भी ऐसा ही प्रयोग देखिये— नेव पालिय न अट्ठकथाय दिस्सति, इमिस्सा पन पालिया एवमत्थो वेदितब्बो। इस वाक्य मे 'पालि' शब्द का प्रयोग मूल ग्रन्थो के लिए ही हुआ है। कालान्तर मे 'मूल ग्रन्थो की भाषा के लिए भी 'पालि की भाषा'—इस प्रकार का प्रयोग भी अवश्य चलता रहा होगा और बाद में केवल भाषा का द्योतक बनकर रह गया होगा। अब दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या फिर 'पालि' से तात्पर्य मागधी भाषा होगा? क्योकि मूल त्रिपिटको की भाषा मागधी थी। अब इसमे किसी भ्रम के लिए स्थान नही है कि त्रिपिटको में जो प्रवचन लिपिबद्ध हैं, उनकी मूल अभिव्यक्ति गौतम बुद्ध ने अपनी मातृ भाषा मे की थी। वह मातृ भाषा कोई और नहीं मागधी ही थी। साथ ही गौतम बुद्ध के शिष्यो की इस भावना को कि भगवान् तथागत के प्रवचनो को छद मे लिपि बद्ध कर दिया जाए यो ही टाला नही जा सकता। मध्यदेश के प्रति उस समय के लोगो का जो लगाव था, वह असाधारण नही था। अपनी प्रार्थमिक पुण्य भूमि के प्रति जो लगाव होता है वह असाधारण नही होता। अत मैं ऐसा अनुमान करता हूँ कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात जब इन प्रवचनो को, जो पहले मौखिक थे, लिपि बद्ध करने का प्रश्न आया होगा, तो निश्चय जनमत मध्यदेश की भाषा के पक्ष मे रहा होगा। कारण स्पष्ट है कि उस बोली के बोलने वालो की सख्या अधिक रही होगी। साथ ही कुछ लोगो के मन में मध्यदेश की भाषा के प्रति विद्वेष की भावना भी रही होगी।

रुप मे सिद्ध करने हेतु भिक्षु सिद्धाथ को इतनी क्लिष्ट कल्पना करने की क्या आवश्यकता पड गई थी ? कुछ विद्वानो के मस्तिष्क मे अनेक भाषा वज्ञानिक भ्रम हैं, जिनका निराकरण परम वाञ्छनीय है। पहला तो यह कि भाषाओ का विकास किसी सिद्धान्त विशेष को सम्मुख रखकर नही किया जाता, बल्कि विकास (इस अथ म) किया नही जाता है हो जाता है। जनसाधारण अपनी गति से चलता रहता है और भाषा का विकास भी होता रहता है। अत विकास के किसी एक नियम को, विशेष कर ध्वन्यात्मक परिवतन के क्षेत्र म, सवत्र लागू कर, देखना उचित नही है। उदाहरण के लिए कुछ नव्य भारतीय आय भाषाओ मे 'स' के स्थान पर 'ह' पाया जाता है। पर यह आदेश सवत्र नही देखा जाता, यथा—'दसले' को हिन्दी मे 'दहला' तो हो जाता है पर दस का 'दह' नही होता। सिन्धी मे 'डह' हो जाता है। इसी प्रकार मुख का 'मुह' हो जाता है पर सुख का 'सुह' या दुख का 'दुह' नही होता। अत 'ठ' का 'ल' और फिर 'लि' और पुन 'लि' हो जाए, इतना विकास भाषा मे हुआ हो ऐसा लगता नही। दूसरे इन विकास के स्तरो का प्रयोग भाषा मे उपलब्ध तो होना ही चाहिए या घर बठे ही विकास होता रहता है। मैं समझता हूँ नियम बाद मे बनता है और विकास पहले हो जाता है। सिद्धाथ महोदय ने विकास सूत्र की कड़ियो का ऐतिहासिक विवरण कही पर भी प्रकट नहीं किया।

(३) प० विधुशेखर भट्टाचाय का मत—आपके कथनानुसार पालि शब्द का एक अथ अभिधानप्पदीपिका' म पक्ति भी दिया है—'तन्ति बुद्धवचन पन्ति पालि'। अत पहले पालि शब्द पक्ति के अथ मे प्रयुक्त होता था, बाद म ग्रन्थ की पक्ति के अथ म प्रयुक्त होने लगा। बुद्धघोष ने पालि शब्द का प्रयोग इसी अथ मे किया है। श्री भिक्षु जगदीश काश्यप ने इसका खण्डन किया है तथा इसमे तीन दोष बताए हैं—

(१) पक्ति के लिए लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है। त्रिपिटक प्रथम शतक ई० पूव से पहले लिखा नही गया था। अत उस समय के लिए त्रिपिटक के उदधरण के लिए पालि या पक्ति शब्द का व्यवहार करना जचता नहीं है।

(२) पालि साहित्य म कही भी पालि शब्द का ग्रन्थ की पक्ति के अथ म प्रयोग नही किया गया। मूल त्रिपिटक क ग्रन्थो के अन्दर कही भी पालि शब्द का प्रयोग नही देखा जाता। हाँ ग्रन्थ के नाम के साथ अवश्य ही पालि शब्द जोड दिया जाता है। ऐसी स्थिति मे पालि' शब्द का अथ पक्ति लें तो "उदान पालि' से 'उदान पक्ति' शब्द का कोई अथ नही निकलता।

(३) पालि शब्द का प्रयोग पक्ति के अथ म है तो उसे सवत्र बहुवचन म प्रयुक्त होना चाहिये था जबकि इस शब्द का सवत्र एक वचन म प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी यह मत विचारणीय है। यदि पालि का अर्थ एक 'जमायत' की अथवा संघ की भाषा लिया जाए तो इस शब्द का उपर्युक्त लाक्षणिक अर्थ 'पवित्र' शब्द के साथ असंगत न होगा। इन तीन मतों के अतिरिक्त एक अन्य मतानुसार पालि शब्द का अर्थ किया जाता है— पाटलिपुत्र की भाषा'। ये 'पाटलि' शब्द में मध्यस्थ 'ट' लोप कर पालि शब्द निष्पन्न करते हैं। दूसरा एक मत और प्रचलित है जिसके अनुसार 'पल्लि' (ग्राम) शब्द से 'पालि' की व्युत्पत्ति हुई मानी जाती है। उक्त दोनों मत पुष्ट भाषा वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव से ग्रस्त होने के कारण विशेष महत्व नहीं रखते।

फिर 'पालि' से क्या तात्पर्य है? प्रश्न विचारणीय ही रहता है। बात वास्तव में यह है कि प्रारम्भिक समय में मूल त्रिपिटक ग्रन्थों के लिए 'पालि' शब्द का प्रयोग उसी प्रकार किया जाता था जिस प्रकार वेदों के लिए संहिता' शब्द का। अमुक बात ऋग्वेद संहिता में है, अमुक यजुर्वेद संहिता में, इसी प्रकार बौद्ध साहित्य में पालि' शब्द का प्रयोग हुआ है—'पालि मत्त इध आनीत, नत्थि अट्ठकथा इध'—यहाँ केवल पालि लाई गई है, यहाँ अर्थ कथा नहीं है—उक्त पद में 'पालि शब्द का प्रयोग 'मूल त्रिपिटकों के लिए किया गया है। अन्यत्र भी ऐसा ही प्रयोग देखिये—'नेव पालियं न अट्ठकथायं दिस्सति, इमिस्सा पन पालिया एवमत्थो वेदितब्बो।' इस वाक्य में 'पालि शब्द का प्रयोग मूल ग्रन्थों के लिए ही हुआ है। कालान्तर में मूल ग्रन्थों की भाषा के लिए भी 'पालि की भाषा'—इस प्रकार का प्रयोग भी अवश्य चलता रहा होगा और बाद में केवल भाषा का द्योतक बनकर रह गया होगा। अब दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या फिर 'पालि से तात्पर्य मागधी भाषा होगा? क्योंकि मूल त्रिपिटकों की भाषा मागधी थी। अब इसमें किसी भ्रम के लिए स्थान नहीं है कि त्रिपिटकों में जो प्रवचन लिपिबद्ध हैं, उनकी मूल अभिव्यक्ति गौतम बुद्ध ने अपनी मातृ भाषा में की थी। वह मातृ भाषा कोई और नहीं, मागधी ही थी। साथ ही गौतम बुद्ध के शिष्यों की इस भावना को, कि भगवान् तथागत के प्रवचनों को छन्द में लिपि बद्ध कर दिया जाए, यों ही टाला नहीं जा सकता। मध्यदेश के प्रति उस समय के लोगों का जो लगाव था, वह असाधारण नहीं था। अपनी प्राथमिक पुण्य भूमि के प्रति जो लगाव होता है वह असाधारण नहीं होता। अतः मैं ऐसा अनुमान करता हूँ कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् जब इन प्रवचनों को, जो पहले मौखिक थे, लिपि बद्ध करने का प्रश्न आया होगा तो निश्चय जनमत मध्यदेश की भाषा के पक्ष में रहा होगा। कारण स्पष्ट है कि उस बोली के बोलने वालों की संख्या अधिक रही होगी। साथ ही कुछ लोगों के मन में मध्यदेश की भाषा के प्रति विद्वेष की भावना भी रही होगी।

परिणामत इसका नाम मध्य देश की बोली का जो कुछ नाम उस समय रहा होगा—जो अब काल-कवलित हो गया—के स्थान पर पालि अर्थात पंक्ति या 'जमायत' की भाषा रख दिया गया होगा। पालि मध्यदेश की भाषा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने म असमथ है अर्थात यो कहिए उस समय की भाषाओ की खिचडी है। इस समस्या का समाधान नीचे किया गया है।

## पालि भाषा और उसका क्षेत्र

मध्यकालीन भारतीय आय भाषा के विवेचन म यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विकास की दृष्टि से इस युग की भाषाओ को तीन भागो म विभाजित किया जा सकता है। इनमे सवप्रथम पालि भाषा ने परिनिष्ठित स्वरूप धारण किया। बौद्ध धम के प्राय समस्त प्रमुख धार्मिक ग्रथ इसी भाषा मे निबद्ध है। गौतम बुद्ध मागध थे। अत बौद्ध मतानुयायी इस भाषा का उद्भव स्थल मगध प्रदेश को मान कर चलते हैं, किन्तु भाषा वज्ञानिक निष्कष इसके विरुद्ध पडता है। वस्तुत पालि भाषा का, जो बौद्ध ग्रथो मे मिलती है, गठन कुछ इस प्रकार का है कि उसे किसी निश्चित प्रदेश की भाषा घोषित कर देना सरल काय नही है। यही कारण है कि विद्वानो की इस विषय पर भिन्न भिन्न धारणाएँ है। डा सरनामसिंह ने इन सब विद्वानो को मत की दृष्टि से छ वर्गों म विभाजित किया है जो इस प्रकार हैं—[1]

**प्रथम वग**—इस वग मे वे विद्वान आते हैं जो पालि भाषा का सम्बन्ध मागधी भाषा से स्थापित करते है तथा इसे मगध प्रदेश की बोली पर आधारित बताते हैं। इन विद्वानो म मक्सवेलेजर चाइल्डस जेम्स आलविस ई जाज ग्रियसन श्रीमती डेविडस विटरनित्ज आदि का नाम उल्लेखनीय है।

**द्वितीय वग**—ये लोग पालि भाषा को पूव की बोली मे अनुवाद की साहित्यिक भाषा मानते हैं जो मध्यदेश की बोलिया पर आधारित थी। इस से लोग पश्चिमी हिन्दी की पूवजा मानते हैं। इनम सवश्री लूडस सिलवाँ लेवी डा कीथ प्रो० टनर डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या आदि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

**तृतीय वग**—ये वग पालि को कलिंग बोली के आधार पर विकसित भाषा मानते हैं। इनमे सवश्री ओल्डनबग और डा मूलर का नाम विशष रूप स उल्लेखनीय है।

**चतुथ वग**—इस वग क विद्वान पालि को विन्ध्याचल क्षेत्र की भाषा मान कर चलते हैं। इनमे डा स्टेनकोनो तथा आर० आ० फ्रक क नाम विशेष रूप स उल्लेखनीय हैं।

---

[1] डॉ सरनामसिंह शर्मा अरुण कृत पालि साहित्य और समीक्षा।

पचम वग—इस वग के विद्वान पालि का मूल उदगम कौशल प्रदेश की बोली से मानते हैं। इस मत के एक मात्र पोषक प्रो॰ रायस डेविस ही हैं।

षष्ठ वग—इस वग के विद्वान पालि का उदगम स्थल उज्जन प्रदेश बतलाते हैं। इस मत को मानने वाले श्री वेंस्टरगाड और ई॰ कुट्टन हैं।

उपयुक्त सभी विद्वानो की मायताओ का कोई न कोई निश्चित आधार अवश्य रहा है। यह बात इतर है कि इनमे से किसी की मायता म कल्पना और अनुमान को अधिक प्रश्रय दिया हो और किसी की आधार भूमि ठोस भाषा वज्ञानिक होते हुए भी अतिव्याप्ति दोष या अव्याप्ति दोष से ग्रस्त रही हो। बात वास्तव मे यह है कि पालि भाषा एक इतने बडे धम सम्प्रदाय की भाषा थी जो समस्त एशिया भूखण्ड का धम बन गया था। अत उसम विकृति एव मिश्रण आना अवश्यम्भावी था। एसी स्थिति म उस पर किसी निश्चित मायता की स्थापना करना खतरे से खाली नही है। यद्यपि यह आवश्यक तो नही है कि पालि भाषा का सम्बध किसी प्रदेश विशेष के साथ जोडा जाए क्योकि स्वय बौद्ध धम जिसकी यह धम भाषा थी, किसी प्रदेश विशेष के लिए सीमित नही था फिर भी यह शुद्ध भाषा वज्ञानिक माँग है कि हम यह देखने का प्रयास करें कि पालि भाषा की प्रमुख प्रवत्तियाँ भारत के किस प्रदेश का प्रतिनिधित्व करने म सक्षम हैं जिससे बाद मे विकसित भाषाओं का सम्बध सूत्र खोजा जा सके। इस महत्त्वपूण प्रश्न को सुलझाने के लिए हमे दो महत्त्वपूण बातो पर दष्टि रखनी होगी कि—(१) बौद्ध धम जनभाषा के प्रयोग का समथक था (प्रारम्भ मे) परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग करना स्वय गौतम बुद्ध की भावनाओं के विरुद्ध पडता था।[2] (२) दूसरे क्या बौद्ध धम मे प्राच्य प्रतीच्य उदीच्य और दाक्षिणात्य सभी लोग दीक्षित थ ? य सभी लोग भगवान बुद्ध की अमृतमयी वाणी का रसपान उनकी भाषा मे करते रह हागे। इसके लिए निश्चय ही उह गौतम बुद्ध की मातृभाषा मागधी पढनी पडती होगी और स्वय भगवान तथागत ने भिन्न भिन्न प्रदेशो म उनकी मातृ भाषा में ही प्रवचन करने हेतु उन प्रादेशिक भाषाओ का अध्ययन किया होगा। ऐसी स्थिति मे उपासको के मन म निश्चय ही दो प्रकार की भावनाएँ काम करती रही हागी। एक तो यह कि भगवान् बुद्ध की वाणी की अभिव्यक्ति वे अपनी मातृभाषा मे करें। द्वितीय, भगवान बुद्ध के कुछ मुख्य मुख्य शब्दो को वे ज्यो के त्यो ग्रहण कर लें। अपनी बोली को भी पावन करने हेतु किसी भी धमगुरु की वाणी के प्रति उसके अनुयायियों की अमित श्रद्धा होती है। ऐसी परिस्थिति म भगवान तथागत के

---

[2] सुकाय निरुतिया—भारतीय आय भाषा और हिदी, पष्ठ ७६।

उपदेश भिन्न भिन्न व्यक्तियों के पास उनकी भिन्न भिन्न बोलियों में सुरक्षित रहे होंगे। इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि गौतम बुद्ध के जीवन काल में ही विशाल बौद्ध विहारों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। इनमें हजारों की संख्या में एक एक बौद्ध विहार में भिन्न भिन्न भाषा भाषी बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। बौद्ध धर्म ग्रन्थों से इस प्रकार का कोई भी उल्लेखनीय संकेत नहीं मिलता कि तीसरी संगति से पूर्व बौद्ध धर्म की कोई सामान्य सम्पर्क भाषा थी। अतः निश्चित है कि बुद्ध उपदेश जो उस समय मौखिक रूप में ही सुरक्षित रखे जाते थे, मिश्रित भाषाओं में पृथक्-पृथक रूप से ही सुरक्षित थे। एक भाषा में ही इन प्रवचनों को रखा जाए, यह बात साधारण रूप में तो तथागत के जीवनकाल में ही उठाई जा चुकी थी, पर उनकी मृत्यु के पश्चात यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर रूप में उपासकों के समक्ष आया होगा। इसके दो कारण हो सकते हैं—एक यह कि बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार भारत के बाहर करने के लिए एक ही भाषा का प्रयोग होना चाहिए। दूसरे संस्कृत की लोकप्रियता अतितीव्र गति से बढ़ रही थी, उसकी टक्कर में कोई एक निश्चित भाषा परिनिष्ठित रूप धारण कर ही ठहर सकती थी। अभी तक सम्भवतः उदीच्यों के प्रति जो आक्रोश था वह शान्त नहीं हुआ था। अतः बौद्ध धर्म की तीसरी संगति में यह प्रश्न गम्भीर रूप से उठाया गया कि अब समय आ गया है कि भगवान बुद्ध के प्रवचनों को लिपिबद्ध किया जाए। ऐसे समय में मैं अनुमान करता हूँ कि बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी अपनी भाषाओं को इस पुण्य कार्य के लिए प्रस्तुत किया होगा और समस्या आज की राष्ट्रभाषा समस्या के समान गम्भीर हो गई होगी। मैं जहाँ तक विचार सका हूँ वह यह है कि गौतम बुद्ध के प्रवचनों को मूल मागधी भाषा में सुरक्षित मानना उचित नहीं है। ऐसा मानने से दो कठिनाइयाँ आती हैं जिनका उचित समाधान नहीं मिलता। प्रथम तो यह कि जब मूल प्रवचन मागधी भाषा में सुरक्षित थे तो उन्हें मध्यदेशीय भाषा में अनुवाद करने की क्या आवश्यकता हो गई थी ? जहाँ तक जन प्रियता का सम्बन्ध है उस समय पूर्वी बोलियाँ मध्यदेश की बोली से अधिक लोकप्रिय रही होंगी क्योंकि मध्यदेश एवं उदीच्य में ब्राह्मणों का बोलबाला था जो बोलियों की अपेक्षा परिनिष्ठित संस्कृत को अधिक सम्मान देता था। अतः उस समय उन बोलियों का अधिक व्यापक या समृद्ध होने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता। दूसरे इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता कि बुद्ध वचन मागधी भाषा में ही व्यक्त किए गये थे और सुरक्षित थे। यह केवल मात्र अनुमान है क्योंकि गौतम बुद्ध मागध थे इसलिए उन्होंने मागधी में ही प्रवचन दिया होगा और उसी में वे सुरक्षित रहे होंगे। यदि हम महात्मा

गांधी का उदाहरण लें तो इस बात मे कोई सार नही रह जाता, क्योंकि गांधीजी गुजराती थे पर उनके प्रवचन अधिकाशत हिंदी मे और आग्ल भाषा मे हैं। इसलिए यह मानना उचित प्रतीत नही होता कि पालि साहित्य अनूदित साहित्य है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर पालि से क्या तात्पय लें। क्या बुद्ध वचन मूलत ही पालि मे थे ? उत्तर है—नही। फिर पालि मे य ग्रन्थ क्यो मिलते हैं तथा पालि किस प्रदेश की बोली है ? आदि प्रश्न खडे के खडे रह जाते हैं। जसा कि मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ कि भगवान् बुद्ध ने अपनी प्रवत्ति के अनुसार भिन्न भिन्न प्रादेशिक बोलियो म ही अपनी वाणी का उत्स प्रवाहित किया होगा और वे प्रवचन भिन्न भिन्न विद्वानो के पास उनकी ही बोली म सुरक्षित रहे होगे। इसके कारण हैं एक तो वेदो को सुरक्षित रखने की यह प्रणाली पहले से ही प्रचलित थी, वेदी द्विवेदी त्रिवेदी आदि शब्द इसके प्रमाण हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वेद एक परिनिष्ठित भाषा मे लिखे गए थे तथा उन्हे उसी भाषा मे सुरक्षित रखना था, जबकि बौद्ध प्रवचन भिन्न भिन्न बोलियो म थे और उन्ही म सुरक्षित रखने थे। स्वय गौतम बुद्ध का आदेश इसका प्रमाण है उन्होने कहा है—समस्त जन उनके उपदेश को अपनी मातृ भाषा म ही ग्रहण करें। यहाँ 'अपनी शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है। भिन्न भिन्न बोलियो मे इनका होना ही एक कारण है कि तीसरी सगति मे उन्हें किसी एक सवसम्मत भाषा मे ले आने का प्रश्न उपस्थित हुआ।

बौद्ध धम का ऐतिहासिक विश्लेषण यह स्पष्ट कर देगा कि बौद्ध भिक्षुओ पर विद्वत्ता की दृष्टि से मध्यदेश के निवासियो का प्रमुत्व था। बौद्ध भिक्षु प्राय सस्कृत के पण्डित भी होते थे। जसा कि मैंने पहले सकेत दिया है—भिन्न भिन्न भाषा भाषी भिक्षु एक ही स्थान पर बौद्ध विहारो मे रहते थे। इन सब से हम इस निष्कष पर सरलता से पहुँच सकते हैं कि मध्यदेश की भाषा की प्रधानता क साथ विहारो में एक मिश्रित भाषा पनप रही थी जिसकी ओर विद्वानो का ध्यान अभी तक सम्भवत नही गया था। जब प्रादेशिक बोलियों के स्वाथ ने उग्र रूप धारण किया होगा उस समय निश्चय ही इस नवीन पनपती बौद्ध विहारो की भाषा की ओर विद्वानो का ध्यान अवश्य गया होगा और समस्त अतर विरोधो से बचने के लिए इसी भाषा को धमग्रन्थो के सवथा उपयुक्त समझा गया होगा। पर इस म ही मुग्धो किन्तु तेज तरराव वाली को नाम क्या दिया जाए यह प्रश्न भी बौद्ध स्थविरो क समक्ष आया होगा पर उन्होंने इस पर क्या निणय लिया इसका कोई उल्लख हम नहीं मिलता। बाद मे विद्वान इस भाषा के लिए 'पालि शब्द का प्रयोग धडल्ले

ा करने लगे। इसका क्या कारण है? मैं सोचता हूँ, जब बाद के विद्वानों को इसका कोई प्रादेशिक नाम (शुद्ध प्रादेशिकता न होने के कारण) न मिला होगा तो उन्होंने 'पालि' अर्थात् तथ ही पंक्ति में आरूढ़ होकर 'शास्ता' के अनुशासना का अनुगमन करने वालों की भाषा—नाम दे दिया होगा और इस प्रकार बौद्ध विहारों की इस मिश्र भाषा के लिए 'पालि' शब्द लोकप्रसिद्ध हो गया होगा। 'पालि' का अर्थ पिटक आदि में लो भी पिटकों की भाषा को पालि कहना अनुचित न होगा।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि पालि को किसी प्रदेश विशेष के साथ सम्बद्ध करने के लिए दूर की कौड़ी लाने में कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। पालि एक मिश्र भाषा है जिसमें प्रधानता मध्यदेश की बोलियों की प्रवृत्तियों की है और कुछ अंश अन्य प्रादेशिक बोलियों के हैं अवश्य चाहे वे कम मात्रा में ही क्यों न हों। अतः मेरा विश्वास है कि पालि भाषा का उद्गम किसी एक बोली विशेष से नहीं हुआ है।

## पालिभाषा की प्रवृत्तियाँ

**ध्वनि तत्त्व**

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए ओ तथा ह्रस्व ऍ ऒ

व्यञ्जन—कवर्ग चवर्ग, टवर्ग तवर्ग पवर्ग य र ल, व स, ळ मिलते हैं। इनके अतिरिक्त वैदिक ध्वनियाँ ळ ळ्ह भी मिलती हैं।

प्रवृत्तियाँ—स्वरों में ऋ ॠ ऌ ॡ स्वर पूर्णतः लुप्त हो गए। ऋ ॠ के स्थान पर प्रायः 'अ इ या उ' मिलते हैं, यथा—ऋणम्>इण ऋषि>इसि ऋतु>उतु ऋषभ>उसभ गृहम्>गह सत्यम्>सच्च आदि।

ऌ ॡ के स्थान पर ल हो गया। ऐ के स्थान पर ए, यथा—ऐरावण>एरावण वैमानिक>वेमानिक तथा वैयाकरण>वेय्याकरण। कहीं कहीं 'ए' के स्थान पर इ और ई भी उपलब्ध होता है। यथा—ग्रैवेय>गीवेय, सैन्धव>सिन्धव। औ के स्थान पर ओ और कहीं कहीं उ मिलते हैं, यथा—औदरिक>ओदरिक दौवारिक>दोवारिक, (उ) मौक्तिक>मुत्तिक औद्धत्य>उद्धच्च आदि।

उपर्युक्त ध्वनियों के लोप के साथ साथ नवीन ह्रस्व ऍ और ह्रस्व ऒ ध्वनियों का उच्चारण पालि में प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि पालि वैयाकरणों ने इसका कोई संकेत नहीं दिया तथा न ही इस प्रकार का कोई लिपि चिह्न पालि में था, फिर भी बाद के आधुनिक भाषा विज्ञों के अनुसन्धानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि पालि में उक्त दोनों ध्वनियाँ प्रकाश में आ गई थीं। बहुत वर्षों के पश्चात् हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के प्रसङ्ग में फिर

इसका सकेत दिया है।[3] दो स्वरो के साथ साथ आने पर एक स्वर के लोप हो जाने के उदाहरण मिलते हैं।

जहाँ तक व्यञ्जनो का सम्बन्ध है प्राय समस्त सस्कृत व्यञ्जन इसम मिलते हैं। अनुनासिको मे 'ण ध्वनि, पद के आदि म भी मिलती है और इस प्रकार 'न और म' की समकक्षी बन गई है। छान्दस ळ' और 'ळ्ह ध्वनियाँ पालि मे सुरक्षित हैं जब कि सस्कृत मे ये लुप्त हो गई हैं। स्वर मध्यस्थ ड' के स्थान पर ळ और ढ के स्थान पर ळ्ह ध्वनियाँ मिलती हैं, यथा—षोडश>सोळस, क्रीडाम्>कीळ, (ढ>ळ्ह) दढस्य>दळ्हस, आरूढ> आरूळ्ह, आदि। कहीं-कहीं 'ल के स्थान पर भी ळ' मिथ्या सादृश्य के आधार पर प्रयुक्त हुआ मिलता है, यथा—मणिगुलसदृशे>मणिगुळसदिसानि।

म् सवत्र अनुस्वार हो गया है। पदान्त 'न' म मे बदल जाता है। ऊष्म ध्वनियो में श, ष स' के स्थान पर स मिलता है। इस प्रकार सस्कृत 'श ष का प्राय लोप हो गया। कुछ पालि ग्रन्थो मे 'श भी मिलता है। कह नही सकते, यह लिपिकारो के प्रमाद का परिणाम है अथवा यह ध्वनि भाषा मे थी। 'ह ध्वनि का उच्चारण पालि मे दो रूपा मे मिलता है। जब यह स्वतन्त्र रूप मे प्रयुक्त होता है तब इसका उच्चारण स्वतन्त्र प्राण ध्वनि के रूप मे होता है किन्तु जब यह अन्तस्थो या अनुनासिकों स सयुक्त होकर आता है तब इसका उच्चारण भिन्न रूप म होता है। पालि वैयाकरणो ने इसे ओरस या हृदय से उत्पन्न ध्वनि कहा है। विसग ध्वनि का पूणतया लोप हो गया। डा उदयनारायण तिवारी के अनुसार पदान्त क ट न् प तथा र का प्राय लोप हो गया है।[4] इसे यो भी कहा जा सकता है कि व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक स्वरान्त हो गए। यह क्रिया दो प्रकार से सम्पन्न हुई है या तो स्वर का आगम कर अथवा पदान्त व्यञ्जन का लोप कर। बलाघात के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। कुछ विद्वानो के मत से पालि म बलाघात था और कुछ के मत से नही था।

रूप तत्त्व

(१) कारक रूपो को निष्पन्न करने के लिए पालि भाषा ने छान्दस और सस्कृत रूपो जसी विविधता का परित्याग कर दिया। पालि भाषा म मिथ्या सादृश्य के आधार पर अधिकतर अकारान्त पुल्लिंग प्रातिपदिक के रूपो और कुछ रूपो म जसे अपादान और अधिकरण मे सवनाम के रूपो को अपना लिया गया, यथा—बुद्धस्मा बुद्धम्हा [अस्मात के आधार पर] बुद्धम्हि

[3] अपभ्रश का व्याकरण—केशवराम का शास्त्री द्वारा सम्पादित।

[4] हिन्दी भाषा का उदगम और विकास पृष्ठ ६८।

बुद्धस्मि [अस्मिन के आधार पर] मुनिस्स, बुद्धस्स (चतुर्थी, षष्ठी) 'देवस्य' के आधार पर। इसी प्रकार दण्डिस्स, भिक्खुस्स, पितुस्स गवस्स, आदि। इस प्रकार समस्त स्वरान्त प्रातिपदिको के रूप कुछ भिन्नताओं को छोड कर समान रूप से सम्पन्न होने लगे। डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसे क्षय का नियम कहा है— रूप तत्त्व की दृष्टि से 'म भा आ का इतिहास एक क्रम वधमान क्षय का ही इतिहास है।'[5]

(२) कारको और लिङ्गो म छान्दस की भाँति पालि भाषा म पर्याप्त मात्रा मे व्यत्यय देखा जाता है, यथा—चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग—ब्राह्मस्स (ब्राह्मणाय) धन ददाति। तृतीया के स्थान पर पञ्चमी का प्रयोग बल्कि यो कहना चाहिए कि ये दोना मिलकर एकरूपा हो गइ। यथा—मुनिया—तृतीया एव पञ्चमी। परन्तु अकारान्त शब्दो के रूपो मे यह एकरूपता नही पाई जाती। सप्तमी के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग पाया जाता है, यथा—एक दिवसे—एकस्मिन् दिवसे।

(३) लिङ्ग के क्षत्र मे क्षय के चिह्न प्रत्यक्ष रूप म नही मिलते, किन्तु नपुसक लिङ्ग के रूपा के स्थान पर पुल्लिङ्ग रूपा का प्रयोग देखने को मिलता है। डा० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है— इसी प्रकार नपुसक लिङ्ग के रूप पुल्लिङ्ग के समान बनने लगे। यथा— मे निरतो मनो होना चाहिए था मे निरत मनो। इसी प्रकार सुखो सुखो मे 'सुख रूप होना चाहिए।[6]

(४) वचनो मे द्विवचन का लोप हो गया। पालि म द्विवचन का काम बहुवचन रूपो से लिया जाने लगा। हाँ कुछ शब्दो यथा—द्व दुवे उभे आदि मे अभी भी द्विवचन के अवशेष मिलते हैं।

(५) व्यञ्जनान्त प्रातिपदिको को समाप्त कर दिया गया। सभी प्रातिपदिक स्वरान्त हो गए। इनम कही-कही अन्त्य व्यञ्जन का लोप हो गया, यथा—सुमेधस>सुमेध आपद्>आपा कही कही अन्त म अ ध्वनि का विशपत और 'आ' ध्वनि का गौण रूप म आगम करके स्वरान्त प्रातिपादिक बनाये गये। यथा—आपद्>आपद सुमेधस>सुमेधस शरत्>शरद (आ) विद्युत्>विज्जुता। इस प्रक्रिया म स्वरभक्ति के भी दशन होते हैं, यथा—बर्हिष>बरिहिस।

धातु रूप—(१) धातुओ का विभाजन छान्दस एव संस्कृत की तरह गणों म किया गया है किन्तु इन गणो की संख्या दस स घटकर सात रह गई। डॉ सरनामसिंह के अनुसार पालि मे केवल (१) भ्वादिगण (२) रुधा

[5] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०४।

[6] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ८१।

दिगण, (३) दिवादिगण, (४) स्वादिगण, (५) क्रयादिगण, (६) तनादिगण (७) चुरादिगण ही उपलब्ध होते हैं।[7]

(२) यद्यपि धातुओ का प्रयोग दो पदो मे ही किया गया है, किन्तु आत्मनेपद के प्रयोग अत्यल्प मात्रा मे मिलते हैं। अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ पर आत्मनेपदी धातुओ का परस्मैपद मे प्रयोग किया गया है और परस्मैपद की धातुओ को आत्मनेपद मे प्रयुक्त किया गया है।[8] कहने का तात्पर्य यह है कि पालि भाषा मे पद-सम्बन्धी अव्यवस्था ही दृष्टिगत होती है।

(३) पालि मे लकारो की संख्या दस से घटकर आठ रह गई। पालि मे लकारो के नाम छान्दस या संस्कृत के आधार पर न होकर कुछ भिन्न प्रकार से हैं, यथा—(१) वत्तमाना, (२) पचमी, (३) सत्तमी (४) परोक्खा, (५) हीयत्तनी, (६) अज्जतनी, (७) भविस्सन्ति, (८) कालत्तिपत्ति।

(४) धातुओ के रूप तीन पुरुषो और दो वचनो मे मिलते हैं। इस प्रकार इन रूपो की संख्या नौ से घटकर केवल छ रह गई।

(५) पालि मे सन्नन्त यङन्त, यङलुगन्त तथा णिजन्त रूपो के प्रयोग भी [illegible] हैं।

(६) पालि मे कृदन्त रूप भी उपलब्ध होते हैं। पूर्वकालिक क्रिया के रूपो मे छान्दस का अनुकरण किया गया है क्योकि त्वय और त्वा' का प्रयोग नियम विहीन अपनी इच्छा के अनुकूल किया गया है। निमित्तार्थक प्रत्ययो मे तुमन के साथ साथ तवे का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। छान्दस के त्वाय के स्थान पर त्वान मिलता है जिसे संस्कृत मे छोड दिया गया था, यथा—गत्वान दत्वान आदि।

(७) नामधातु के रूप भी पालि मे उपलब्ध होते है, यथा—अत्तनो पत्त इच्छति=पत्तीयति, दलह करोति=दलयति, पब्बतायति आदि।

(८) उपसर्गों और निपातो के प्रयोग भी पालि मे उपलब्ध होते हैं। प, पटि पति, परा, वि, स, आदि अनेक उपसग पालि मे प्रयुक्त हुए हैं। निपातो म च, न व, वा भा, हि आदि प्रयुक्त हुए हैं।

कोष—देशी शब्दो का प्रयोग बहुतायत से किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त तत्सम एव तद्भव शब्द भी पालि की निधि हैं। अनार्य भाषाओ के शब्द भी पालि म मिलते हैं।

साहित्य—पालि मे भगवान् बुद्ध के वचनो का सग्रह तिपिटक (त्रिपिटक) के नाम से प्रसिद्ध है। इनमे सुत्त पिटक, विनय पिटक तथा अभिधम्म पिटक

---

[7] पालि साहित्य और समीक्षा, पृष्ठ ८२ ८३।

[8] उदाहरण आगे पालि और छान्दस शीर्षक मे दिए हैं।

आते हैं। इनके पश्चात इन पिटकों पर लिखी गई टीकाओं का साहित्य आता है जिन्हें अनुपालि या अनुपिटक कहते हैं। इसके अतिरिक्त इन पिटकों के पृथक अंग आते हैं, यथा—विनय पिटक में तीन प्रकार के ग्रन्थ हैं—सुत्त विभंग खंधक, परिवार पाठ। सुत्त पिटक के पाँच निकाय हैं—दीघ निकाय मज्झिम निकाय संयुत्त निकाय, अंगुत्तर निकाय तथा खुद्दक निकाय। खुद्दक निकाय का धम्मपद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है। जातक साहित्य भी पालि भाषा की महत्त्वपूर्ण निधि है। अभिधम्म पिटक में धम्म संगणी विभंग, कथा वत्थु पुग्गल पञ्ञत्ति धातु कथा, यमक, पट्ठानप्पकरण आदि सात ग्रन्थ आते हैं जिनमें बौद्ध धर्म के दार्शनिक पक्ष का विवेचन मिलता है। अनुपिटक का अधिकांश भाग सिंहली विद्वानों ने लिखा है। इन ग्रन्थों में भी संवाद या कथा रूप में धर्म की दार्शनिक विवेचना की गई है अथवा कोई शिक्षा या उपदेश दिया गया है।

इन सब के अतिरिक्त पालि में छन्द शास्त्र, व्याकरण तथा कोष ग्रन्थ भी लिखे गए हैं। 'कच्चान व्याकरण' पालि का प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण व्याकरण है।

## अशोक के शिलालेखों की भाषा

अशोक के शिलालेख भारत के प्रत्येक भाग में उपलब्ध होते हैं। विद्वानों का मत है कि अशोक के शिलालेखों की सामग्री मूलतः मागधी भाषा में निबद्ध की गई है और पुनः जिस स्थान पर उस लेख को भेजना होता था उसमें उसे अनूदित कर दिया जाता था। अतः अनेक मुख्य शब्द उनमें ज्यों के त्यों रख दिए गये हैं। यदि इन प्रभावों को या प्रादेशिक रूपान्तर को हटा कर देखें तो लगता है कि अशोक के शिलालेखों की भाषा भी मागधी की अपेक्षा पालि के अधिक समीप है। ध्वन्यात्मक अन्तर को तथा दिशाओं को ध्यान में रख कर अशोक के शिलालेखों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। शाहबाज गढ़ी और मानसेरा वाले लेख उत्तर पश्चिमी भाषा के रूप को व्यक्त करते हैं। गिरनार का शिलालेख दक्षिण पश्चिम की जन भाषा में लिखे गए प्रतीत होते हैं। धौली जौगढ़ रामपुरवा सारनाथ के शिलालेखों की भाषा प्राच्य भाषा के अधिक समीप जान पड़ती है। यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि किसी भी स्थान के शिलालेखों की भाषा किसी निश्चित भाषा के तत्त्वों से परिपूर्ण नहीं है। कुछ एक तत्त्व दूसरी भाषा के भी उपलब्ध हो ही जाते हैं। इसीलिए केवल कुछ तत्त्वों की प्रधानता एवं स्थान विशेष के आधार पर ही यह विभाजन किया गया है। डा० भोला शंकर व्यास ने इनमें चार विभाषाओं की प्रवृत्तियों का अवलोकन किया है—इन लेखों में प्राकृत की चार वैभाषिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—उत्तर

पश्चिमी प्राकृत (या उदीच्य प्राकृत), पश्चिमी प्राकृत, मध्य पूर्वी प्राकृत तथा पूर्वी प्राकृत।'[१]

यदि इन सभी शिलालेखो की भाषाओ का सम्मिलित रूप मे अवलोकन कर उनकी प्रवत्तियो का विवेचन करें तो अगले पष्ठो मे विवेचन की जाने वाली प्राकृतो की सभी प्रवत्तियाँ उपलब्ध हो जायेंगी परन्तु पालि की तुलना म शब्द रूपो की क्रम-वधमान क्षय प्रवत्ति अधिक मात्रा म विकास के चिह्नो से सवलित है। प्रातिपदिको की सख्या भी बढी हुई है। आत्मनेपद के प्रयोग विरल ही मिलते हैं। शेष पालि की विशेषताएँ ही अधिकतर पायी जाती हैं।

जैसा कि विवेचन से स्पष्ट है—प्राकृत वैयाकरणो ने प्राकृत भाषाओ का उदभव सस्कृत से माना है जब कि पाश्चात्य विद्वानो का मत इसके विपरीत है। विचारणीय बातें इसम ये हैं कि उन प्राकृत वैयाकरणो ने कही पर भी पालि को इसमे समाविष्ट नही किया है तो क्या पालि का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है? *क्या पालि का परवर्ती मध्यदेशीय प्राकृत शौरसेनी से कोई* सम्बन्ध है? यदि है तो शौरसेनी और पालि के बीच सस्कृत कैसे आ खडी हुई? उपयुक्त सभी प्रश्नो पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना ही अपेक्षित है। यहाँ पर हम केवल पालि और वदिक सस्कृत अथवा छान्दस का परस्पर क्या सम्बन्ध है तथा पालि सस्कृत के अधिक समीप है अथवा छान्दस के, इस विषय पर ही विचार करेंगे।

यदि हम वेदो की भाषा का विश्लेषण करे तो प्रतीत होगा कि वेदो म प्रयोगो की अत्यधिक स्वतन्त्रता थी। एक ही शब्द का अनेक रूपो म प्रयोग मिलता है। एक ही अथ को व्यक्त करने वाले अनेक प्रत्ययो का विधान पाठक को हतप्रभ कर देता है। सम्भवत इन्ही आधारो पर भाषा विज्ञ यह अनुमान लगाते हैं कि वेदो का निर्माण जनसाधारण की भाषा म हुआ है। कारण स्पष्ट है—जिस प्रकार जनसाधारण व्याकरण के नियमो की परवाह किए बिना भाषा का प्रयोग करता चला जाता है उसी प्रकार वेदो मे भी किसी व्याकरण के निश्चित नियमो का बन्धन दष्टिगोचर नही होता। अथगान करवा देना मात्र शायद ऋषियो का अभीष्ट था। यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि शिक्षा, व्याकरण और प्रातिशाख्य आदि उस समय क्या थे? 'कौपीतकी ब्राह्मण' मे व्रात्यो के अशुद्ध उच्चारण का उल्लेख क्या सिद्ध करता है? इन प्रश्नो पर विचार विमश गम्भीरता से अभीष्ट है। अत अब तो हमे केवल इतना ही देखना है कि ऐसे कौनसे प्रयोग हैं जो सस्कृत मे तो हैं नही किन्तु पालि म उपलब्ध होते हैं जिससे वह सस्कृत की पुत्री न

---

[१] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास खण्ड २ अध्याय २ पृष्ठ २७३।

आते हैं। इनके पश्चात इन पिटकों पर लिखी गई टीकाओं का साहित्य आता है जिन्हें अनुपालि या अनुपिटक कहते हैं। इसके अतिरिक्त इन पिटकों के पृथक अंग आते हैं, यथा—विनय पिटक में तीन प्रकार के ग्रन्थ हैं—सुत्त विभंग खंधक, परिवार पाठ। सुत्त पिटक के पाँच निकाय हैं—दीघ निकाय, मज्झिम निकाय संयुत्त निकाय अंगुत्तर निकाय तथा खुद्दक निकाय। खुद्दक निकाय का 'धम्मपद' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है। जातक साहित्य भी पालि भाषा की महत्त्वपूर्ण निधि है। अभिधम्म पिटक में धम्म संगणी विभंग कथा वत्थु, पुग्गल पञ्ञति धातु कथा, यमक, पट्ठानप्पकरण आदि सात ग्रन्थ आते हैं जिनमें बौद्ध धर्म के दार्शनिक पक्ष का विवेचन मिलता है। अनुपिटक का अधिकांश भाग सिंहली विद्वानों ने लिखा है। इन ग्रन्थों में भी संवाद या कथा रूप में धर्म की दार्शनिक विवेचना की गई है अथवा कोई शिक्षा या उपदेश दिया गया है।

इन सब के अतिरिक्त पालि में छन्द शास्त्र व्याकरण तथा कोष ग्रन्थ भी लिखे गए हैं। कच्चान व्याकरण पालि का प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण व्याकरण है।

## अशोक के शिलालेखों की भाषा

अशोक के शिलालेख भारत के प्रत्येक भाग में उपलब्ध होते हैं। विद्वानों का मत है कि अशोक के शिलालेखों की सामग्री मूलतः मागधी भाषा में निबद्ध की गई है और पुनः जिस स्थान पर उस लेख को भेजना होता था, उसमें उसे अनूदित कर दिया जाता था। अतः अनेक मुख्य शब्द उनमें ज्यों के त्यों रख दिए गये हैं। यदि इन प्रभावों को या प्रादेशिक रूपान्तर को हटा कर देखें तो लगता है कि अशोक के शिलालेखों की भाषा भी मागधी की अपेक्षा पालि के अधिक समीप है। व्याकरणिक अन्तर का तथा दिशाओं को ध्यान में रख कर अशोक के शिलालेखों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। शाहबाज गढ़ी और मानसेरा वाले लेख उत्तर पश्चिमी भाषा के रूप को व्यक्त करते हैं। गिरनार का शिलालेख दक्षिण पश्चिम की जन भाषा में लिखा गया प्रतीत होते हैं। धौली जौगढ़ रामपुरवा, सारनाथ के शिलालेखों की भाषा प्राच्य भाषा के अधिक समीप जान पड़ती है। यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि किसी भी स्थान के शिलालेखों की भाषा किसी निश्चित भाषा के तत्त्वों से परिपूर्ण नहीं है। कुछ एक तत्त्व दूसरी भाषा के भी उपलब्ध हो ही जाते हैं। इसीलिए केवल कुछ तत्त्वों की प्रधानता एवं स्थान विशेषों के आधार पर ही यह विभाजन किया गया है। डा० भोला शंकर व्यास ने इनमें चार विभाषाओं की प्रवृत्तियों का अवलोकन किया है—इन लेखों में प्राकृत की चार वैभाषिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—उत्तर

पश्चिमी प्राकृत (या उदीच्य प्राकृत), पश्चिमी प्राकृत, मध्य पूर्वी प्राकृत तथा पूर्वी प्राकृत।'[1]

यदि इन सभी शिलालेखों की भाषाओं का सम्मिलित रूप मे अवलोकन कर उनकी प्रवत्तियो का विवेचन करें तो अगले पृष्ठो म विवेचन की जाने वाली प्राकृतो की सभी प्रवत्तियाँ उपलब्ध हो जायेंगी, परन्तु पालि की तुलना म शब्द रूपो की क्रम-वधमान क्षय प्रवत्ति अधिक मात्रा म विकास के चिह्नों से सवलित है। प्रातिपदिको की सख्या भी बढी हुई है। आत्मनेपद के प्रयोग विरल ही मिलते हैं। शेष पालि की विशेषताएँ ही अधिकतर पायी जाती हैं।

जसा कि विवेचन से स्पष्ट है—प्राकृत वैयाकरणो ने प्राकृत भाषाओं का उदभव सस्कृत से माना है जब कि पाश्चात्य विद्वानो का मत इसके विपरीत है। विचारणीय बातें इसम ये हैं कि उन प्राकृत वयाकरणो ने कहीं पर भी पालि को इसमे समाविष्ट नही किया है तो क्या पालि का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है? क्या पालि का परवर्ती मध्यदेशीय प्राकृत शौरसेनी से कोई सम्बन्ध है? यदि है तो शौरसेनी और पालि के बीच सस्कृत कैसे आ खडी हुई? उपयुक्त सभी प्रश्नो पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना ही अपेक्षित है। यहा पर हम केवल पालि और वदिक सस्कृत अथवा छान्दस का परस्पर क्या सम्बन्ध है तथा पालि सस्कृत के अधिक समीप है अथवा छान्दस के, इस विषय पर ही विचार करेंगे।

यदि हम वदों की भाषा का विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि वेदो म प्रयोगो की अत्यधिक स्वतन्त्रता थी। एक ही शब्द का अनेक रूपो म प्रयोग मिलता है। एक ही अथ को व्यक्त करने वाले अनेक प्रत्ययो का विधान पाठक को हतप्रभ कर देता है। सम्भवत इन्ही आधारो पर भाषा विज्ञ यह अनुमान लगाते हैं कि वेदो का निर्माण जनसाधारण की भाषा म हुआ है। कारण स्पष्ट है—जिस प्रकार जनसाधारण व्याकरण के नियमो की परवाह किए बिना भाषा का प्रयोग करता चला जाता है उसी प्रकार वेदो मे भी किसी व्याकरण के निश्चित नियमो का बन्धन दृष्टिगोचर नहीं होता। अथज्ञान करवा देना मात्र शायद ऋषियो को अभीष्ट था। यहा पर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि शिक्षा व्याकरण और प्रातिशाख्य आदि उस समय क्या थे? कौषीतकी ब्राह्मण मे व्रात्यो के अशुद्ध उच्चारण का उल्लेख क्या सिद्ध करता है? इन प्रश्नो पर विचार विमर्श गम्भीरता से अभीष्ट है। अत अब तो हम केवल इतना ही देखना है कि ऐसे कौनसे प्रयोग हैं जो सस्कृत म तो हैं नही, किन्तु पालि म उपलब्ध होते हैं जिससे वह सस्कृत की पुत्री न

[1] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, खण्ड २, अध्याय २, पृष्ठ २७३।

बन कर उसकी छोटी या बड़ी बहन का स्थान ग्रहण करने की अधिकारिणी हो जाती है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने छान्दस के व्यत्ययो के सम्बन्ध में लिखा है—'व्यत्ययो बहुलम्। ३/१/८५ योग विभाग कर्तव्य। छन्दसि विषये सर्वे विधयो भवन्तीति। सुपां व्यत्यय। तिङां व्यत्यय। वर्ण व्यत्यय। लिङ्ग व्यत्यय। पुरुष व्यत्यय। काल व्यत्यय। आत्मनेपद व्यत्यय। परस्मैपद व्यत्यय इति।'

उपर्युक्त उदाहरण से तो यही प्रतीत होता है कि छान्दस में कोई नियम नहीं था। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें उलट फेर न हुआ हो। इसके साथ जब संस्कृत का मिलान करते हैं तो ज्ञात होता है कि छान्दस में जितनी स्वच्छन्दता थी, संस्कृत में उतना ही अंकुश। सम्भवत पाणिनि ने इसी स्वच्छन्दता के नियमन हेतु कठोर परिश्रम से लोक विश्रुत अष्टाध्यायी का प्रणयन किया होगा और जो कुछ कमियाँ रह भी गई होगी उनकी पूर्ति महाभाष्यकार ने कर डाली होगी।

महाभाष्य और सिद्धान्त कौमुदी में कुछ व्यत्ययो के उदाहरण दिए गये हैं जिनके आधार पर हम देखते हैं कि कितने प्रयोग संस्कृत में मिलते हैं तथा कितने पालि में और कितने केवल छान्दस तक ही सीमित रह गए हैं। इनमें सर्वप्रथम नाम व्यत्यय आता है। नाम व्यत्यय से तात्पर्य है शब्दों की अनेक रूपता अर्थात इसके अन्तर्गत एक ही शब्द के किसी विभक्तिविशेष के वचन विशेष में एक से अधिक रूप बनते हैं। इन रूपो में से संस्कृत ने कौन से रूपो को अपनाया और पालि ने कौन से, यह दर्शनीय है। प्रथमा बहुवचन में अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के 'देवा और देवास' दो रूपो का प्रयोग वेद में मिलता है—

देवास —ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुह। मरुद्भिरग्न आ गहि।

देवा —अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरहस पिपृता निरवद्यात।

(ऋ० सू० स०, ३ व २२)

संस्कृत में इसके स्थान पर केवल देवा शब्द का ही प्रयोग होता है, परन्तु पालि में दोनो रूपो का विधान किया गया है—'प्रथमा के बहुवचन में कभी-कभी आसे प्रत्यय भी देखा जाता है और यह वैदिक रूप 'देवास' की छाया पर ज्ञात होता है। देवासे धम्मासे बुद्धासे'।[10]

इसी प्रकार छान्दस में अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के तृतीया बहुवचन में दो रूप उपलब्ध होते हैं (१) देवै (२) देवेभि। इनमें से संस्कृत ने केवल देवै' रूप चुना जबकि पालि में देवेभि और देवेहि रूप मिलते हैं—

---

[10] पालि महाव्याकरण पृष्ठ २१।

(१) पदेभि —य इद दीर्घं प्रयत सधस्थ एको विममे त्रिभिरित्पदेभि ।
(ऋ० सग्रह पृष्ठ ४८)

(२) अर्के —ऋतावरी दिवो अर्केरबोया रेवती रोदसी चित्रमस्थात ।
(ऋ० सग्रह, पृष्ठ ८०) ।

पालि—

(१) कम्मेहि—सेहि कम्मेहि दुम्मघो अग्गिदड्ढो व तप्पति ।
(धम्मपद, पृष्ठ ९२)

'भि' प्रत्यय का विधान तृतीया बहुवचन मे पालि वैयाकरणो ने किया है, किन्तु साहित्य मे इसके प्रयोग सामान्यतया प्राप्त नही होते । मोग्गलान ने पालि महाव्याकरण म स्माहि स्मिम्न महाभिम्हि—२/९९ सूत्र दिया है, जिसके अनुसार तृतीया मे भि' भी विकल्प से हो जाता है ।

सस्कृत मे गो' शब्द की षष्ठी के बहुवचन का 'गवाम' रूप बनता है जबकि छान्दस म 'गोनाम रूप भी उपलब्ध होता है। पालि म इसके तीन रूप मिलते हैं—गव गुन, गोन ।[11] यहां पर पुन पालि के रूपो मे छान्दस रूपो की छाया उसे वैदिक भाषा के समीप ले जाकर बिठा देती है ।

गोनाम—शत कक्षीवा असुरस्य गोनां दिविश्रवोऽजामाततान ।
(ऋ० १/१२६/२)

गवाम—गवामप व्रज वृधि कृणुष्व राधो अद्रिव । (ऋ० १ १० ७)

इसी प्रकार वेदो म 'पति' शब्द के तृतीया एकवचन म 'पतिना और पत्या' दो रूप मिलते हैं जबकि सस्कृत मे केवल 'पत्या रूप ही बनता है । 'पतिना केवल अन्य शब्द के साथ समस्त होने पर ही बनता है, यथा—भूपतिना श्रीपतिना ।

पतिना—क्षेत्रस्य पतिना वय हितेनेव जयामसि । (ऋ० ४ ५७ १)

पत्या—ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ।
(ऋ० १० ८५ २२)

पालि मे पति शब्द के लिए तृतीया एकवचन म सस्कृत के अनुसार पत्या' को स्वीकार न कर पतिना को ही ग्रहण किया है ।

सस्कृत मे 'इष (इच्छ) धातु केवल परस्मैपदी है जबकि छान्दस मे यह उभयपदी धातु के रूप म प्रयुक्त हुई है । इसी प्रकार पालि म लभ धातु का प्रयोग दोना पदो मे उपलब्ध होता है । इस प्रकार महाभाष्यकार के तिडा न्यत्यय को पालि मे स्वीकार कर लिया गया है—

---

[11] गुन च नें ना २/७२ मोग्गल्लान व्याकरण ।

(१) इच्छसे अभ्रातृयो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि युधेदापि त्वमिच्छसे। (ऋ० ८२१ २)

(२) इच्छन्ति—अधि सानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा। मन्दान इन्द्रो अन्धस सखिभ्यो गातुमिच्छत्यर्चन्न नु स्वराज्यम्। (ऋग्वेद, १ ८० ६)

पालि—

(१) लब्भति—समुद्द देवता तुम्ह यव लब्भति। (सोला निसस जातकम्)

(२) लब्भते—अत्तनो सुखमेसानो पेच्चसो न लब्भते सुखम्। (ध प द व ३)

इसी प्रकार वेद मे सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनो नियमो से ही प्रत्यय जोड़े जाते हैं। अत लोट मे वर्धन्तु और वर्धयन्तु' (वृध) दोनो ही रूप बन जाते हैं। संस्कृत म इस प्रकार के प्रयोगो का परित्याग कर उन्हे एक नियम के अधीन बाँध दिया गया है। अत संस्कृत म केवल 'वर्धन्ताम रूप ही निष्पन्न होता है—

(१) वर्ध तु—तुभ्य वर्धन्तु त्व सोम पेयाय धृष्णो। (ऋग्वेद ३ ५२ ८)

(२) वर्धयन्तु—पूर्ण तस्ते कुक्षी वर्धयन्त्वित्था सुत पौर इन्द्रभाव। (ऋ० २ ११ ११)

इसी प्रकार वेदो म विकरण व्यत्यय भी हुआ है, यथा भिद का भेदति, मृ का मरति और हन का हनति रूप भी मिलते हैं तथा भिनत्ति भिन्ते, भिन्दति, मारयति, हन्ति आदि रूप भी मिलते हैं।

उपरिकथित दोनो रूपो मे वचनो का तथा कारको का व्यत्यय भी मिलता है। वेदो म अनेक स्थानो पर बहुवचन शब्दो के साथ एकवचन क्रियायें प्रयुक्त की गई हैं जबकि संस्कृत म ऐसा कदापि सम्भव नहीं है, किन्तु पालि म ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

छान्दस—चषाल ये अश्वयूपाय तक्षति। (तक्षन्ति के स्थान पर तक्षति का प्रयोग)

पालि—न ससरस तिला अत्थि न मुग्गा नापि तण्डुला। (पा जा ससजातकम्)

इसी प्रकार कारको म भी सप्तमी के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग तथा सप्तमी के स्थान पर षष्ठी चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी द्वितीया के स्थान पर षष्ठी आदि के व्यत्यय वेदों मे उपलब्ध होते हैं, जबकि संस्कृत म इस प्रकार के व्यत्ययो को रोक दिया गया है परन्तु पालि मे ये अबाध-गति से प्रयुक्त हुए हैं।

छान्दस—ऋजव सन्तु पन्था (पन्थान के स्थान पर)

'चतुर्थ्यर्थे बहुल छन्दसि' तथा षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या। 'यजेश्च करणे' आदि सूत्र वेद की भाषा के व्यत्यय को स्पष्ट कर देते हैं। पालि मे भी इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं—

पालि—द्वितीया के स्थान पर चतुर्थी—

(१) पूरति बालो पापस्स थोक थोकपि आचिन।

(धम्मपद पाप वग्गो ६)

चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी तथा द्वितीया के स्थान पर षष्ठी—

(१) यो अप्पदुट्ठस्स (अल्पदुष्टाय) नरस्स (नरान) दुस्सति। सुद्धस्स (शुद्धाय) पोसस्स अनगणस्स (अनगणाय)।

(ध प पा व १०)

सप्तमी के स्थान पर प्रथमा—

(१) सो एव वत्वा त दिवसमेव (तस्मिन् दिवसे) रज्ज पहाय।

(जा म देव)

सप्तमी के स्थान पर द्वितीया—

(१) अधो गग मस्सि।

(पालि जातकावली—सस जातकम् पृ० ३५)

कृदन्त प्रत्ययो के प्रयोग की दृष्टि से पालि और छान्दस मे बहुत साम्य है, विशेषकर पूर्वकालिक प्रत्यय 'त्वा और निमित्तार्थक प्रत्ययो के क्षेत्र मे। सस्कृत मे त्वा' प्रत्यय केवल उपसर्ग रहित धातु के साथ प्रयुक्त है, जब धातु से पूर्व कोई उपसर्ग जुड जाता है तो सस्कृत मे 'त्वा के स्थान पर ल्यप प्रत्यय का विधान है यथा—गत्वा, आगत्य। छान्दस मे भी दोनो प्रत्ययो का विधान है, पर इसमे उपसर्गयुक्त धातुओं के साथ भी त्वा प्रत्यय का प्रयोग किया जाता रहा है, यथा—परिधापयित्वा पालि मे यह प्रयोग अत्यन्त साधारण है—

(१) एक दिवस बोधिसत्तो आकास ओलोकेत्वा (अवलोक्य) चन्द दिस्वा।

(पालि जातकावली, पृष्ठ ३५)

(२) यो च पुब्बे पमज्जित्वा (प्रमाद्य) पच्छा सो नप्प मज्जति।

(ध प लोकवग्गो ६)।

वेद मे 'त्वा प्रत्यय के साथ कभी-कभी 'य' और बढा दिया जाता है, पालि मे उसका स्थानापन्न न' मिलता है—

(१) दिव सुपर्णो गत्वाय सोम वज्रिण आभरत्।

(ऋ० ८ १०० ८)।

(२) कापोतकानि अट्ठीनि तानि दिस्वान (दृष्ट्वा) का रति।
(ध प ज व, ४)[12]

लगभग १८ निमित्तार्थक प्रत्ययों का प्रयोग वेद म मिलता है जिनम से केवल 'तुमुन' प्रत्यय का ही प्रयोग सस्कृत में किया गया है शेष छोड दिए गए हैं। पालि में लगभग दो तो स्पष्टत प्रयुक्त हुए हैं—तुमुन और तवे।

वेद—(१) आ च नो बर्हि सद ताविता च न स्पार्हाणि दातये वसु।
(ऋ० ७ ५६ ६)

(२) ■ आ गमदिन्द्रो यो वसूनां चिकेतद्दातु दामनो रयीणाम्।
(ऋ० इन्द्रसूक्त)

पालि—(१) परिफन्दति द चित्त मारधेय्य पहातवे। (प्रहातुम्)।
(ध प चि व २)

(२) न सक्का पुञ्ज सखातु इमेत्तमपि केनचि।
(ध प बुद्धवग्गो १८)

निपातो के कतिपय परिवतनो म भी पालि और छान्दस मे पर्याप्त साम्य दिखाई देता है छान्दस मे निपातस्य च सूत्र से यह बताया गया है कि निपातो मे प्राय अन्तिम स्वर दीघ हो जाया करता है, पालि म विकल्प से निपात का अन्तिम स्वर दीघ मिलता है—

(१) वेद—सो अर्यं पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्र।
(ऋ सू स, ६०)

(२) पालि—अपा बाधत भ फासु विहालत च। (अ शि ले भब्रू)

अन्त म यही कहा जा सकता है कि छान्दस के अनेक प्रयाग जो सस्कृत मे या तो छोड दिए गए अथवा लुप्त हो गए, वे पालि मे पूणत सुरक्षित हैं। ये सुरक्षित प्रयोग सरलता से पालि और छान्दस का सम्बन्ध प्रस्थापित कर देते हैं। महाभाष्यकार ने व्यत्यय के प्रमाण स्वरूप जो मन्त्र उद्धृत किया है उसके समस्त प्रयोग पालि मे प्रचलित हैं—

ऋजव सन्तु पन्था (पन्थान), परमे व्योमन (व्योमनि), लोहित चमन् (चमणि), आर्द्रे चमन् (चमणि), धीती (धीत्या), मती (मत्या) या सुरथा रथीन्तमा दिवि स्पृशा अश्विना (यौ सुरथौ रथीतमौ दिविस्पृशौ अश्विनौ), मताद् ब्राह्मण (नत ब्राह्मणम्), यादेव (यमेव) विभताऽत्त्वा (तत्त्वा), युष्मे (युष्मासु), अस्मे (अस्मभ्यम), उरुया (उरुणा) धृष्णुया (धृष्णुना), नाभा (नाभौ), आदि।

---

[12] एव धम्मानि सुत्वान विप्पसीदन्ति पण्डिता। (ध प पण्डित वग्गो ७)।
छेत्वान (छित्वा) मारस्स पपुप्फकानि। (धम्मपद पुप्फ वग, ३)।

पंचम अध्याय

# साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ

**पालि के पश्चात साहित्यिक प्राकृतो का प्रादुर्भाव—प्राकृत नाम क्यों—प्राकृतों के भेदों पर प्राचीन वैयाकरणों एवं काव्य शास्त्रियों के भिन्न भिन्न विचार—प्राकृत भाषाओं की सामान्य ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक प्रवृत्तियाँ—मुख्यतः पाँच प्राकृतों की स्वीकृति—(१) शौरसेनी प्राकृत—ध्वनितत्त्व एवं रूप तत्त्व, (२) मागधी प्राकृत—ध्वनितत्त्व तथा रूपतत्त्व—(३) अर्धमागधी—ध्वनितत्त्व तथा रूपतत्त्व—(४) महाराष्ट्री—ध्वनितत्त्व और रूपतत्त्व—(५) पैशाची प्राकृत—ध्वनि तत्त्व और रूप तत्त्व।**

पालि एव अशोकी शिलालेखो की भाषा जब साहित्य एव राजकीय कार्यों के लिए प्रयुक्त की जा रही थी उस समय भिन्न भिन्न क्षेत्रो की बोलियाँ धर्म गुरुओ एव साहित्यकारो के सहयोग से विकास की ओर अग्रसर थी । ये ही बोलियाँ विकसित होकर साहित्यिक प्राकृतो के नाम से आगे चलकर प्रसिद्ध हुई ।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है प्राकृत वैयाकरणो ने मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाओ की प्रकृति सस्कृत बताई है । इसीलिए इस काल की भाषाओ को प्राकृत नाम से अभिहित किया गया है क्योकि ये भाषाएँ किसी न किसी प्रकृति का आधार लेकर विकसित हुई हैं 'तत प्रकृत्या जात तत प्राकृतम्' सिद्धान्त के आधार पर ही यह नामकरण सस्कार हुआ ज्ञात होता है । इन भाषाओ के लिए यह सज्ञा प्राकृत वैयाकरणो की ही देन है । छान्दस एव सस्कृत ग्रन्थो मे इन भाषाओ को देशी भाषाओ एव अपभ्रश भाषाओ के नाम से ही अधिकाशत अभिहित किया गया है । यदि उत्तरकालीन किसी सस्कृत ग्रन्थ मे इन भाषाओं के लिए 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग हुआ भी है तो वह प्राकृत भाषा ग्रन्थो का प्रभाव कहा जा सकता है ।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ शीर्षक के अन्तर्गत सामान्य रूप से इन भाषाओ का अध्ययन करते समय हम बतला चुके हैं कि साहित्यिक प्राकृतो के पूर्ण रूप से अस्तित्व मे आ जाने तक अनेक देशी जन बोलियो का प्रचलन भारतवर्ष मे हो चुका था । भिन्न भिन्न विद्वानो ने इनकी सख्या देश काल के अनुसार भिन्न भिन्न बताई है । अब तक प्राप्त सकेतो के आधार पर कहा जा सकता है कि इनकी सख्या अठारह तक पहुँच चुकी थी और विद्वानो को उनके स्वरूप से परिचय था । उस समय आधुनिक भाषा वैज्ञानिक पद्धति का अभाव होने के कारण विद्वानो ने इन बोलियो के नाम का उल्लेख तो कर दिया किन्तु उनके स्वरूप का विवेचन करने का कष्ट नहीं उठाया । कारण स्पष्ट है कि ये बोलियाँ इस रूप मे समुपस्थित न होगी और न ही वैयाकरणो को इनके लिए शास्त्र निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई होगी तथा लिखित साहित्य का सम्भवत अभाव होने के कारण काव्य शास्त्रियो को इन बोलियो के लिए किसी प्रकार के साहित्यिक नियमो के निबन्धन की आवश्यकता नही हुई होगी । अत इनके स्वरूप का विवेचन उस समय सम्भव न हो सका होगा ।

प्राकृत भाषा के सर्वप्रथम वैयाकरण 'वररुचि' ने अपने व्याकरण ग्रन्थ प्राकृत प्रकाश मे चार प्राकृत भाषाओ का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है:—

(१) महाराष्ट्री, (२) पशाची, (३) मागधी, (४) शौरसेनी। उक्त ग्रन्थ के नौ परिच्छेदों मे महाराष्ट्री का, दसवें परिच्छेद मे पशाची का, ग्यारहवें मे मागधी का और बारहवें म शौरसेनी भाषा का व्याकरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के विवेचन से महाराष्ट्री प्राकृत का सर्वोपरि होना स्वय सिद्ध हो जाता है। हेमचन्द्र के अतिरिक्त अन्य वयाकरणो ने वररुचि की ही पद्धति का अनुसरण किया है तथा प्राकृतो की यही सख्या और यही नाम मानकर उनका व्याकरण एव तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। हेमचन्द्र ने उक्त चार प्राकृतो के अतिरिक्त अन्य तीन प्राकृतो का व्याकरण भी अपने ग्रन्थ 'हेम शब्दानुशासन' म प्रस्तुत किया है। इस प्रकार सात प्राकृत भाषाओ का अस्तित्व हमारे सामने उपस्थित होता है यथा—(१) महाराष्ट्री अथवा प्राकृत, (२) शौरसेनी, (३) पशाची, (४) चूलिका पशाची, (५) मागधी, (६) आर्ष या अर्धमागधी (७) अपभ्रश। हेमचन्द्र ने जैन होने के कारण अर्धमागधी को, अधिक महत्त्वपूर्ण भाषा सिद्ध करने हेतु आर्ष सज्ञा से अभिहित किया है।

इनके अतिरिक्त नामोल्लेख के रूप मे अन्य अनेक प्राकृतें उपलब्ध होती हैं जिनका विवरण एव समाधान डा भोलानाथ तिवारी ने अपने 'भाषा विज्ञान ग्रन्थ मे इस प्रकार दिया है—'अन्य प्राकृत व्याकरणो एव इतर स्रोतो से कुछ और प्राकृत भाषाओ के नाम भी मिलते हैं, जैसे बाल्हीकी शाकारी टक्की शाबरी, चाण्डाली, आभीरिका अवन्ती, दाक्षिणात्या भूतभाषा तथा गौडी आदि। इनमे प्रथम पाँच तो मागधी के ही भौगोलिक या जातीय उपभेद हैं। आभीरिका शौरसेनी का जातीय रूप थी और अवन्ती उज्जैन के पास की कदाचित महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी थी। दाक्षिणात्या भी शौरसेनी का ही एक रूप है। हेमचन्द्र की चूलिका पैशाची को ही दण्डी ने भूतभाषा कहा है (गलती से पैशाची का अर्थ पिशाच या भूत समझकर)। कुछ लोगो ने लिखा है कि हेमचन्द्र ने पैशाची को ही चूलिका पशाची कहा है, किन्तु वस्तुत बात ऐसी नही है। हेमचन्द्र ने ये दोनो नाम अलग अलग दिए हैं। दूसरी पहली की ही एक उपबोली है। गौडी का अर्थ है गौड देश की। इसका आशय यह है कि यह मागधी का ही नाम है।[1]

इनके अतिरिक्त पश्चिमी प्राकृत कैकेय प्राकृत, टक्क या माद्री प्राकृत नागर प्राकृत या खस प्राकृत आदि की कल्पना भी कतिपय आधुनिक भारतीय विद्वान् एव पाश्चात्य भाषा विज्ञ करते हैं परन्तु इस प्रकार की कल्पना कदापि समीचीन नही कही जा सकती। मेरे विचार म छान्दस के परिनिष्ठित स्वरूप

---

[1] भाषा विज्ञान, पृष्ठ ११७।

धारण करने तक यह बहुत सम्भव है कि समस्त उत्तर भारत मे सप्त सिन्धु प्रदेश से लेकर मगध तक अनेक जन बोलियाँ न्यूनाधिक अन्तर के साथ विकसित हो चली हो और वैयाकरणो को उनका ज्ञान भी रहा हो, परन्तु इन बोलियो का—केवल साहित्यिक रूपो को छोडकर—केवल नामोल्लेख मात्र उपलब्ध होता है। अत इन पर किसी भी प्रकार का कोई निर्णय देना खतरे से खाली नहीं है। इसलिए हम भी केवल उनके पुनरालेखन मात्र से ही सन्तुष्ट होना पडा। प्रस्तुत ग्रन्थ म हम उन्ही प्राकृत भाषाओ पर विचार विमर्श करने का प्रयत्न करेंगे, जिन प्राकृतों का साहित्य उपलब्ध होता है *अथवा जिनके साहित्य का अथवा व्याकरणिक विशेषताओ का वर्णन प्राचीन* ग्रथो मे मिलता है। अधोलिखित प्राकृत भाषाएँ इन मान्यताओं के अन्तर्गत आती हैं—(१) शौरसेनी (२) मागधी, (३) अर्धमागधी (४) महाराष्ट्री तथा (५) पैशाची।

अब हम सर्वप्रथम उन सामान्य विशेषताओ का अवलोकन करने का यत्न करेंगे जो उस समय की प्रचलित समस्त भाषाओ म उपलब्ध होती हैं। तत्पश्चात उन भाषाओं की पृथक् पृथक् विवेचना प्रस्तुत कर उनकी अपनी मौलिक प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन करायेंगे।

ध्वनितत्त्व—(१) मध्यकाल तक आते-आते व्यञ्जन ध्वनियो मे दो स्वरो के मध्य आने वाली सघोष स्पर्श व्यञ्जन ध्वनियो का उच्चारण शिथिल हो गया तथा उनका उच्चारण ऊष्म ध्वनिवत् होने लगा। धीरे धीरे शिथिलता को प्राप्त ये ध्वनियाँ लुप्त होने लगी। यह प्रक्रिया कुछ इसी प्रकार सम्पन्न हुई जसे किसी पदार्थ को रगड रगड कर घिसना प्रारम्भ कर दें और अन्त म घिसते घिसते पदार्थ की वह अवस्था आ जाय कि उसका उस रूप म अस्तित्व ही समाप्त हो जाय है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मध्यकालीन आर्य भाषाओ म स्वर मध्यग अल्पप्राण अघोष एव सघोष ध्वनि का लोप हो जाता है—

*शची>सई, रजक>रअओ नयनम्>णअण, शुक>सुग>सुअ, हृत>* हिद>हिअ (हि हिया), अपर>अवर>अउर (और) सागर>साअर (सायर) रिपु>रिउ।

(२) स्वरो के मध्य मे जब अघोष तथा सघोष महाप्राण ध्वनियाँ आती हैं तो प्राय उसके स्थान पर 'ह' का आदेश कर दिया जाता है। अपभ्रंश भाषा मे यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित की गई है। अपभ्रंश एव शौरसेनी प्राकृत मे सघोष अल्पप्राण के लोप के पश्चात 'य' श्रुति का आगम भी विशेष रूप से लक्षित किया गया है जिसके अवशेष अब भी व्रजभाषा एव राजस्थानी म खोजे जा सकते हैं—

मुखम्>मुह मेखला>मेहला, मेघ>मेहो, माघ>माहो, नाथ>नाहो, मिथुन>मिहुण, साधु>साहु राधा>राहा, सभा>सहा, नभ>णह।

'य' श्रुति के उदाहरण[2]—नगरम्>नयर, मृगांक>मयंको, रसातल>रसायल, मदन>मयणो, प्रजापति>पयावइ।

(३) 'ऋ' ध्वनि लिखित रूप में तो नहीं मिलती है किन्तु उसका उच्चारण 'रि' की तरह होने लगा था। अधिकतर 'ऋ' का विकास 'अ इ उ, और ए' के रूप में उपलब्ध होता है—

ऋणम>रिण, ऋजु>रिज्जु, ऋषभ>रिसहो, ऋषि>रिसि, एतादृशम>एआरिस तादृश>तारिसा सदृश>सरिसो यादृश>एरिसो, कीदृश>केरिसो, घृतम्>घअ, तृणम्>तण, कृत>कअ मृत>मओ, कृपा>किवा, दृष्टम>दिट्ठ, कृश>किसो, वर्षि>विसी ऋतु>उदु प्रावृष्>पाउसो पृष्ठम्>पुट्ठ, मातृ>माऊ गृहम्>गेह।

(४) 'न' ध्वनि का विकास 'ण' में होने लगा था—

नाराच>णाराओ, नगरम>णअर निशाचर>णिसाअरो।

रूप तत्त्व—(१) व्यञ्जनान्त शब्दों का प्रायः लोप हो गया। व्यञ्जनान्त शब्दों के अन्त्य हल् व्यञ्जन का या तो लोप कर उसे स्वरान्त बना लिया गया या उसके साथ 'अ' का आगम कर उसे अजन्त बनाया गया है—

राजन्>राआ आत्मन्>अप्पा।

(२) शब्द रूपों में क्षय की प्रवृत्ति का प्रारम्भ जो अप्रत्यक्ष रूप में छान्दस से ही प्रारम्भ हो गया था, इस काल तक आते-आते इसके चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे। पुल्लिङ्ग कर्ता बहुवचन और कर्म, बहुवचन के रूप समान होने लगे—

सव्वे— सव्वे गिरिणो—गिरिणो, देवा— देवा
(कर्ता) (कर्म) (कर्ता) (कर्म) (कर्ता) (कर्म)

चतुर्थी के रूप लगभग समाप्त से हो गए और उसका काम षष्ठी से लिया जाने लगा।

(३) लिङ्ग—लिङ्ग के स्थान पर किसी प्रकार के क्षय के चिह्न दृष्टिगत नहीं होते। मध्यकाल में संस्कृत की तरह तीनों ही लिङ्गों का प्रयोग प्राप्त होता है। हाँ लिङ्ग व्यत्यय के उदाहरण अवश्य मिलने लगते हैं जिनके लिए अपभ्रंश के अध्ययन में हेमचन्द्र को *लिङ्गमतन्त्रम्*[3] *सूत्र की* रचना करनी पड़ी।

---

[2] समस्त उदाहरण हेम व्याकरण से उद्धृत हैं।

[3] हेमचन्द्र शब्दानुशासन ८/४/४४५वाँ सूत्र।

(४) संज्ञा शब्दों के साथ सार्वनामिक विभक्ति प्रत्ययों का प्रयोग होने लगा, यथा—'लोके' के स्थान पर लोकम्हि देवे>देवेम्मि, गुरो >गुरुत्तो गुरुम्य >गुरुसुंतो।

(५) कारक और क्रियाओं का सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए संज्ञा शब्द के साथ कारकाव्यय एवं कृदन्त क्रियाओं का प्रयोग भी इस काल में प्रारम्भ हो गया। यही वह प्रवृत्ति है जिसने आगे चल कर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अनुसर्गों अथवा परसर्गों को जन्म दिया। यद्यपि इस प्रवृत्ति के संकेत उत्तरकालीन संस्कृत से मिलने प्रारम्भ हो गए थे किन्तु प्राकृतों में इस प्रवृत्ति का विकास विशेष रूप से हुआ और अपभ्रंश में तो ऐसे प्रयोग धड़ल्ले के साथ होने लगे—रामस्स कए दत्त रामस्स केरक घर।

(६) आत्मनेपद के प्रयोग क्रमशः घटते जा रहे थे धातुओं का प्रयोग प्रायः परस्मपद में ही होने लगा।

(७) लङ् लिट् तथा लुङ् के प्रयोग बन्द हो गए। लेट् लकार का प्रयोग बहुत पहले ही (संस्कृत से ही) बन्द हो चुका था। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के काल रूपों एवं भाव रूपों का विवेचन करते समय डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं—भा आ आ के अधिकांश सूक्ष्म काल तथा रूप धीरे धीरे नष्ट हो गए और अन्त में द्वितीय म भा आ अवस्था में केवल कर्तरि वर्तमान, एक कर्मणि वर्तमान एक भविष्यत् (निर्देशक रूप में) एक अनुज्ञार्थ तथा एक विधिलिङ् वर्तमान रूप प्रचलित रहे, साथ ही कुछ विभक्ति साधित भूत रूप भी बचे रहे यथा—भूतकाल का निर्देश साधारणतया त इत ('या न') साधित कर्मणि कृदन्त या निष्ठा द्वारा होने लगा। 'लङ् लुङ् लिट्' के स्थान पर म भा आ में भूतकाल भावे या कर्मणि कृदन्त गत लगा कर बनाया जाने लगा।[4]

(८) मिथ्या सादृश्य के आधार पर सुबन्त और तिङन्त रूप कम होकर भाषा को सरल बनाने में सहायक सिद्ध हो रहे थे।

सम्मिलित रूप से साहित्यिक प्राकृतों की भाषात्मक सामान्य प्रवृत्तियों के विश्लेषण के पश्चात् अब उपर्युक्त भाषाओं की उन विशेषताओं का अवलोकन करने का प्रयत्न करेंगे जिनके कारण ये भाषाएँ एक ही स्रोत से निसृत होने पर भी अपना भिन्न अस्तित्व बनाए हुए हैं—

**शौरसेनी**—मध्यदेश में बोली जाने वाली भाषा का नाम शौरसेनी है। इसका यह नाम शूरसेन प्रदेश के आधार पर पड़ा। आधुनिक मथुरा प्रदेश ही उस समय शूरसेन प्रदेश कहलाता था।

---

[4] भारतीय आर्यभाषा और हिंदी पृष्ठ १०७।

इस पर उदीच्य बोली का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है, परन्तु साथ ही मागधी भाषा की कतिपय विशेषताएँ अपने में सजोए हुए है। शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग संस्कृत नाटकों में नाटककारों ने हीन पात्रों और नारी पात्रों के मुख से करवाया है। कर्पूरमञ्जरी नाटक का और अश्वघोष के नाटकों का गद्य अधिकतर शौरसेनी में ही उपलब्ध होता है। अश्वघोष के प्राय तीन नाटक बताए जाते हैं जिनमें से दो के नामादि का—खण्डित होने के कारण—पता नहीं चलता। एक प्रकरण रूपक सम्पूर्ण उपलब्ध है जिसका नाम शारिपुत्र प्रकरण है। इन नाटकों की खोज लूडर्स महोदय ने की थी। गौतम और उनके शिष्यों को छोड़ कर शेष पात्र प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं। डॉ बलदेव उपाध्याय उसे महाराष्ट्री की संज्ञा देते हैं[5] किन्तु प्रसिद्ध भाषा विज्ञ डॉ बाबूराम सक्सेना ने उसे शौरसेनी प्राकृत कहा है।[6] शौरसेनी और महाराष्ट्री में पर्याप्त मात्रा में साम्य होते हुए भी कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं जो इनको पृथक्-पृथक् भाषाएं स्वीकार करने पर बल देती हैं। विद्वानों का मत है कि शौरसेनी का उद्भव पालि भाषा से हुआ है। शौरसेनी का ही विकसित रूप महाराष्ट्री है'—इस बात का समर्थन आजकल भाषा मर्मज्ञ विशेष रूप से कर रहे हैं।

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) शौरसेनी में प्रायः वे सभी ध्वनियाँ उपलब्ध होती हैं जो पालि में हैं। स्वरों में ए, 'औ' 'ऋ' ध्वनियाँ नहीं हैं। व्यञ्जनों में स, श, ष तीनों के स्थान पर केवल स मिलता है। न और य के स्थान पर प्रायः 'ण' और 'ज' मिलते हैं यथा—

ईदृशम्>ईदिस एष>एसो, यज्ञसेन>जण्णसेणो पृतना>पिदणा मानव>माणओ, अभिमन्यु>अहिमण्णू अब्रह्मण्यम्>अब्बह्मञ्ज, यथा>जधा यादृश>जादिस।

(२) शौरसेनी भाषा के अनादि में वर्तमान असंयुक्त त और 'थ' के क्रमशः द और ध हो जाते हैं, यथा—

गच्छति>गच्छदि आगत>आगदो यथा>जधा कथय>कधेहि एतस्मात्>एत्ताहि कौतूहलम्>कोदूहलं।

(३) जहाँ 'त' या 'थ' आदि में वर्तमान हों वहीं पर यह परिवर्तन नहीं देखा जाता, यथा—

*तथा>तधा तस्य>तस्स तस्मिन्>तत्थ तादृशम्>तादिस।*

(४) त जब अन्य व्यञ्जन के साथ मिला हुआ होता है तब भी इसे

---

[5] संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५०६।

[6] सामान्य भाषा विज्ञान, पृ० २६२।

'द का आदेश नहीं होता। थ को भी सयुक्त होने पर 'ध' आदेश नहीं होता, यथा—

शकुन्तले>सउन्तले आयपुत्र>अज्जउत्त, त्वया>तए उत्थित >उत्थिदो स्थूलम्>थूल उद+स्था>उत्थ।

(५) 'थ को सवथा ध का आदेश नही होता कहीं कही थ का थ ही रहता है और कही कही 'थ' को ह' आदेश भी देखा जाता है यथा—

नाथ >णाधो/णाहो कथम्>कह/कध राजपथ >राजपहो दशरथ > दसरहो।

(६) डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार सस्कृत 'द ध ध्वनियों की शौरसेनी मे पूण सुरक्षा पाई जाती है [7] पर यह सवत्र दृष्टिगत नहीं होता, अनेक स्थानों पर इनमे विकार देखा जाता है, यथा—

वधू >बहू युधिष्ठिर >जुहुट्ठिरो नदी>नई दुहिता>धूदा रुध>रोव, बदरम्>बअर।

(७) क्ष के स्थान पर शौरसेनी 'क्ख मिलता है, यथा—

इक्षु>इक्खु कुक्षि>कुक्खि वृक्ष >रुक्खो।

(८) शौरसेनी मे कही-कही 'ज्ञ के स्थान पर ण' भी मिलता है यथा—सवज्ञ >स वण्णो इगितज्ञ >इगिअणो विज्ञ >विण्णो 'न को विकल्प से 'ञ्ज भी होता है। यथा—क्रमश ब्रह्मज्ञ >ब्रह्माञ्जो विज्ञ>विञ्जो।

(९) सयुक्त व्यञ्जनों में से एक का तिरोभाव कर पूववर्ती स्वर को दीघ करने की प्रवृत्ति शौरसेनी मे अधिक नहीं मिलती।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) शौरसेनी म अद त शब्दो पर ङसि' के स्थान पर (पचमी एक वचन में) आदो और आदु आदेश न होकर केवल दो' आदेश होता है, यथा—देवादो।

(२) शौरसेनी मे स्त्रीलिंग मे जस' (प्रथमा बहुवचन) को 'उत आदेश नही होता, यथा—प्राकृत—मालाओ शौरसेनी—माला।

(३) शौरसेनी मे नपुसकलिङ्ग मे जस और शस (प्रथमा और द्वितीया बहुवचन) के स्थान पर केवल 'णि आदेश होता है और पूव स्वर का दीघ हो जाता है, यथा—वणाणि, धणाणि, आदि।

(४) शौरसेनी मे केवल परस्मपद के प्रयोग ही अधिक मात्रा मे पाए जाते हैं। आत्मनेपद के प्रयोग नही के बराबर हैं।

(५) शौरसेनी म तिङ प्रत्ययो के आने पर 'भू धातु भो मे परिवर्तित हो जाती है यथा—भोदि, भोमि।

---

[7] हिन्दी भाषा का उदगम और विकास, पृष्ठ ११५।

(६) शौरसेनी म विधि के रूपों म मागधी और अधमागधी की तरह 'एज्ज न लगाकर संस्कृत के आधार को ही ग्रहण किया गया है, यथा— वर्तेत>वट्टे।

(७) संस्कृत के कमवाच्य के सूचक य' प्रत्यय के स्थान पर शौरसेनी में इअ' आदेश होता है, यथा—पृच्छयते>पुच्छीअदि गम्यते>गमीअदि।

(८) शौरसेनी म धातु और तिङ के मध्य म कहीं कहीं ए' और 'अ होते है। यथा—कथयति>कधेदि, शेते>सुआदि।

(९) शौरसेनी मे कृ' गम् धातुओं के साथ 'क्त प्रत्यय को 'अडुअ आदेश होता है, यथा—कडुअ गडुअ। इसके अतिरिक्त करिय करिदूण गच्छिय, गच्छिदूण रूप भी मिलते हैं।

मागधी

यह भाषा छान्दस से विकसित प्राच्या बोली का साहित्यिक एव परिष्कृत रूप है जिसे भगवान बुद्ध ने अपने प्रवचनों की अभि यञ्जना का माध्यम चुना था। वतमान अवध से लेकर बगाल तक का प्रदेश इस भाषा के अन्तगत आता था। डा चाटुर्ज्या के अनुसार प्राच्या उपभाषा सम्भवत आधुनिक अवध पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा शायद बिहार प्रदेश की भाषा थी।[8]

मागधी प्राकृत के साहित्यिक रूप मे आने तक आर्यों का यह वग निश्चित रूप से आधुनिक बगाल तक पहुँच चुका होगा। मागधी का ऐसा साहित्य अब तक उपलब्ध न हो सका है जो पूरे का पूरा मागधी भाषा म लिखा गया हो। संस्कृत नाटकों म हीन पात्रों के मुख से इस भाषा का प्रयोग करवाया गया है। विद्वानों का मत है कि ध्वनि विकार की दृष्टि से मागधी तत्कालीन भाषाओं की अग्रणी रही है।

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) पालि मे प्राप्त प्राय सभी स्वर मागधी मे उपलब्ध होते हैं। व्यञ्जनों के क्षेत्र म पालि का अनुसरण न कर स्वतन्त्र पथ का अनुगमन किया गया है। ऊष्म ध्वनियों म पालि म 'श ष स तीनों के स्थान पर स का प्रयोग मिलता है वहाँ मागधी मे उक्त तीनों ध्वनियों के स्थान पर केवल 'श ही मिलता है। यथा—

हस>हशे सारस>शालशे, पुरुष>पुलिशे।

(२) हेमचन्द्र के अनुसार 'स ष' को असयुक्त अवस्था म ही 'श आदेश होता है सयुक्त रहने पर स' को स और 'ष' को ष' आदेश हो जाता है[9] यथा—

---

[8] भारतीय आयभाषा और हिन्दी' के अनुसार।

[9] आचाय मधुसूदन प्रसाद मिश्र कृत, प्राकृत व्याकरण पृष्ठ १६५।

हस्ती>हस्ती, बृहस्पति>बुहस्पदी, कष्टम>कस्ट विष्णुम्>विस्नु, निष्फलम>निस्फल, ऊष्मा>उस्मा।

(३) मागधी मे 'र' के स्थान पर 'ल' मिलता है, यथा—

नर>नले, वर>वले मस्करी>मस्कली वासर>वासले, राजा>लाजा समर>शमल आदि।

(४) मागधी मे 'स्थ' और 'र्थ' के स्थान पर 'स्त' आदेश होता है, यथा—

अर्थवती>अस्तवदी, सार्थवाह>शस्तवाहे उपस्थित>उवस्तिदे, सुस्थित>शुस्तिदे।

(५) 'ज' 'द्य', और 'य' के स्थान पर मागधी मे 'य' का आदेश होता है, यथा—

जानाति>याणादि, जनपद>यणपदे गर्जति>गय्यदि, मद्यम>मय्य अद्य>अय्य, याति>यादि।

(६) 'क्ष' के स्थान पर शौरसेनी मे जहाँ क्ख या ख मिलते हैं वहाँ मागधी मे 'स्क' का आदेश होता है यथा—

पक्ष>पस्के प्रेक्षते>पेस्कदि आचक्षते>आचस्कदि।

(७) मागधी मे 'त' के स्थान पर 'द' का आदेश होता है, यथा—

गच्छति>गच्छदि अर्थवती>अस्तवदी, आगत>आगद।

(८) द्वित्व 'ट' और 'ष' से युक्त ठ (ष्ट) के स्थान पर मागधी मे 'स्ट' का आदेश होता है यथा—

पट्ट>पस्टे भट्टारिका>भस्टालिका, भट्टिनी>भस्टणी सुष्ठ>शुस्टु कोष्ठागारम>कोस्टागाल।

(९) मागधी मे अनादि मे वर्तमान 'छ' के स्थान पर श्च का आदेश होता है यथा—

गच्छ गच्छ>गश्च गश्च उच्छलति>उश्चलदि पिच्छिल>पिश्चिले।

(१०) ण्य, ण्य, न्य 'ञ्ज' संयुक्ताक्षरों के स्थान पर मागधी मे ञ्ञ ध्वनि उपलब्ध होती है, यथा—

अभिमन्यु>अहिमञ्ञु, कन्या>कञ्ञा, अब्रह्मण्यम>अबम्हञ्ञ पुण्याहम>पुञ्ञाह अवज्ञा>अवञ्ञा सर्वज्ञ>शवञ्ञे पञ्जर>पञ्जले।

(११) समीकरण की प्रवृत्ति जो सामान्य रूप से सभी प्राकृतों मे उपलब्ध होती है वहाँ मागधी मे यदि ऊष्म ध्वनि पूर्ववर्ती हो तो समीकरण नही होता, यथा—हस्त>हस्त शुष्क>शुस्क।

(१२) द्य र्ज र्य के स्थान पर प्रायः 'य्य' ध्वनि पाई जाती है यथा—

अद्य>अय्य आर्य>अय्य, नार्य>नय्य, अर्जुन>अय्युण।

**रूप तत्त्व**

(१) शौरसेनी में जहाँ कर्ता कारक के प्रत्यय 'अ' के स्थान पर 'ओ' होता है वहाँ मागधी में 'ए' मिलता है, यथा—

[illegible] >से, क >के, देव >देवे, वृत्त >वुत्ते मेष >मेशे, भदन्त >भन्ते।

(२) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में वररुचि[10] के मत में विकल्प से 'सु' प्रत्यय के आने पर 'अ' को 'इ' और प्रत्यय का लुक होता है, यथा—

एशि लाआ<एष राजा, एशि पुलिशे<एष पुरुष।

(३) क्त प्रत्ययान्त शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'अ' को 'उ' भी होता है,[11] यथा—

हशिदु<हसित, चलिदु<चलित खादिदु<खादित।

(४) षष्ठी में 'स्य' के स्थान पर 'अह' का प्रयोग होता है, यथा—चारुदत्तस्य>चालुदत्ताह रामस्य>लामाह फलस्य>फलाह।

(५) मागधी में षष्ठी के बहुवचन 'आम्' को भी विकल्प से 'आह' आदेश होता है यथा—

शअणाह<स्वजनानाम् तुम्हाह>युस्माकम् अम्हाह>अस्माकम्।

(६) सप्तमी में 'इ' के स्थान पर 'अहि' उपलब्ध होता है, यथा—प्रवहणे>पवहणाहि।

(७) मागधी में 'अहम्' और 'वयम्' के स्थान पर 'हगे' आदेश होता है, यथा—हगे शक्कावदालतित्थणिवाशी धीवले। (प्राकृत व्याकरण पृष्ठ १६८)।

(८) मागधी में स्था धातु के तिष्ठ के स्थान पर चिष्ठ आदेश होता है, यथा—चिष्ठदि चिष्ठदे। कुछ विद्वानों के मतानुसार चिट्ठ भी आदेश होता है, यथा—चिट्ठदि आदि।

(९) गम्ल मृङ डुकृञ् धातुओं में क्त प्रत्यय को डे आदेश होता है, यथा—गडे<गत मडे<मृत, कड<कृत।

(१०) मागधी में क्त्वा प्रत्यय को दाणि आदेश होता है —

शहिदाणि गडे>सोढ्वा गत करिदाणि आगडे>कृत्वा आगत।

**अर्धमागधी**

यह भाषा शूरसेन प्रदेश (आधुनिक मथुरा) के पूर्व में और मगध (आधुनिक दक्षिण बिहार) के पश्चिम में बोली जाती थी। इन्हें आजकल कौशल एवं बनारस प्रदेश के नाम से अभिहित करते हैं। आधुनिक विद्वान इसे पुरानी कौशली की पूर्वजा और प्राकृत वैयाकरण मगध के पश्चिम में बोली

---

[10] 'अत इदेतौ लुक् च' ११/१० (वररुचि प्राकृतप्रकाश)।

[11] क्तान्तादुश्च ११/११ (वही)।

जाने के कारण इसे पश्चिमी प्राच्या' भी कहते है। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध की मातृभाषा होने के कारण बौद्धो और जैनो की साहित्यिक भाषा बनी। बाद म बौद्धो द्वारा मागधी और पुन पालि को धार्मिक भाषा के रूप म स्वीकार कर लिये जाने पर जन धम की एक मात्र निधि बन गई। जना ने इस छान्दस से भी प्राचीन भाषा बताया है तथा वे न केवल इसे भारत की भाषाओ का अपितु विश्व की समस्त भाषाओ का उद्गम स्थल बताते हैं। हेमचन्द्र तथा अन्य जन विद्वान इसे 'आप भी कहते हैं।

भाषा वनानिक दृष्टि से अधमागधी म मागधी और महाराष्ट्री दोनो भाषाओ के तत्त्व देखन म आते हैं। कुछ प्राकृत वैयाकरण इसे शौरसेनी और मागधी का मिश्रित रूप कहते हैं।

डा मनमोहन घोष के महत्त्वपूण अनुसन्धान के पश्चात दोनो वर्गों के विद्वान सही उतरते हैं। डॉ घोष के अनुसार शौरसेनी का विकसित रूप ही महाराष्ट्री है, न कि महाराष्ट्र प्रदेश की कोई भिन्न प्राकृत। आपके अनुसार शौरसेनी प्राकृत का पोषण एव विकास महाराष्ट्र प्रदेश म महाराष्ट्री के नाम से इसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार खड़ी बोली हिन्दी का दक्खनी हिन्दी के नाम से दक्षिण मे।

प्राकृत वैयाकरणा एव विद्वानो ने महाराष्ट्री का प्रभाव लक्षित करते हुए कहा है—'रसो लशौ मागध्याम् इत्यादि यन्मागधभाषा लक्षण तेन परिपूर्णा प्राकृत (महाराष्ट्री) बहुला अधमागधी इत्युच्यते' (औपपातिक सूत्रवत्ती)।

'भगवती सूत्र मे अधमागधी का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है— मागधभाषा लक्षण किञ्चित किञ्चिच्च प्राकृतभाषालक्षण यस्यामस्ति सा अधमागध्या इति व्युत्पत्त्या अधमागधी। (भगवती सूत्रवत्ती)

क्रमदीश्वर ने प्राकृत के स्थान पर स्पष्ट ही महाराष्ट्री शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है—महाराष्ट्री मिश्राऽधमागधी।

(सक्षिप्तसारे पष्ठ ३८, सूत्र ६७)

माकण्डय महाराष्ट्री के स्थान पर शौरसेनी का प्रभाव बताते हुए लिखत है— शौरसे या अदूरत्वाद इयमवाधमागधी'। (प्रा० सवस्व, पृष्ठ १०३)

मलयगिरि ने कवल मागधी का प्रभाव मानते हुए स्वतन्त्र रूप से अध मागधी का विवचन किया है। यथा—'अत सौ पुसि इति मागधिक भाषा लक्षणावत् सवमपि हि प्रवचनमधमागधिक भाषाऽऽत्मकम् अधमागधी भाषया तीथकृता देशना प्रवत्ते। (नन्दी सूत्रवत्ती)

उपयुक्त उद्धरणा स प्रतीत होता है कि कुछ विद्वान् मागधी का अधिक

प्रभाव मानते हैं और कुछ महाराष्ट्री अथवा शौरसेनी का। प्रभावों की न्यूनाधिकता को प्रश्रय न देते हुए हम कह सकते हैं कि अर्धमागधी ने मागधी और मध्यदेशीय भाषाओं से कुछ ग्रहण कर तथा जैनाचार्यों की उच्चतम प्रतिभाओं की सेवावृत्ति को लेकर अपने समय की सर्वोन्नत साहित्यिक भाषा बनने का गौरव प्राप्त किया है। समस्त जैन धार्मिक साहित्य अर्धमागधी भाषा में लिखा गया है। शौरसेनी भाषा के प्रकाश में (साहित्यिक) आने से पूर्व ही इसमें पर्याप्त मात्रा में धार्मिक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। अर्धमागधी में उपरिकथित दोनों भाषाओं की विशेषताओं के साथ साथ अपनी भी मौलिक विशेषताएँ हैं जो निम्न प्रकार से हैं—

ध्वनि तत्त्व—(१) स्वर और व्यञ्जनों की दृष्टि से यहाँ मागधी और शौरसेनी के मार्ग का ही अनुसरण किया है। अन्तर केवल इतना है कि ऊष्म ध्वनियों में से मागधी के शकार के स्थान पर शौरसेनी के सकार के प्रति अपनी अभिरुचि प्रकट की है—

| संस्कृत | मागधी | अर्धमागधी |
|---|---|---|
| श्रावक | शावके | सावके |
| वेश | वेशे | वेसे |
| शृंगार | शिंगारे | सिंगारे |

(२) अर्धमागधी में मागधी की तरह र का ल में परिवर्तन नहीं होता—कला>कला दारक>दारय।

(३) ऋकारान्त धातुओं के अन्त में आये क्त प्रत्यय के त के स्थान पर ड का आदेश होता है—

मृत>मड कृत>कड।

(४) दो स्वरों के मध्य आने वाले सघोष अल्पप्राण स्पर्श के लोप हो जाने पर उसके स्थान पर य श्रुति का आगम होता है—सागर>साअर>सायर कृत>कअ>कय गत>गअ>गय विशारद>विसारअ>विसारिय।

(५) कहीं कहीं स्वर मध्यस्थ अल्पप्राण घोष ध्वनि अल्पप्राण सघोष ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है यथा—लोकस्मिन (लोक)>लोगंसि।

(६) क के स्थान पर ग का आगम होता है—

श्रावक>सावग अशोक>असोग अहक>हगे।

(७) दन्त्य ध्वनियों को मूर्धन्यादेश की प्रवृत्ति अर्धमागधी की विशेषताओं में एक मानी जाती है—

मृत>मडे कृत>कडे।

रूप तत्त्व—(१) कर्ता कारक के एकवचन मे शौरसेनी और महाराष्ट्री की तरह अन्त मे ओ तथा मागधी के समान एँ होता है—

| संस्कृत | मागधी | शौरसेनी | अर्धमागधी |
|---|---|---|---|
| श्रावक | शावके | सावको | सावके/सावक्को |
| भदंत | भंते | भदन्तो | भदन्ते/भदन्तो |
| श्रमण | शमणे | समणो | समणे/समणो |

(२) सप्तमी के एकवचन के 'स्मिन के स्थान पर अंसि का प्रयोग मिलता है—

लोकस्मिन>लोगंसि/लोयंसि,

तस्मिन>तंसि, अस्मिन>अंसि।

(३) कम्म' धम्म के तृतीया एकवचन मे उणा प्रत्यय का प्रयोग मिलता है—कम्मुणा, धम्मुणा।

(४) उपसर्गों मे कही कही अन्त्य वर्ण तथा कही केवल अन्त्य स्वर का लोप देखा जाता है—

इति>ई प्रति>पत।

(५) त्वा और ल्यप के स्थान पर अर्धमागधी म क्रमश इत्तु और टटु का प्रयोग होता है—

श्रुत्वा>सुणित्तु ज्ञात्वा>जाणित्तु,

कृत्वा>कटटु अपहृत्य>अवहटटु।

(६) 'तुमुन्न्त प्रत्ययो का प्रयोग अर्धमागधी म पूर्वकालिक क्रिया के समान होता है—कर्तुम>काउँ का प्रयोग कृत्वा' के स्थान पर मिलता है।

(७) डा उदयनारायण तिवारी ने पूर्वकालिक क्रिया के लिए 'त्ता और च्चा प्रत्ययो के प्रयोग का उल्लेख भी किया है।

महाराष्ट्री

प्राचीन वैयाकरणो का यह अभिमत था कि दक्षिण की ओर अग्रसर होने वाले आर्य जिस बोली का प्रयोग करते थ, उसका साहित्यिक रूप ही महाराष्ट्री प्राकृत है और इसी से आधुनिक विद्वान् मराठी भाषा का उदभव भी सिद्ध करने का यत्न करते हैं। हाल ही मे डॉ मनमोहन घोष की खोज के पश्चात आधुनिक विद्वद्वर्ग की प्रवृत्ति इस दिशा की ओर भी चिन्तन करने लगी है कि महाराष्ट्री प्राकृत पूर्वकथित तत्कालीन प्राकृत भाषाओ के समानान्तर चलने वाली स्वतन्त्र रूप स विकसित भाषा विशेष न होकर शौरसेनी प्राकृत से विकसित या उसका पश्चकालीन स्वरूप है और इस भाषा का विकास शूरसेन प्रदेश म न होकर उसी प्रकार महाराष्ट्र प्रदेश में हुआ जिस प्रकार खडी बोली दक्खणी हिन्दी' या 'रेख्ता' के नाम से दक्षिण मे विकसित होती रही और

प्रभाव मानते हैं और कुछ महाराष्ट्री अथवा शौरसेनी का। प्रभावों की न्यूनाधिकता का प्रश्रय न देते हुए हम कह सकते हैं कि अर्धमागधी ने मागधी और मध्यदेशीय भाषाओं से कुछ ग्रहण कर तथा जैनाचार्यों की उच्चतम प्रतिभाओं की सेवावृत्ति को लेकर अपने समय की सर्वोन्नत साहित्यिक भाषा बनने का गौरव प्राप्त किया है। समस्त जैन धार्मिक साहित्य अर्धमागधी भाषा में लिखा गया है। शौरसेनी भाषा के प्रकाश में (साहित्यिक) आने से पूर्व ही इसमें पर्याप्त मात्रा में धार्मिक ग्रंथ लिखे जा चुके थे। अर्धमागधी में उपरिकथित दोनों भाषाओं की विशेषताओं के साथ साथ अपनी भी मौलिक विशेषताएँ हैं जो निम्न प्रकार से हैं—

ध्वनि तत्त्व—(१) स्वर और व्यञ्जनों की दृष्टि से यहाँ मागधी और शौरसेनी के मार्ग का ही अनुसरण किया है। अंतर केवल इतना है कि ऊष्म ध्वनियों में से मागधी के शकार के स्थान पर शौरसेनी के सकार के प्रति अपनी अभिरुचि प्रकट की है—

| संस्कृत | मागधी | अर्धमागधी |
|---|---|---|
| श्रावक | शावके | सावके |
| वेश | वेशे | वेसे |
| शृंगार | शिंगारे | सिंगारे |

(२) अर्धमागधी में मागधी की तरह र का ल में परिवर्तन नहीं होता—कला>कला दारक>दारय।

(३) ऋकारांत धातुओं के अंत में आये क्त प्रत्यय के त के स्थान पर ड का आदेश होता है—

मृत>मड कृत>कड।

(४) दो स्वरों के मध्य आने वाले सघोष अल्पप्राण स्पर्श के लोप हो जाने पर उसके स्थान पर य श्रुति का आगम होता है—सागर>साअर>सायर कृत>कअ>कय गत>गअ>गय विशारद>विशारअ>विसारिय।

(५) कहीं-कहीं स्वर मध्यस्थ अल्पप्राण घोष ध्वनि, अल्पप्राण सघोष ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है यथा—लोकस्मिन् (लोक)>लोगंसि।

(६) 'क' के स्थान पर ग का आगम होता है—

श्रावक>सावग, अशोक>असोग अहक>हग।

(७) अन्त्य ध्वनियों को मूर्धन्यादेश की प्रवृत्ति अर्धमागधी की विशेषताओं में एक मानी जाती है—

मृत>मडे कृत>कडे।

रूप तत्त्व—(१) कर्ता कारक के एकवचन में शौरसेनी और महाराष्ट्री की तरह अन्त में ओ तथा मागधी के समान ए' होता है—

| संस्कृत | मागधी | शौरसेनी | अर्धमागधी |
|---|---|---|---|
| श्रावक | शावके | सावको | सावके/सावको |
| भदंत | भंते | भदन्तो | भदन्ते/भदन्तो |
| श्रमण | शमणे | समणो | समणे/समणो |

(२) सप्तमी के एकवचन के 'स्मिन के स्थान पर अंसि' का प्रयोग मिलता है—

लोकस्मिन>लोगंसि/लोयंसि,

तस्मिन>तंसि, अस्मिन>अंसि ।

(३) कम्म' धम्म के तृतीया एकवचन में उणा प्रत्यय का प्रयोग मिलता है—कम्मुणा धम्मुणा ।

(४) उपसर्गों में कहीं कहीं अन्त्य वर्ण तथा कहीं केवल अन्त्य स्वर का लोप देखा जाता है—

इति>ई, प्रति>पत ।

(५) त्वा और ल्यप के स्थान पर अर्धमागधी में क्रमश इत्तु और टटु' का प्रयोग होता है—

श्रुत्वा>सुणित्तु ज्ञात्वा>जाणित्तु,

कृत्वा>कट्टु अपहृत्य>अवहट्टु ।

(६) तुमुन्त प्रत्ययो का प्रयोग अर्धमागधी में पूर्वकालिक क्रिया के समान होता है—कतुम>काउँ का प्रयोग कृत्वा' के स्थान पर मिलता है ।

(७) डॉ उदयनारायण तिवारी ने पूर्वकालिक क्रिया के लिए त्ता और च्चा प्रत्ययो के प्रयोग का उल्लेख भी किया है ।

**महाराष्ट्री**

प्राचीन वैयाकरणो का यह अभिमत था कि दक्षिण की ओर अग्रसर होने वाले आर्य जिस वाणी का प्रयोग करते थे उसका साहित्यिक रूप ही महाराष्ट्री प्राकृत है और इसी से आधुनिक विद्वान मराठी भाषा का उद्भव भी सिद्ध करने का यत्न करते हैं। हाल ही में डॉ मनमोहन घोष की खोज के पश्चात् आधुनिक विद्वद्वर्ग की प्रवृत्ति इस दिशा की ओर भी चिन्तन करने लगी है कि महाराष्ट्री प्राकृत पूर्वकथित तत्कालीन प्राकृत भाषाओं के समानान्तर चलने वाली स्वतन्त्र रूप से विकसित भाषा विशेष न होकर शौरसेनी प्राकृत से विकसित या उसका पश्चकालीन स्वरूप है और इस भाषा का विकास शूरसेन प्रदेश में न होकर उसी प्रकार महाराष्ट्र प्रदेश में हुआ, जिस प्रकार खड़ी बोली, दक्खिनी हिन्दी या रेख्ता के नाम से दक्षिण में विकसित होती रही और

पुन यह भाषा खड़ी बोली हिन्दी की तरह अपनी जन्मभूमि म लौट आई तथा जिस प्रकार आज हिन्दी को स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, ठीक उसी प्रकार शौरसेनी के इस विकसित रूप को भी तत्कालीन समग्र भारत की साहित्यिक भाषा बनने का गौरवमय पद प्राप्त हुआ। इसीलिए इसका नामकरण सस्कार अन्य प्राकृतो की भाँति किसी प्रदेश विशेष के नाम पर न कर समस्त भारत के सूचक राष्ट्र' शब्द के साथ महत विशेषण पद का प्रयोग कर 'महाराष्ट्री' के नाम से किया गया। कतिपय विद्वानो का यह मत भी है कि डा मनमोहन घोष ने जिस आधार पर महाराष्ट्री को शौरसेनी का पश्चकालीन विकसित रूप कहा है वह शौरसनी की तुलना म उसकी अगली सीढी की सूचना मात्र है। अत इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यह भाषा भी अन्य प्राकृतो की भाँति स्वतन्त्र भाषा रही हो परन्तु किन्ही कारणो से इसका विकास द्रुतगति से होता रहा हो और यह विकास अन्य प्राकृतो की अवस्थाओ से कुछ त्वरित गति से गुजर कर आया हो।[12] इसी आधार को मानते हुये डा चाटुर्ज्या ने भी स्वीकार किया है कि 'उपयुक्त दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत एक प्रकार से शौरसेनी प्राकृत (जिसम एकक स्थित स्वर मध्यस्थ स्पश केवल सघोष रूप मे विद्यमान है) तथा शौरसेनी अपभ्रश के बीच की ही एक अवस्था का नाम है।[13]

मध्यकाल मे महाराष्ट्री प्राकृत का अन्य तत्कालीन प्राकृतो की तुलना मे अत्यन्त महत्त्वपूण स्थान रहा है। प्राकृत वैयाकरणो न महाराष्ट्री को ही आदश भाषा मान कर अन्य प्राकृत भाषाओ की विवेचना प्रस्तुत की है क्योकि उन भाषाओ का विश्लेषण प्रस्तुत कर अन्त म लिख दिया गया है शेष महाराष्ट्रीवत्। सत्य तो यह है कि उस समय के काव्य शास्त्रज्ञो और वैयाकरणो ने प्राकृत शब्द का प्रयोग ही महाराष्ट्री भाषा के लिए किया है तथा अन्य भाषाओ का शौरसेनी मागधी आदि नामो से उल्लेख किया गया है। इस भाषा की एक यह भी विशेषता है कि जब अन्य प्राकृत भाषाओ का प्रयोग केवल सस्कृत नाटको म ही मिलता है और वह भी निम्न या हीन वग के और स्त्री पात्रो के मुख से करवाया गया है वहाँ महाराष्ट्री का प्रयोग अनेक स्थानों पर उच्चवर्गीय पात्र भी करते हैं। सस्कृत नाटको म गद्य के लिए शौरसेनी प्राकृत और पद्य के लिए महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

---

[12] अधिक विस्तार के लिए देखें डा० मनमोहन घोष—Journal of The Department of letters कलकत्ता विश्वविद्यालय अक 23 1933 पृष्ठ 1–24 का उद्धरण—भारतीय आयभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०४।

[13] वही पृष्ठ १०४।

दूसरी विशेषता यह है कि अन्य प्राकृत भाषाओं में स्वतन्त्र साहित्य का अभाव है, वहाँ महाराष्ट्री में अपना स्वतन्त्र साहित्य भी है। 'रावण वहो' अथवा 'दहमुह वहो' और 'गउड वहो' जैसे प्रबन्ध काव्य तथा 'गाथा सतसई' जैसे सरस मुक्तकों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत ही है।

संस्कृत को महाराष्ट्री की प्रकृति मान कर वैयाकरणों ने इसकी निम्न लिखित विशेषताएँ निर्धारित की हैं—

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) शौरसेनी प्राकृत में पाई जाने वाली प्राय समस्त स्वर और व्यञ्जन ध्वनियाँ इस भाषा में भी प्राप्त होती हैं।

(२) स्वर मध्यस्थ अनादिभूत तथा असंयुक्त क, त, प, च, ग, द, व तथा य का लोप महाराष्ट्री भाषा में पाया जाता है—

लोक > लोओ, मुकुलम् > मउलो, नकुल > णउलो, नौका > णोआ, शची > सई, कचग्रह > कअग्गहो, वचनम् > वअण, सूची > सूई, वितानम् > विआण, रसातलम् > रसा-अल, कतम > किम, रिपु > रिऊ, सुपुरुष > सुउरिसो, कपि > कई, विपुल > विउल, नग > णओ, नगरम् > णअरम्, मृगाक > मअको, सागर > साअर, यदि > जइ, नदी > णई, गदा > गआ, मदन > मअणो, दयालु > दआलू, नयनम् > णअण, वियोग > विआओ, वायुना > वाउणा, दिवस > दिअहो, लावण्यम् > लाअण्ण, विबोध > विओहो, जीव > जीओ।

(३) महाराष्ट्री प्राकृत में स्वर मध्यस्थ महाप्राण ध्वनियों—ख, थ, फ, घ, ध, भ के स्थान पर ह का आदेश होता है, यथा—

मख > महो, मुखम् > मुह, मेखला > मेहला, नाथ > नाहो, गाथा > गाहा, मिथुनम् > मिहुण, मुक्ताफलम् > मुत्ताहल, शेफालिका > सेहालिआ, शफरी > सहरी, मेघ > मेहो, जघनम् > जहण, माघ > माहो, साधु > साहू, राधा > राहा, बधिर > बहिरो, सभा > साहा, आभरणम् > आहरण, शोभनम् > सोहण।

(४) महाराष्ट्री प्राकृत में स्वर मध्यस्थ संस्कृत ट, ठ, ड के स्थान पर क्रमश ड, ढ, ल आदेश होते हैं, यथा—

नट > णडो, भट > भडो, घट > घडो, मठ > मढो, शठ > सढो, कुठार > कुढारो, गरुड > गरुलो, तडाग > तलाओ, क्रीडति > कीलइ।

(५) अनुस्वार से पर होने पर और कभी-कभी अनुस्वार के अभाव में भी ह् को 'घ' आदेश होता है, यथा—

सिंह > सिंघो, संहार > संघारो, दाह > दाघो।

(६) प, ब के स्थान पर महाराष्ट्री में 'व' देखा जाता है—

शपथ > सवहो, शाप > सावो, अलाबू > अलावू, शबल > सवलो।

पुन यह भाषा खड़ी बोली हिन्दी की तरह अपनी जन्मभूमि म लौट आई तब जिस प्रकार आज हिन्दी को स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा बनने का सौभाग प्राप्त हुआ है, ठीक उसी प्रकार शौरसेनी के इस विकसित रूप को भी तत्कालीन समग्र भारत की साहित्यिक भाषा बनने का गौरवमय पद प्राप्त हुआ इसीलिए इसका नामकरण संस्कार अन्य प्राकृतो की भाँति किसी प्रदेश विशेष के नाम पर न कर समस्त भारत के सूचक राष्ट्र शब्द के साथ महत् विशेषण पद का प्रयोग कर 'महाराष्ट्री के नाम से किया गया। कतिपय विद्वानो का यह मत भी है कि डा मनमोहन घोष ने जिस आधार पर महाराष्ट्री को शौरसेनी का पश्चकालीन विकसित रूप कहा है, वह शौरसेनी की तुलना म उसकी अगली सीढी की सूचना मात्र है। अत इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यह भाषा भी अन्य प्राकृतो की भाँति स्वतन्त्र भाषा रही हो, परन्तु किन्ही कारणो से इसका विकास द्रुतगति से होता रहा हो और यह विकास अन्य प्राकृतो की अवस्थाओं से कुछ त्वरित गति से गुजर कर आया हो।[12] इसी आधार को मानते हुये डा चाटुर्ज्या ने भी स्वीकार किया है कि 'उपर्युक्त दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत एक प्रकार से शौरसेनी प्राकृत (जिसम एकक स्थित स्वर मध्यस्थ स्पश केवल सघोष रूप मे विद्यमान हैं) तथा शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की ही एक अवस्था का नाम है।[13]

मध्यकाल म महाराष्ट्री प्राकृत का अन्य तत्कालीन प्राकृतो की तुलना मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राकृत वैयाकरणो ने महाराष्ट्री को ही आदश भाषा मान कर अन्य प्राकृत भाषाओ की विवेचना प्रस्तुत की है क्योंकि उन भाषाओ का विश्लेषण प्रस्तुत कर अन्त म लिख दिया गया है शेष महाराष्ट्रीवत्'। सत्य तो यह है कि उस समय के काव्य शास्त्रज्ञो और वैयाकरणो ने प्राकृत शब्द का प्रयोग ही महाराष्ट्री भाषा के लिए किया है तथा अन्य भाषाओ का शौरसेनी, मागधी आदि नामो से उल्लेख किया गया है। इस भाषा की एक यह भी विशेषता है कि जब अन्य प्राकृत भाषाओ का प्रयोग केवल संस्कृत नाटको म ही मिलता है और वह भी निम्न या हीन वग के और स्त्री पात्रा के मुख से करवाया गया है, वहाँ महाराष्ट्री का प्रयोग अनेक स्थानो पर उच्चवर्गीय पात्र भी करते हैं। संस्कृत नाटको म गद्य के लिए शौरसेनी प्राकृत और पद्य के लिए महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

---

[12] अधिक विस्तार के लिए देखें डा० मनमोहन घोष—Journal of The Department of letters कलकत्ता विश्वविद्यालय अक 23 1933 पृष्ठ 1–24 का उद्धरण—भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०४।

[13] वही पृष्ठ १०४।

दूसरी विशेषता यह है कि अन्य प्राकृत भाषाओं में स्वतन्त्र साहित्य का अभाव है, वहाँ महाराष्ट्री में अपना स्वतन्त्र साहित्य भी है। 'रावण वहो' अथवा 'दहमुह वहो' और 'गउड वहो' जैसे प्रबन्ध काव्य तथा 'गाथा सतसई' जैसे सरस मुक्तकों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत ही है।

संस्कृत को महाराष्ट्री की प्रकृति मान कर वैयाकरणों ने इसकी निम्न लिखित विशेषताएँ निर्धारित की हैं—

ध्वन्यात्मक विशेषताएं—(१) शौरसेनी प्राकृत में पाई जाने वाली प्रायः समस्त स्वर और व्यञ्जन ध्वनियाँ इस भाषा में भी प्राप्त होती हैं।

(२) स्वर मध्यस्थ, अनादिभूत तथा असंयुक्त क, ग, प च, ग द, व तथा य का लोप महाराष्ट्री भाषा में पाया जाता है—

लोक >लोओ, मुकुलम् >मउलो, नकुल >णउलो, नौका >णोआ, शची > सई कचग्रह >कअग्गहो, वचनम् >वअण सूची >सूई, वितानम् >विआण रसातलम् >रसा-अल कतम >कअ, रिपु >रिऊ सुपुरुष >सुउरिसो यदि >कई विपुल >विउल, नग >णओ नगरम >णअरम् मृगाक >मअको सागर >साअर, यदि >जइ, नदी >नई गदा >गआ मदन >मअणो, दयालु > दआलू नयनम >णअण, वियोग >विओओ, वायुना >वाउओ दिवस >दिअहो, लावण्यम >लाअण्ण, विबोध >विओहो जीव >जीओ।

(३) महाराष्ट्री प्राकृत में स्वर मध्यस्थ महाप्राण ध्वनियों— ख, थ, फ घ, ध, भ के स्थान पर 'ह' का आदेश होता है, यथा—

मख >महो, मुखम >मुह मेखला >मेहला नाथ >णाहो गाथा >गाहा मिथुनम >मिहुण मुक्ताफलम >मुत्ताहल, शेफालिका >सेहालिआ, शफरी > सहरी, मेघ >मेहो जघनम >जहण माघ >माहो साधु >साहू राधा >राहा, बधिर >बहिरो, सभा >साहा, आभरणम् >आहरण, शोभनम >सोहण।

(४) महाराष्ट्री प्राकृत में स्वर मध्यस्थ संस्कृत ट ठ, ड के स्थान पर क्रमश ड ढ ल' आदेश होते हैं, यथा—

नट >णडो, भट >भडो घट >घडो, मठ >मढा शठ >सढो कुठार >कुढारो गरुड >गरुलो तडाग >तलाओ क्रीडति >कीलइ।

(५) अनुस्वार से पर होने पर और कभी-कभी अनुस्वार के अभाव में भी 'ह को घ' आदेश होता है यथा—

सिंह >सिंघो संहार >संघारो, दाह >दाघो।

(६) 'प ब के स्थान पर महाराष्ट्री में व देखा जाता है—

शपथ >सवहो, शाप >सावो, अलाबू >अलावू, शबल >सबलो।

(७) महाराष्ट्री में ऋकार के स्थान पर क्रमश अ, इ उ तीनों ही मिलते हैं, यथा—

घृतम्>घअ, तृणम्>तण, वृषभ>वसहो, कृपा>किवा, दृष्टम्>दिट्ठ सृष्टि>सिट्ठी, ऋतु>उदू, ऋषभ>उसहो, पृष्ठम>पुट्ठ।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) महाराष्ट्री प्राकृत में तीन लिङ्ग तथा दो वचन उपलब्ध होते हैं। कारकों में चतुर्थी को छोड कर सभी कारकों का प्रयोग उपलब्ध होता है। चतुर्थी के स्थान पर पष्ठी विभक्ति का प्रयोग देखने में आता है।

(२) प्रथमा विभक्ति के एकवचन में मागधी में ए अपभ्रंश में उ का जहाँ पर आदेश होता है वहाँ पर महाराष्ट्री में ओ' उपलब्ध होता है, यथा—

देवो, हरिअदो नओ आदि।

(३) अपादान एकवचन में अहि विभक्ति प्रत्यय का विकास महाराष्ट्री की अपनी मौलिक विशेषता है, यथा—

दूरात्>दुराहि देवात्>देवाहि भर्तु>भत्ताराहि। (हेमचन्द्रानुसार)

(४) अधिकरण कारक के एकवचन के रूप म्मि' अथवा ए विभक्ति प्रत्यय से निष्पन्न होते हैं, यथा—

देव>देवेम्मि, गिरौ>गिरिम्मि गुरौ>गुरुम्मि लोकस्मिन>लोअम्मि/लोए भर्तरि>भत्तारम्मि/भत्तारे।

(५) आत्मन' का विकास शौरसेनी में जहाँ 'अत्ता' के रूप में होता है वहाँ महाराष्ट्री में अप्पा' के रूप में हुआ है।

(६) महाराष्ट्री में गणभेद की व्यवस्था नहीं की जाती। अदन्त धातुओं को छोड कर शेष धातुओं के लिए 'आत्मनेपदी और परस्मपदी' का भेद नहीं माना जाता।

(७) कृ धातु रूपों पर सीधा छान्दस का प्रभाव लक्षित होता है, यथा—

कृणोति>कुणई। संस्कृत 'करोति'।

(८) कर्मवाच्य में जहाँ शौरसेनी में 'ए' मिलता है वहाँ महाराष्ट्री में 'इज्ज' मिलता है यथा—

पृच्छयते>पुच्छिज्जइ गम्यते>गमिज्जइ।

(९) पूर्वकालिक क्रिया का रूप क्त्वा के स्थान पर तूण (ऊण) आदेश होता है यथा—

पृष्ट्वा>पुच्छिऊण कृत्वा>काऊण, गृहीत्वा>घेतूण।

(१०) इदमर्थ' मे प्रयुक्त प्रत्ययो के स्थान पर महाराष्ट्री मे 'केर' शब्द का प्रयोग मिलता है, यथा—

युष्मदीय >तुम्हकेरो, अस्मदीय >एम्हकेरा ।

पशाची

पैशाची किस प्रदेश विशेष मे बोली जाती थी विद्वन मण्डली अभी तक किसी पुष्ट निर्णय पर नही पहुँच पाई है । प्राचीन सस्कृत साहित्य म पिशाच प्रदेश के नाम से अनेक स्थानो का उल्लेख उपलब्ध होता है, यथा—

पाण्डय ककय वाह्लीक, सिंह नेपाल कुन्तला ।
सुदेष्ण-भोट गन्धार हैव कन्नौजनास्तथा ।
एते पिशाचदेशा स्युस्तद्देश्यस्तद गुणो भवेत् ॥[14]

उपर्युक्त श्लोक मे वर्णित प्रदेशो मे कई नाम ऐसे भी हैं जिनकी पहचान अब तक नही हो सकी ।[15]

हानल इसे दक्षिण मे द्रविड परिवारा द्वारा प्रयोग मे लाई जाने वाली भाषा बताते हैं । ग्रियसन इसे कश्मीर प्रदेश मे बोली जाने वाली भाषा का पुराना रूप मानते है । राजशेखर ने का य मीमासा' मे एक पुराना श्लोक उद्धत किया है, जिसमे उस समय किस प्रदेश म कौनसी भाषा बोली जाती थी का उल्लेख है । उक्त श्लोक मे मरु भूमि टक्क (दक्षिण-पश्चिम पजाब) और भादानक के प्रदेश पैशाची भाषा भाषी कह गए हैं । प्राचीन आचार्यों ने पैशाची के लिए भूतभाषा शब्द का (सम्भवत पिशाच के मिथ्या सादृश्य के कारण) प्रयोग भी किया है । प्राकृत वैयाकरणो ने पिशाची के अनेक भेदो का उल्लेख किया है । डॉ ग्रियसन ने राम शर्मा का उल्लेख करत हुए अपने भाषा सर्वेक्षण ग्रथ मे इसके सात भेद दिए है । हेमचन्द्र ने केवल 'चूलिका पशाची' का ही उल्लख किया है । मार्कण्डेय ने तीन भेद किए हैं । इस प्रकार विभिन्न वयाकरणों ने भिन्न भिन्न प्रकार स इसके भेद किए हैं । इसका कारण सम्भवत यही हो सकता है कि यह भाषा मूल रूप मे तो एक ही रही होगी पर इसका प्रभाव समीपस्थ अन्य बोलियो पर गम्भीर रूप से पडा है और इसी आधार पर प्राकृत वैयाकरणो ने उन प्रान्तो के नाम पर उसे पैशाची का भेद मान लिया । यह अनुमान तभी तक किया जा सकता है जब तक इस भाषा का कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नही हो जाता । अब तक यह भी सम्भावना की जा सकती है कि यह अपने समय की एक प्रभावशाली साहित्यिक भाषा

---

[14] हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १८ ।

[15] वही, पृष्ठ १८ ।

रही हो और इसकी अनेक विभाषाएँ भी हो। यह सब निश्चित रूप से तभी कहा जा सकता है जबकि इसका कोई किसी प्रकार का साहित्य भी उपलब्ध हो सके। विद्वानों का अनुमान है कि संस्कृत मे अनूदित 'गुणाढय' की 'वृहत् कथा' मूलत पैशाची भाषा म ही लिखी गई थी जो किन्ही कारणो से काल कवलित हो गई लगती है। प्राकृत वैयाकरणो के अनुसार इसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताए हैं—

**ध्वन्यात्मक विशेषताएँ**—(१) दो स्वरों के मध्य आने वाले सघोष स्पर्श व्यञ्जनो को अघोष स्पर्श व्यञ्जनो का आदेश हो जाता है यथा—

गगनम्>गकन, मेघ>मेखो वारिद>वारितो राजा>राचा, निझर> निच्छरो वडिशम>वटिस माधव>माथवो सरभसम्>सरफस दामोदर> तामोतरो।

(२) पशाची म सयुक्त व्यञ्जनो को सस्वर कर देने की प्रवत्ति देखने को मिलती है। हिन्दी मे इस प्रवत्ति को स्वर भक्ति' के नाम से व्यवहृत करते हैं, यथा—

स्नानम>सनान स्नेह>सनेहो कष्ट>कसट भार्या>भारिया हृदयकम>हितपक, म्रियते>मीरते।

(३) पशाची म 'ल' के स्थान पर ल आदेश की बात प्राकृत व्याकरण मे कही गई है, यथा—

सलिलम्>सलिल कमलम्>कमल।[१६]

(४) पैशाची में श ष' के स्थान पर कही स और कही कही श भी उपलब्ध होता है यथा—

शोभते>सोभति शशि>ससि, दशवदन>दसवत्तनो विषम विसमो विषाण>विसानो, कष्टम्>कसट। वडिशम>वटिशम्।

(५) पैशाची मे कही-कही र के स्थान पर ल भी मिलता है। बहुत सम्भव है कि यह प्रभाव इस पर मागधी का रहा हो, यथा—

रुद्रम>लुद्र तरुणी>तलुनी कुमार>कुमालो।

(६) पशाची म ण के स्थान पर न का आदेश होता है, यथा—

गुणगण>गुनगुनो गुणेन>गुनेन।

**रूपात्मक विशेषताएँ**—(१) पैशाची म पचमी एकवचन के 'ङसि' के स्थान पर 'आतो और आतु का आदेश अकारान्त शब्दो के साथ होता है, यथा—तुमातो, तुमातु (त्वत्) ममातो ममातु (मत्)।

---

१६ प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ २००।

(२) पशाची मे 'तेन' तथा 'अनेन' दोनो के स्थान पर केवल 'नेन उपलब्ध होता है। स्त्रीलिङ्ग मे 'नाए' मिलता है।

(३) पैशाची मे कर्मवाच्य मे 'इय्य' का आदेश किया जाता है, यथा—

रम्यते>रमिय्यते पठ्यते>पठिय्यते।

(४) पैशाची मे क्त्वा के स्थान पर तून का आदेश किया जाता है, यथा—

गत्वा>गन्तून हसित्वा>हसितून चलित्वा>चलितून।

(५) पशाची मे भविष्यत काल मे स्सि का आदेश न होकर एय्य का आदेश होता है, यथा—

भविष्यति>हुवेय्य पठिष्यति>पठेय्य।

---

षष्ठ अध्याय

# अपभ्रंश भाषा

अपभ्रंश का समय—अपभ्रंश से तात्पर्य—अपभ्रंश और देशी शब्द—क्या अपभ्रंश देश्य भाषा थी—अपभ्रंश का इतिहास—अपभ्रंश के अनेक भेदोपभेद—अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप मे एक अथवा अनेक बोलियों के अवशेष मिलते हैं—अपभ्रंश के चार भेद और उनका निराकरण, अपभ्रंश के तीन भेद और उनका निराकरण, अपभ्रंश के दो भेद और उनका निराकरण—एक शुद्ध साहित्यिक अपभ्रंश की पुष्टि ।

## अपभ्रंश का समय

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग दो अर्थों मे उपलब्ध होता है—एक तो संस्कृत से विकृत तद्भव शब्दावली के लिए द्वितीय एक भाषा विशेष के अर्थ मे। जहा तक तद्भव रूपो के लिए इसके प्रयोग का सम्बन्ध है सर्वप्रथम महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसका प्रयोग किया है—भूयांसोऽपशब्दा अल्पीयांस शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोपभ्रंशा।[1] विद्वानो ने पतञ्जलि का समय ई० पूर्व दूसरी शताब्दी माना है। यदि पतञ्जलि को प्रमाण मानें तो उन्होंने एक संग्रहकार व्याडि का उल्लेख किया है जिसने अपभ्रंश की प्रकृति संस्कृत को माना है[2]—पर उसका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है—अपभ्रंश का इस अर्थ मे प्रयोग और भी पहले ले जाया जा सकता है। यहा पर यह स्पष्ट करना वाञ्छनीय होगा कि जिस भाषा विशेष का समय हम निश्चित करना चाहते हैं उससे इन प्रमाणो का कोई सम्बन्ध नही है।

अपभ्रंश भाषा का सांकेतिक अर्थ मे प्रयोग सर्वप्रथम तृतीय शताब्दी मे भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र मे किया है। भरत मुनि ने जिस उकार बहुला भाषा का उल्लेख किया है वह अपभ्रंश भाषा ही है पर भरत मुनि ने इसे अपभ्रंश न कहकर 'उकार बहुला भाषा कहकर ही काम निकाल लिया है।[3] हाँ, विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग अवश्य ही लक्षणीय है।[4] इससे स्पष्ट है कि भरत मुनि के समय मे अपभ्रंश भाषा प्रकाश मे आ चुकी थी पर उसका नामकरण संस्कार अब तक नही हो पाया था। इसे हीन एवं जंगली लोगो की ही भाषा कहा जाता था पर नाटको मे उसके प्रयोग का अधिकार अवश्य सुरक्षित हो गया था।[5] भरत मुनि का उकार बहुला भाषा से किस भाषा का तात्पर्य था यदि इसका सूक्ष्म विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि आभीरादि लोगो की भाषा को ही वे इस लक्षण से लक्षित

---

1. महाभाष्य—१ १ १
2. शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति संग्रहकार। (वाक्यपदीयम्—काण्ड १, कारिका १४८)।
3. हिमवत्सिन्धु-सौवीरान येऽन्यदेशान् समाश्रिता। (ये जना समुपाश्रिता)। उकार बहुला तेषु नित्य भाषा प्रयोजयत्। (भरत नाट्यशास्त्र १७/६२)।
4. समानशब्द विभ्रष्ट देशीगतमथापि च। (भरत नाट्यशास्त्र १०/३)।
5. भरत नाट्यशास्त्र १७।५०।

करते हैं क्योंकि विभाषाओं की गणना करते समय इन्होंने आभीरी की भी गणना की है—

'शकाराभीर चाण्डाल शबर द्रमिलान्ध्रजा ।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता ॥'[6]

अब यदि हम उन विद्वानों के विचारों का विश्लेषण करें जिन्होंने स्पष्ट रूप से अपभ्रंश भाषा का उल्लेख किया है, तो विदित होगा कि वह कोई अन्य भाषा नहीं है बल्कि भरत मुनि द्वारा उल्लिखित उकार बहुला भाषा ही है। अपभ्रंश शब्द का भाषा विशेष के लिए स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम वैयाकरणों में चण्ड ने[7] तथा काव्यशास्त्रियों में भामह[8] ने किया है। इनका समय विद्वानों ने छठी शताब्दी ई० माना है। अतः स्पष्ट है कि छठी शताब्दी में अपभ्रंश का प्रयोग एक भाषा विशेष के लिए प्रारम्भ हो गया था। चण्ड ने उसके रेफ सम्बद्ध लक्षण को बताते हुए उल्लेख किया है और भामह ने भाषाओं की गणना करते समय संस्कृत और प्राकृत के पश्चात् उसका उल्लेख किया है। इन दोनों ही महानुभावों ने विस्तार से कुछ नहीं कहा केवल संकेत मात्र ही दिया है।

सातवीं शताब्दी में दण्डी ने अपभ्रंश का उल्लेख करते हुए दो विशेषणों का प्रयोग किया है—(१) आभीरादि गिरः और (२) संस्कृतादन्यत्। इनका यदि विश्लेषण करें तो अचानक ही दण्डी से चार सौ वर्ष पूर्व उत्पन्न भरत मुनि की स्मृति आ जाती है जिन्होंने इनकी भाषा का उल्लेख किया है और अप्रत्यक्ष रूप से नाटकों में उसके प्रयोग का संकेत भी। दण्डी का सम्पूर्ण पद इस प्रकार है[9]—

आभीरादि गिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता ।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंश तयोदितम् ॥

उक्त पद में दण्डी की 'आभीरादि गिरः' भरत मुनि की 'शकाराभीर' आदि विभाषाओं से भिन्न कुछ नहीं है। नाट्यशास्त्र के भाष्यकार अभिनव गुप्तपाद प्राकृतों से अपभ्रष्ट रूप को विभाषा कहते हैं[10] ऐसा बताकर स्पष्ट कर देते हैं कि भरत मुनि का विभाषाओं से तात्पर्य अपभ्रंश और उसकी

---

6 भरत नाट्यशास्त्र १७।५०।

7 (क) न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य (प्रा ल ३ ३७) (ख) संस्कृत प्राकृत चैवापभ्रंशोऽथ पिशाचिकी।

8 संस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा। (काव्यालंकार १/१६)

9 श्री दण्डी कृत काव्यादर्श १/३६।

10 भाषा संस्कृतापभ्रंशो भाषापभ्रंशस्तु विभाषा, १७/४९ ५० की विवृत्ति।

पर अधिकार प्राप्त करने में अपना गौरव समझने लगे थे। राजा धरसेन द्वितीय का ताम्रपत्र इसका प्रमाण है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन को संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की प्रबन्धपारमकता में निपुण कहा है।[13] इसी शताब्दी में चण्ड को अपभ्रंश की व्याकरणात्मक विशेषता पर कुछ लिखना पड़ा। उस समय से लेकर ई० की बारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश भारत की एकमात्र साहित्यिक भाषा के रूप में विद्वज्जनों के गले का हार बनी रही। अनेक प्राकृत वैयाकरणों ने इसका व्याकरण लिखकर नियमबद्ध किया। इनमें हेमचन्द्र का लिखा हुआ व्याकरण सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ तथा उसमें बारहवीं शताब्दी तक की अपभ्रंश भाषा की सभी प्रवृत्तियों को समाविष्ट किया गया है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि हेमचन्द्र जब अपभ्रंश का व्याकरण लिख रहे थे उस समय अपभ्रंश पूर्ण परिनिष्ठित शिष्टों की भाषा[14] का स्थान ग्रहण कर चुकी थी और अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

इसी काल के आस पास विद्वानों एवं कलाकारों का ध्यान बोलियों की ओर आकर्षित होता हुआ सा लगता है तथा अनेक ग्राम्य प्रयोग भाषा में प्रवेश पाने लगते हैं।

## अपभ्रंश साहित्य का भ्रम

जहाँ तक अपभ्रंश भाषा का सम्बन्ध है उसका कोई भी प्रणालीबद्ध भाषा वैज्ञानिक अध्ययन हमें उपलब्ध नहीं है। परिनिष्ठित अपभ्रंश का साहित्य तो मिलता है पर उसकी बोलियों के किसी प्रकार के भी विश्वस्त प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। अतः प्राप्त साहित्य के आधार पर ही जहाँ कहीं उसमें जनपदीय बोलियों का पुट आ गया है उससे ही हमें उसकी बोलियों का अनुमान लगाना पड़ता है जिसकी प्रामाणिकता को कभी भी असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि विद्वान् लोग आज तक किसी सर्वमान्य निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं कि साहित्यिक अपभ्रंश कितने रूपों में प्रचलित थी और उसकी कितनी बोलियाँ उस समय अस्तित्व में थीं। अतः कुछ विद्वान केवल एक परिनिष्ठित अपभ्रंश को ही स्वीकार करते हैं और बोलियों या अथवा विभाषाओं का अस्तित्व स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। कुछ विद्वान परिनिष्ठित अपभ्रंश के जो ग्रन्थ अब तक खोजे जा सके हैं, उन्हीं की भाषा को यत्किञ्चित क्षेत्रीय प्रभाव के कारण कोई चार में कोई तीन में तथा कोई दो रूपों में विभाजित कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं और कुछ

---

[13] संस्कृत प्राकृतापभ्रंश—भाषात्रय प्रतिबद्ध, प्रबन्ध रचना—निपुणान्तःकरण (हि वि अ यो, पृष्ठ २३ से उद्धृत)।

[14] शेष शिष्टप्रयोगात् (पुरुषोत्तम १७/९१)।

विद्वान वर्तमान समय तक प्राप्त ग्रंथों की भाषा को कृत्रिम अथवा विद्वज्जन निर्मित भाषा कह कर उस पर सन्देह का आवरण डाल, विषय को अधिक दुरूह बना देते हैं। यह मत वभिन्य केवल आधुनिक भाषा शास्त्रियों में ही हो, ऐसी बात नहीं है। संस्कृत काव्य शास्त्रियों एवं साहित्यकारों तथा प्राकृत वैयाकरणों में भी जिन्होंने प्राकृत भाषा के साथ साथ अपभ्रंश पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं, यह मत भिन्नता उपलब्ध होती है।

## 'देशी' शब्द का प्रचलन

इस मत वैभिन्य का सबसे बड़ा कारण, जो मैं समझता हूँ वह पूर्व परम्परा से चला आता हुआ संस्कृत काव्य शास्त्रियों एवं वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त 'देशी' शब्द है। पतञ्जलि के अनुयायियों ने इसका प्रयोग केवल उन शब्दों के लिए किया है जिनका उद्गम संस्कृत से नहीं हुआ तथा जिन्हें संस्कृत व्याकरण के नियमों के द्वारा सिद्ध न किया जा सके तथा जो न तत्सम हैं और न तद्भव। इससे स्पष्ट होता है कि ये व शब्द थे जो आर्यभाषाओं से उद्गत न होकर साहचर्य के कारण अनार्य भाषाओं से प्राकृतादि भाषाओं में आ गए थे। डा० तगारे ने विद्वानों का उद्धरण देते हुए इस सम्बन्ध में लिखा है—

As Pischel points out the term Desi, Desya Desimata, Desiprasidh denote heterogeneous element (Pischel Grammatika §9) It is used for a class Pk vocabulary as distinct from Tss and Tbhs in Bharat 17 3 In 6th century A D Canda uses the words Desiprasidh for a class of non Sanskrit words and not for a dialect (Historical Grammar of Apbhransh, page 5)

कुछ समय पश्चात काव्य शास्त्रियों एवं प्राकृत वैयाकरणों द्वारा इसका प्रयोग इतने धड़ल्ले एवं स्वच्छन्दता के साथ किया जाने लगा कि यह अपनी एकार्थत्व शक्ति खो बैठा। कहीं इसका प्रयोग उपरिकथित शब्द विशेष के लिए हुआ तो कहीं इसका प्रयोग देश में प्रचलित समस्त आर्य एवं अनार्य बोलियों के लिए और कहीं इसका प्रयोग केवल आर्य भाषाओं से उद्गत बोलियों के लिए हुआ है। मार्कण्डेय द्वारा अपभ्रंश को देशी भाषा मानकर उसके भेदों का परिगणन करते समय उनमें द्राविडी को भी शामिल करना यह प्रकट करता है कि वह संस्कृत प्राकृतेतर भरत खण्ड में बोली जाने वाली सभी बोलियों एवं भाषाओं को देशी भाषा मानकर चलता है।[18] भरत का

---

[18] हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डा० नामवरसिंह, पृ० ५०।

संस्कृतेतर प्राकृत अपभ्रशादि भाषाओं को देश भाषा मानना तथा शाबरी एव द्राविडी को भी देश भाषा कहकर उनका अपभ्रश से अन्तर स्पष्ट करना यही सूचित करता है कि यह भी संस्कृततर सभी बोलियों और भाषा विभाषाओं (आर्य अनार्य) को जो उस समय प्रचलित थी, समान दर्जा देता है।[16]

कट्टरतावादी विद्वान् शिष्ट जन प्रयुक्त साहित्य की भाषा को वाणी और जनसाधारण द्वारा व्यवहृत भाषा को लोक भाषा के नाम से अभिहित करते थे। पाणिनि और पतञ्जलि ने संस्कृत को लोक भाषा कहा है।[17] इसके पश्चात् हुये भरतादि विद्वानों ने प्राकृत को भाषा (लोक) कहा है।[18] तत्पश्चात् के विद्वानों ने अपभ्रश को भाषा (लोक) के नाम से अभिहित किया।[19] यहाँ तक आते आते 'लोक' शब्द का स्थान 'देशी या देश' शब्द ने ले लिया और इस प्रकार प्राकृत एव अपभ्रश तथा इसके बाद अपभ्रश की बोलियों के लिए देशी भाषा अथवा देश भाषा का प्रयोग किया जाने लगा।[20] अतः इससे

---

[16] अत ऊर्ध्व प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम (भरत नाट्यशास्त्र, १७।२३)। शौरसेन समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।
(अथवाच्छन्दत कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभि । नाना देशसमुत्थ हि काव्य भवति नाटके) आभीरोक्ति शाबरी स्यात द्राविडी द्राविडादिषु (भरत नाट्यशास्त्र १७।२४-४६ ४७-५५)

[17] केषा शब्दानाम् ? लौकिकानाम् वदिकानाम् च। तत्र लौकिकास्तावत्— गौरश्व पुरुषो हस्ती ब्राह्मण इति। वदिका खल्वपि शनो देवीरभिष्टये। आगे लिखते हैं—तेऽसुरा । इत्यादि (महाभाष्य १।१।१)।

[18] एतदेव विपर्यस्त गुण-सस्कार विवर्जितम् । विनेय प्राकृत पाठ्य नानावस्थान्तरात्मकम ॥ त्रिविध तच्च विज्ञेय नाट्ययोगे समासत । समान शब्द विभ्रष्ट देशी गतमथापि च ॥ मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौर सेन्यधमागधी। वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता ॥
(भरत नाट्यशास्त्र, १७।२३ ४६)

भरत नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनव गुप्तपाद ने भाषा का लक्षण इस प्रकार दिया है—भाषा संस्कृतापभ्रशस्तु विभाषा सा तत्तद्देश एव गह्वर वासिना प्राकृतवासिना च एता एव नाट्य तु। (भरत नाट्यशास्त्र १७ २ ४६)

[19] प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शूरसेनी च। षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रश ॥ (काव्यालकार, २।१२)

[20] नात्यन्त संस्कृतेनव नात्यन्त देशभाषया। कथा गोष्ठीषु कथयन लोके बहुमतो भवेत् ॥ (वात्स्या का सू, १४।५०)
षष्ठोऽत्र भूरि भेदो देश विशेषादपभ्रश। (काव्यालकार २।१२) [इन दोनों में क्रमश प्राकृतापभ्रश को देशभाषा कहा गया है।]

स्पष्ट है कि देशी शब्द के अर्थ के इस अन्तर्मिश्रण ने इन सभी समस्याओं को जन्म दिया। क्योंकि कट्टरतावादी विद्वान देशी शब्दों एवं उनके प्रयोगों को बड़ी हीन दृष्टि से देखते थे, साथ ही इनके प्रयोक्ताओं को भी।[21]

## अपभ्रंश की बोलियाँ

उपर्युक्त विवेचन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उन विद्वानों के दो वर्ग थे। एक वह था जो केवल परिनिष्ठित विद्वज्जन ग्राह्य भाषा को ही श्रद्धेय समझता था तथा तत्समय प्रचलित बोलियों को (मान्य भाषा के स्वरूप से विकृत रूप वाली अथवा अशुद्ध होने के कारण) उतनी ही हेय दृष्टि से देखता था जितनी हेय दृष्टि से विजातीय अनार्य भाषाओं को। अतएव बोलियों पर विचार विमर्श करना वह हीनता समझता था। दूसरा वर्ग आधुनिक भाषा शास्त्रियों के अधिक समीप था जो बोलियों को महत्ता देना चाहता था, किन्तु यह दूसरा वर्ग अपने कार्य के साथ न्याय इसलिए नहीं कर पाया कि एक तो भाषा विज्ञान की वर्तमान पद्धति ने उस समय पूर्ण स्वरूप धारण नहीं किया था जिस ओर श्री हरिवल्लभ भायाणी ने भी संकेत किया है।[22] दूसरे भाषा की शुद्धता के पक्षपातियों का भारत में सदा से बाहुल्य रहा है और वे शुद्धतावादियों का साम्मुख्य करने में असमर्थ रहे हैं। अतः वे बोलियों का संकेत मात्र तो प्रस्तुत कर सके हैं किन्तु उनका पूर्ण विवेचन नहीं। रुद्रट ने नवीं शताब्दी में अपभ्रंश की अनेक बोलियों की सूचना दी है जो देश विशेष के कारण अनेक रूपों वाली थी, यथा—

> प्राकृत-संस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शूरसेनी च।
> षष्ठोऽत्र भूरि भेदो देश विशेषादपभ्रंश। (काव्यालंकार २।१२)

किन्तु ठीक इसके बाद ग्यारहवीं शताब्दी में नमि साधु ने अपनी कट्टरता वाली प्रवृत्ति के कारण उसका निराकरण करने के लिए साहित्य में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा को ही प्रमाण मानकर रुद्रट द्वारा संकेतित बोलियों को निर्मूल

---

[21] तेऽसुरा। तेऽसुरा हेलयो हेलय (हेऽरयो हेऽरय) इति कुर्वन्तः पराबभूवु स्तस्मात् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। (महाभाष्य १।१।१) हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता (भरत नाट्यशास्त्र, १७।५०)

[22] हेमचन्द्र गुजरात ना हता पण ते मणे रचेला अपभ्रंश व्याकरण ने गुजर अपभ्रंश साथे प्रत्यक्ष पणे कशी लेवा देवा नथी। केम के पूर्वाचार्यो अने पूर्व प्रणाली अनुसरीने ते मणे बहुमान्य साहित्य प्रयुक्त धोरण सरना अपभ्रंश नु व्याकरण रच्ये लु ■। बोलचाल की भाषा नु चलण आधुनिक छै। (वाक्व्यापार भारतीय विद्या भवन १९५४, पृष्ठ १७० सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डॉ शिवप्रतापसिंह पृष्ठ ४६ से उद्धृत)।

ठहराने का सफल किन्तु अयथाथ प्रयास किया और इससे उसको एक सन्तोष का अनुभव हुआ जो यह कहने से व्यजित होता है कि इस प्रकार भूरि भदो का निरसन हो जाता है । फिर भी वह उस तीन से नीचे नहीं ले जा सका—

स चान्यैरुपनागराभीर-ग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्त भूरिभद इति । (काव्याल० सूत्र वृ० नमि सा० २।१२) ।

मार्कण्डेय ने अपने प्राकृत सवस्व में भी इसके तीन भेद किए हैं किन्तु नमि साधु से भिन्न, यथा—

नागरो ब्राचडश्चोपनागरश्चेति त्रय ।[23]

किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि सूक्ष्म अन्तर से विद्वान इसके अनेक भेद मानते हैं, यथा [24]—अपभ्रश परे सूक्ष्म भेदत्वान्न पृथक मता । इन्होंने उन भेदों की संख्या २७ दी है । यथा —

(१) ब्राचड (२) लाट (३) वदभ (४) उपनागर (५) नागर (६) बाबर, (७) अवन्त्य (८) मागध (९) पाञ्चाल (१०) टक्क (११) मालव (१२) कैकेय (१३) गौड (१४) ओड्री (१५) वैवपश्चात्य (१६) पाण्ड्य (१७) कौन्तल (१८) सहल (१९) कालिङ्ग, (२०) प्राच्य (२१) कार्णाट (२२) काञ्चय, (२३) द्राविड (२४) गौजर, (२५) आभीर (२६) मध्यदेशीय (२७) वताल ।[25] मार्कण्डेय से पूर्व आठवीं शताब्दी में उद्योतनाचार्य अपनी कुवलयमाल कहा में अपभ्रश की बोलियों पर प्रकाश डाल चुके थे । उनके अनुसार अपभ्रश के अठारह भेद हैं, यथा—(१) गोल्ल (२) मध्यदेशीय, (३) मागध (४) अन्तर्वेदी (५) कीर (६) टक्क (७) सिंध, (८) मरु, (९) गुजर, (१०) लाट, (११) मालव (१२) कार्णाटक (१३) तायिक, (१४) कोसल, (१५) महाराष्ट्र (१६) आन्ध्र (१७) खस (१८) पवरादिक ।[26] छठी शताब्दी तक आते आते कामशास्त्रियों द्वारा अपभ्रश काव्य भाषा के पद पर आसीन करा दी जा चुकी थी चाहे उसने परिनिष्ठित स्वरूप धारण न किया हो । अत इसके उपरान्त

---

[23] प्राकृत सवस्व ७ ।

[24] वही ७ ।

[25] हिन्दी भाषा के विकास में अपभ्रश का योग पृष्ठ ५० ।

[26] हो देवी प्रसाद सम्भवायामय कथायान् प्रसगतोऽष्टादश देशी भाषाणा मध्याद् गोल्ल, मध्यदश, मागधान्तर्वेदी कीर, टक्क सिंघ मरु गुजर लाट मालव कर्णाट तायिक, कोसल महाराष्ट्रान्ध्र भवाना षोडशदेश्याना वणिज नपुंवण वेशप्रकृति पूवभाषाश्च रूप प्रदर्शितमित्यमवलोक्यते । (अपभ्रश काव्यत्रयी, भूमिका, पृष्ठ ९१)

ानो द्वारा देशी भाषाओ के नाम से उल्लिखित भाषाए या तो अपभ्रश की
ेलया रही होगी अथवा उसकी भगिनी विभाषाए। ये बोलियाँ अपभ्रश
उदगता ही थी इस प्रकार का सकेत श्री लालधर गाधी ने दिया है।
ा—परिचेत य खलु प्राव कुवलय मालकहावतृ—समयादिसम्ब धा
ोऽवसीयतेऽपभ्रश देशीभाषादीना विशिष्टस्वरूप इत्यादि।[27]

अपभ्रश की देशानुसार अनेकता का सकेत विष्णुधर्मोत्तर पुराण वाग्भटा
कारादि ग्रन्थो म भी उपलब्ध होता है, यथा—

देशेषु देशेषु पथग् विभिन्न न शक्यते लक्षणतस्तु वक्तुम।
लोकेषु यत स्याद अपभ्रष्टसन नेय हि तद्देशविदोऽधिकारम।।
देश भाषा विशेषेण तस्या त नैव विद्यते।[28]
अपभ्रशस्तु यच्छुद्ध तत्तद्देशेषु भाषितम।[29]

किन्तु हेमचन्द्र तक आते आते अपभ्रश ने पूण परिनिष्ठित स्वरूप धारण कर
लिया था[30] और इसे शिष्टो की भाषा भी स्वीकार कर लिया गया था।[31]
परिणाम स्वरूप कट्टरतावाद के अनुयायी हमचन्द्र और उनके समकालीन
वैयाकरणो ने लिखित साहित्य की परिनिष्ठित अपभ्रश को ही अपना आधार
बनाकर इसके लिए आवश्यक नियमो की स्थापना कर दी और मजेदार
बात यह है कि उनमे अपभ्रश की तत्समय प्रचलित बोलियो यहाँ तक कि
विभाषाओ तक का भी सकेत नही किया। केवल इन वैयाकरणो को आधार
मानकर यह निष्कष निकालना कदापि समीचीन न होगा कि उस समय समग्र
भारत मे विचारो के आदान प्रदान की केवल एक ही सावजनिक भाषा थी
जिसका नियमन हेमचन्द्रादि वैयाकरणो ने किया है बल्कि यह कहना चाहिए
कि उस समय अपभ्रश की अनेक बोलिया प्रचलित थी, पर तत्कालीन वैयाकरण
संस्कृत व्याकरण प्रणाली के अनुयायी होने के कारण बोलियो पर लेखनी
चलाना पूववत अपनी हीनता समझते थे। अत उनका लिखित साहित्य
उपलब्ध न होने पर भी नव्य आयभाषाओ का विकास उनके अस्तित्व की
सिद्धि डके की चोट कर रहा है कि वतमान भारतीय भाषाओ का विकास

---

[27] अपभ्रश काव्यत्रयी भूमिका पृष्ठ ८२।
[28] विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३।७।३।
[29] वाग्भटालकार २।३।
[30] And finally Hemachandra the great Pk grammarian unanimously agrees in regarding the Apbhransh as literary dialect equal in status to Sanskrit and Prakrit
(H G AP Page 3)
[31] शेषम् शिष्ट प्रयोगात (पुरुषोत्तम १७।६१)।

किसी एक अपभ्रंश से न होकर उसकी विभिन्न बोलियों के ही विकसित स्वरूप हैं।

जहाँ प्राचीन विद्वानों में केवल एक भाषा की स्वीकृति और बोलियों के निरसन के प्रति संघर्ष था वहाँ आधुनिक भाषा शास्त्रियों में कुछ भिन्न विचारों के कारण मतभेद पाया जाता है। इसका मूल कारण यह है कि आधुनिक काल के भाषाशास्त्रियों ने इस समय विद्यमान ग्रन्थों में सुरक्षित भाषा के आधार पर अपभ्रंश भाषा को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। दुर्भाग्य यह रहा है कि ऐसा करते समय भाषा की प्रकृति और प्रत्यय पर इतना ध्यान नहीं रखा गया जितना रचना के स्थान विशेष पर और उसके स्थानीय प्रभावों के कतिपय उद्धरण चुनकर भाषा को विभाजित कर डाला, यह उचित नहीं है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि अपभ्रंश की बोलियों की गवेषणा के मैं विरुद्ध नहीं हूँ, क्योंकि मैं तो स्वीकार करता हूँ कि अपभ्रंश की अनेक बोलियाँ अस्तित्व मे थीं। मेरा मतभेद परिनिष्ठित अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों से है। मेरी समझ में एक ही परिनिष्ठित अपभ्रंश है उसका रचयिता चाहे दक्षिण मे या उत्तर मे और चाहे पूर्व या पश्चिम मे बैठकर अपनी कला की साधना करता रहा हो उसकी भाषा में कोई अन्तर नहीं है।

सनत कुमार चरिउ की भूमिका मे डा याकोबी ने इसे चार भागों— उत्तरी दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी मे विभाजित किया है। डा याकोबी के वर्गीकरण को भाषा वैज्ञानिक सुदृढ भित्ति के अभाव से ग्रस्त बताकर डा तगारे ने इसे तीन ही—पश्चिमी दक्षिणी तथा पूर्वी भागों में विभाजित किया है और इस प्रकार उत्तरी अपभ्रंश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया।[३३]

डा ग्रियर्सन ने अवश्य ही भारत की आधुनिक भाषाओं का विकास

---

[33] Here in Jacobi gives his regional division of Apbhransh literature into Eastern Western Southern and Northern groups He seems to believe that Eastern Apbhransh works follow that rules of eastern Pk grammarians A comparison between the dialects of D K K and D K S and that Apbhransh of Pu Rt and Mk disapproves the theory The only work in Northern Ap is a 15th century poetic composition As will be seen later on the §8 the regional classification of Ap literature followed in this work is different and more natural §8 Apbhransh literature is regionally classified in three main divisions according to the place of composition of the particular work They are roughly as follows—Western Southern and Eastern (H G Ap Page 13 15)

दिखाते हुए अपने 'भाषा सर्वेक्षण' मे अपभ्रंश की बोलियों का विवरण दिया है, यथा—ब्राचड, दाक्षिणात्य (इसकी अनेक विभाषाएँ रही होगी) ओढ औत्कल मागध गौड अर्धमागधी प्राकृत से विकसित अपभ्रंश, (सम्भवत मध्यदेशीय—ले०) नागर शौरसेनी, टक्क उपनागर, आवन्त्य गौजर आदि।[33] कितने ही स्थानो पर डा ग्रियर्सन यह कहकर सतोष कर लेते हैं कि यहाँ पर भी कोई जनपदीय अपभ्रंश रही होगी पर उसका नाम अज्ञात है।[34] यद्यपि डा तगारे ने उपर्युक्त विचारधारा का खण्डन किया है तथापि भाषाओं के विकास का इतिहास दिखाने के लिए इस कल्पना को (ग्रन्थो एव उद्धरणो के अभाव म कल्पना) स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि यह तो वर्तमान प्रचलित बोलियो क ध्वन्यात्मक एव रूपात्मक तत्वो पर दृष्टिपात करने से स्वत सिद्ध है कि इनका विकास न केवल एक परिनिष्ठित अपभ्रंश मे बल्कि डॉ तगारे द्वारा प्रस्थापित तीन अपभ्रंशो मे भी सम्भव नही है।[35] नभाआ की भाषाओं का विकास कुछेक को छोडकर जैसे राजस्थानी और गुजराती (इस पर भी विद्वानों म कुछ मात्रा में मत भिन्नता हो सकती है) सबका विकास पृथक पृथक स्रोतो से हुआ है चाहे इसका अलगाव अत्यल्प रहा हो। डा चाटुर्ज्या के भारतीय आयभाषा और हिन्दी तथा राजस्थानी भाषा आदि ग्रंथो के अध्ययन स ज्ञात होता है कि वे अपभ्रंश की अनेक बोलियो को स्वीकार करते हैं।

## अपभ्रंश साहित्य के आधार पर भाषा भेदो की स्थापना

आधुनिक भारतीय आयभाषाओं के भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिये अपभ्रंश भाषा का अध्ययन परमावश्यक है किन्तु अपभ्रंश का अध्ययन जिस रूप में (कुछ क्षेत्रो मे) किया जाना चाहिए था, किया न जा सका। विद्वान लोग अपभ्रंश के सूक्ष्म विश्लेषण के स्थान पर उसके भेदापभेदो के चक्कर मे पड गए। मजेदार बात यह है कि वे किसी सीमा तक सही होते हुए भी अपनी बात को उस रूप म नहीं रख सके जिस रूप म रखा जाना चाहिए था। परिणामस्वरूप एक अच्छा खासा विवाद उपस्थित हो गया। उदाहरण के लिए विद्वानो ने यह स्वीकार किया कि अपभ्रंश अनेक रूपो म प्रचलित थी अथवा यह कहिए कि एक समय ऐसा था जब अपभ्रंश की अनेक उपभाषाएँ तथा बोलियाँ

---

33 भारत का भाषा सर्वेक्षण—डा ग्रियर्सन, अनु० हेमचन्द्र, पृष्ठ २४७।

34 वही पृष्ठ २४६–२४८।

35 We do not subscribe to Grierson s theory of postulating one Ap per every NIA languages This hypothesis is unsupported by the evidence discovered so for (H G Ap by Dr Tagare page 16)

प्रचलित थी, यहाँ तक तो ठीक है, पर विवाद उस समय उपस्थित हु जब विद्वानों ने प्राप्त साहित्यिक अपभ्रंश के ग्रंथों की भाषा को रचयिताओं शैली अथवा उनके निवासस्थान के आधार पर ही बिना किसी भाषावैज्ञानि अंतर के अनेक भेदों में विभाजित करने का यत्न किया और इतना ही न उनके अंतर सूचक नियमों की भी स्थापना कर दी गई जो पूर्णतः निराध है। अच्छा यह होता कि विद्वान् लोग भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं आधार पर अपभ्रंश की उन बोलियों का स्वरूप जानने का प्रयत्न करते, इस विपरीत कि वे साहित्यिक अपभ्रंश में भिन्न भिन्न क्षेत्रों की भाषा का दश कर रहे हैं जो केवल साहित्यिक अपभ्रंश में सम्भव नहीं है।

'सनत्कुमारचरित' की भूमिका में डा. याकोबी ने अपभ्रंश (परिनिष्ठि साहित्यिक) को पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी तथा उत्तरी इन चार भागों विभाजित किया है जिसके उत्तरी भेद का विरोध डा. तगारे ने सशक्त शब्दों में कर अपभ्रंश के तीन भेद निश्चित किए हैं।[36] कुछ विद्वान् अपभ्रं की बोलियों को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं जिनमें डा. तगारे क नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[37] ज्यूल ब्लाख और उनके अनुयायिय की धारणा तो बिलकुल ही भिन्न है। वे अपभ्रंश को जनभाषा मानने को ह उद्यत नहीं हैं।

उपर्युक्त संकेत देने का तात्पर्य केवल यह है कि विद्वानों द्वारा लिखि उपलब्ध साहित्य के आधार पर निश्चित किए गए मतों का और जनपदों उस समय बोली जाने वाली बोलियों के आधार पर निश्चित किए गए मत का ऐसा अंतर्मिश्रण हुआ है कि दोनों ही मतों की सत्यता संदिग्ध हो गई है वास्तविकता यह है कि अपभ्रंश का जो साहित्य अब तक उपलब्ध हो सका है उसके आधार पर बिना किसी हिचकिचाहट यह कहा जा सकता है कि इसकी भाषा शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश अथवा आधुनिक शब्दावल में पश्चिमी अपभ्रंश है जो उस समय के साहित्यकारों एवं शिष्टजनों की भाष थी तथा तत्समय प्रचलित अनेक बोलियों में से इसने प्रतिभाशाली व्यक्तिय के सहयोग से परिनिष्ठित भाषा का स्वरूप धारण कर लिया था। इस प्रकार इसमें विपुल साहित्य की सर्जना हुई और यही कारण है कि शौरसेनी अपभ्रंश का स्वरूप तो सुरक्षित रह गया और यह अपनी अन्य बोलियों से सम्बन्धित नई भाषाओं को जन्म देकर स्वयं कालकवलित हो गई और साथ ही आगे आने वाले भाषाशास्त्रियों के लिए इस समस्या को उपस्थित कर गई।

---

[36] हिस्टोरिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश पृष्ठ १३-१५।

[37] वही पृष्ठ १६।

हुई कि अमुक आधुनिक भाषा का जन्म कहाँ से, कैसे तथा कौन सी अपभ्रंश बोली से हुआ। सभवत इसी विचार को दृष्टिगत रखते हुए ज्यूल ब्लाक ने लिखा है—[38]

आवर नालेज आफ इटस (इडियन) लग्वेजेज, ऐट लीस्ट इन देअर मोस्ट ऐशियट स्टेजेज, इज वेस्ट ओनली आर नीअरली सो, आन लिटरेरी लैग्वेजेज आफ ह्विच वी ना नाइदर द लोकल बेसिस नार द डिग्री आफ कनेक्शन विद द वर्नाक्यूलस दे डू नाट गिव एक्सप्रेशन टु द थाट एण्ड फीलिग्स आफ द पीपुल ऐट द मोस्ट द गिव एन आइडिअल पिक्चर आफ द कल्चर आफ ए स्माल कम्यूनिटी, दे मे डिफर इन कैरेक्टर सम हाईली रिलीजस एण्ड एरिस्टोक्रेटिक सम पापुलर बट रिलिजस टू, द मेजारिटी आर मेनली अडाप्टेड फार प्यारली लिटरेरी यूसजस द लिग्विस्ट हैज टु बी केअरफुल इन गिविग देअर एविडेस इटस प्रापर वेल्यू बिफोर ट्राइग टु कास्ट्रक्ट द हिटेरस आफ द हिस्टरी आफ इडोएयन।'

अपभ्रंश भाषा का आधुनिकतम एव अधिक स्वाभाविक वर्गीकरण डॉ तगारे का माना जाता है अत उस पर किंचित दृष्टिपात कर लेना प्रामाणिक ही होगा। आपने उसे तीन वर्गों मे विभाजित किया है। डा नाम वर सिंह ने इनमे से दक्षिणी अपभ्रंश का विरोध बडे ही सशक्त शब्दो मे किया है। यथा—

'उपर्युक्त विशेषताओ की छानबीन करने से पता चलता है कि ये स्थान गत उतनी नही हैं जितनी शैलीगत। डा तगारे ने पुष्पदत और कनकामर की भाषा मे जिन्हे दक्षिण अपभ्रंश की अपनी विशेषताएं कहा है वे वस्तुत बहुत कुछ प्राकृत प्रभाव हैं। विविध वैकल्पिक रूपो मे से प्राचीन और नवीन रूपो को अलगाकर करके किसी निर्णय पर पहुँचना अधिक लाभदायक होता लेकिन डा तगारे ने यहाँ इस विवेक का परिचय नही दिया। पुष्पदत की भाषा को मराठी की जननी प्रमाणित करने के आवेश मे डॉ तगारे की दृष्टि से यह तथ्य ओझल हो गया कि पश्चिमी अपभ्रंश नाम से अभिहित भविसयत्त कहा और दक्षिणी अपभ्रंश नाम से अभिहित महापुराण की भाषा मे कोई मौलिक अतर नहीं है। दोनो ही की रचना परिनिष्ठित अपभ्रंश मे हुई है, थोडा बहुत जो अतर है वह भी केवल शैली-सबधी है और रचयिता भेद से इतना सा भेद आ जाना स्वाभाविक भी है।

---

[38] ज्यूल ब्लाक—सॉग लेक्चर्स फार १९२९ सम प्राब्लम्स आफ इडोएयन फाइलोलाजी १९३० कोटेड फ्राम हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश डॉ तगारे, पृष्ठ० १५।

(२) मा मरउँ बालु, मइ मिलउँ कालु। (पुष्पदंत उ० रा० ६४ ना०, पृष्ठ २२२)।[44]

चतुर्थ विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण, परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'ति' परक प्रयोग—(१) ण णच्चति मोर खल दुज्जण। (स्वयंभू रामा० २८।३ ना० पृष्ठ २८)।

(२) जहिं पथिय तनु छायहिं भमंति। (धन० भविस० पृष्ठ २ का० या० पृष्ठ २६२)।[45]

पंचम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण, परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'सइ' परक प्रयोग—(१) पइ विणु को कुबेर भजसइ। (स्वयंभू रा० ७६।७)।

(२) इयत होसइ (रामसिंह पा० दो० २५३ ना० पष्ठ २४८)।[46]

दक्षिणी अपभ्रंश में 'हिं' परक प्रयोग (पुष्पदंत और कनककामर के ग्रंथों में)—

(१) ण कीलहिं अवहडण पराइ (पुष्पद० ज० च० पृष्ठ ४० ना० पष्ठ १८६)।

(२) पुक्करहिं उन्धा कर करेवि। (कनक० क० च० पृष्ठ ५१ ना० पृष्ठ ३३६)।[47]

छठी विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण दक्षिणी अपभ्रंश में 'इ' अंतवाले पूर्वकालिक क्रिया के प्रयोग उपलब्ध होते हैं—

(१) करि सर वहिरिय दिव्वक्कवाल। (पुष्पदंत णा० च० पष्ठ ४ ना० प० १७६)।

(२) त पेक्खि जणु तिण्णु (कनकामर क० च० ३।१८।३)।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच जाते हैं कि दक्षिणी भाषा की जो विशेषताएँ डॉ॰ तगारे ने निश्चित की हैं वे सर्वथा आधारहीन हैं। ये विशेषताएँ अपभ्रंश के प्रायः सभी ग्रंथों में पर्याप्त मात्रा में खोजी जा सकती हैं चाहे उनकी रचना उत्तर में हुई हो अथवा पूर्व, पश्चिम या दक्षिण में।

---

[44] सरउ सोमिउ, आकरिसिउँ (पु० उत्तरा० ६४।८६) मरउ (क० ना० च०, पष्ठ ६७)।

[45] परिचलन्ति विचन्ति, (स्वयंभू रा० ११८) हुंति न मण्णन्ति (पाणि दु २६३ ३२३ प० प०) गुप्पन्ति भमन्ति (रा० पा० दो० २१७) भमंति करंति (धनपा० भविस० २।३, १०।११)।

[46] वारेसइ होसइ पालसइ हासइ (स्वयंभू रा० ७६।११)।

[47] करहिं सहसहिं (क० ना० क० च० ३५, २६, ४ २)।

डॉ तगारे द्वारा प्रस्तुत अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों की आलोचना करते हुए डॉ नामवर सिंह ने लिखा है— वस्तुत भारतीय आर्यभाषा की पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार अपभ्रंश के भी केवल दो क्षेत्रीय भेद थे—पश्चिमी और पूर्वी, जिनमे पश्चिमी परिनिष्ठित थी तथा पूर्वी अपभ्रंश उसकी विभाषा मात्र थी। अपभ्रंश की इससे अधिक सत्ता मानने की इस समय कोई गुंजाइश नहीं है।[48]

उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट होता है कि डा नामवर सिंह अपभ्रंश के पूर्वी भेद को बनाए रखना चाहते है, पर डगमगाते कदमो के साथ क्योकि वे सरह, कण्हपा आदि के दोहाकोशो को तो परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचना मानते हैं किन्तु चर्यापदों की भाषा मे उन्हे पूर्वी अपभ्रंश की विशेषताएँ दृष्टिगत होती है। यदि चर्यापदों की भाषा का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि डा साहब ने जिन लक्षणो को इनके पूर्वीपन की विशेषताएँ कहा है वे समस्त लक्षण पर्याप्त मात्रा मे सुदूर पश्चिम एव दक्षिण के साहित्यकारो की रचनाओ मे भी उपलब्ध होते हैं। अत अपभ्रंश के पूर्वी भेद को बनाए रखने मे इनका भी क्षेत्रीय मोह ही दृष्टिगत होता है। इससे अधिक कुछ नही। डॉ नामवर सिंह ने डा तगारे के द्वारा प्रस्थापित निम्न लक्षणो को पूर्वी अपभ्रंश की विशेषताए माना है—

(१) पूर्वी अपभ्रंश म कुछ सयुक्त ध्वनियो का परिवर्तन इस प्रकार होता है—
क्ष>क्ख, ख
त्स>त्त
ह्र>हु
द्व>व
ष स>श
(२) सस्कृत श' सुरक्षित रहता है।
(३) आद्य महाप्राणत्व नही होता।
(४) निर्विभक्तिक सज्ञापद बहुत मिलते हैं।
(५) लिंग अतन्त्रता बहुत अधिक है।
(६) क्रियार्थक सज्ञा और पूर्वकालिक क्रिया का मिश्रण नहीं हुआ। पूर्वकालिक क्रिया प्रत्यय अइ का प्रयोग क्रियार्थक सज्ञा के लिए भी हुआ है।

(७) परिनिष्ठित अपभ्रंश की क्रियार्थक सज्ञा के लिए प्रयुक्त 'अण' प्रत्यय का यहा पर अभाव है।

---

[48] हिन्दी के विकास म अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ५६।

उपयुक्त विशेषताओ क प्रतिरोध म अपने मत की पुष्टि क लिए यहाँ क्रमश उदाहरण प्रस्तुत हैं—

प्रथम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण, परिनिष्ठित अपभ्रश मे 'क्ष' के स्थान पर क्ख, ख—

(१) पउ मरहुँण लक्खणु (लक्षण) छडु सव्वु। (स्वयभू रा० १।३ का० पृष्ठ २४)।

(२) जहिं दक्खा (द्राक्षा) मडपि दुहु मुयन्ति। (पुष्पदत णा० च० पृष्ठ ६)[४९]।

परिनिष्ठित अपभ्रश मे 'त्व' के स्थान पर 'त्त'—

(१) अवरहिं मिक्खहिं कइत्तणउ (कवित्व)। (स्वयभू हरिव० का० १ पृष्ठ २४)।

(२) ते वयणें रोमणियत्तणउ रो(पवित्व)। (पुष्पदत आदि पु० पृष्ठ ५६१)[५०]।

परिनिष्ठित अपभ्रश मे 'द्व' के स्थान पर 'दु' का प्रयोग—

(१) पउ दुवार (द्वार) पउ गोउर। (स्वयभू रा० ४६।२ का० पृष्ठ २४)

(२) दु (द्व) ति पव' सत्त मो मइँ पराइँ। (पुष्पदत जसहर च० पृष्ठ ४ का० पृष्ठ १६२)[५१]।

परिनिष्ठित अपभ्रश मे भी 'व' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग—

) गोला णइ दिट्ठु (समुद्दहुन्ति)। (स्वयभू० रा० ३१।३ ३८)।

बासिणीस । (पुष्पदत आदि पु० २३०

स्वयभू ७८।२०) जक्खि
पष्ठ पृष्ठ ६), खन्ति
१८ पोक्खु (रा
वि (धनपा
स० रा०
च० पष्ट

5

52

पूर्वी अपभ्रंश मे 'व' के स्थान पर 'ब' भी पाया जाता है (चर्यापद)—

(१) आगम वेअ पुराणें पण्डिअ माण वहन्ति। (कण्हपा गा० २ पृष्ठ १४६)।

(२) सो कइस आगम वएँ वरवाणी। (लुइपा चर्यापि० २६)।

इसके अतिरिक्त इनके द्वारा प्रस्थापित परिनिष्ठित अपभ्रंश के ध्वनि परिवर्तन के लक्षण भी तथाकथित पूर्वी अपभ्रंश के ग्रंथो मे पाए जाते हैं, यथा—'क्ष' के स्थान पर च्छ, छ—

(१) मोरंगिपिच्छ (पक्ष) बरिहिण शबरी गीवत गुजरी। (शबरपा चर्या० २८)।

(२) राग दोष मोहे लाइआ छार (क्षार)। (कण्हपा चर्यापद ११)।

पूर्वी अपभ्रंश मे 'द्व' के स्थान पर 'ब' (चर्यापदों मे)

(१) चान्द सूरज बेणि (द्वौ) परवाफल। (गुडरिया चर्या० ४)।

(२) बेणि (द्वौ) रहिअ तसु णिच्चलठाइ। (कण्हपा दो० १३)।

प्रथम विशेषता के अंतिम भाग अर्थात् 'ष स' के स्थान पर 'श' तथा द्वितीय विशेषता संस्कृत 'श' की सुरक्षा तथाकथित पूर्वी अपभ्रंश के ग्रंथो मे व्यवस्थित रूप मे नही पाई जाती। यद्यपि दोहाकोशो और चर्यापदो की भाषा मे 'श' ध्वनि का अस्तित्व पाया जाता है तथापि इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि यह उन ग्रंथो की भाषा की विशेषता है क्योकि इस नियम का पालन सर्वत्र नही किया गया है। जहा कही क्षेत्रीय प्रभाव है वहा 'श ष स' के स्थान पर 'स' पाया जाता है अन्यथा इन तीनो स्थान पर 'स' (परिनिष्ठित अपभ्रंश परपरा के अनुसार) कर दिया गया है और कहीं कही तो तीनो का ही अस्तित्व पाया जाता है। कुछ ऐसे भी उदाहरण इन ग्रंथो मे पाए जाते हैं जहा पर 'श, स' के स्थान पर 'ष' भी पाया जाता है। अपने तथ्यो की पुष्टि के लिये नीचे उदाहरण प्रस्तुत है—

'श' के स्थान पर 'स'—

ऊँचा ऊँचा पावत तहि वसइ सबरी (शबरी) बाली बाली।
मोरंगिपिच्छ बरहिण सबरी (शबरी) गिवत गुजरी माली।
उमत सबरी (शबरी) पागल शबरो माकर गुलीगुहाडा।
एकेली सबरी (शबरी) ए वण हिंडइ कण कुंडल वज्रधारी।
निउ घाउ खाट पडिला सबरो (शबरो) महासुखे सेज (शय्या) छाइली।
सबरो (शबर) भुजग णइरामणिदारी पेह्मा राति पोहाइला।
सून (शून्य) निशमणि कण्ठे लइआ महसुहे राति पोहाइ।
उमग सबरो (शबर) गरुआ रोषे एके शर सधाने बधह विचइ परम-

पिवाणे गिरवर सिहर (शिखर) संधि पइस ते सबरो (शबरो) लोडिब कइसे (कीदृश)। (शबरपा, चर्यापद २८ पु० त० नि० १४१ ४२)।

उपर्युक्त पद म १४ ऐसे शब्द हैं जिनम सस्कृत मे 'श वर्ण आता है, उनमे से कवि ने १२ स्थानो पर 'श' के स्थान 'स' का प्रयोग किया है तथा केवल दो स्थानो पर 'श की सुरक्षा की है। समझना कठिन है कि विद्वान लेखकों ने उन कौन से पदों को लक्षित किया है जहाँ पर 'स, ष के स्थान पर श तथा श' की सुरक्षा को देखा है। जहाँ कहीं पर श सुरक्षित तथा 'स के स्थान पर श पाया जाता है वहाँ केवल क्षेत्रीय प्रभाव ही माना जा सकता है भाषा की विशिष्टता नही। इसके अतिरिक्त निम्नाकित उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—णिरासे पइसइ (कणरीपा० च० प० ३१) आस, पास (लुईपा० च० प० १), दिस कइसे (वही २९), बत्तिस णसिउ, सुघ (भूसुकपा० चर्यापद, २७), तेस (वही, ४९) ससि (वीणापा० च० प० १७) पइसइ महेसर असुद्ध (डोम्बिपा० च० प० १४), उवेसें, कइसे, चउदिस कम्बपा० चर्यापद ८), सरद, प्रकासित (जालन्धरपा० च० प० ७६) ससुरा (कुक्कुरिपा० च० प० २) सासु (गुडरिपा० च० प० ४), सिरिफल, कसण (कृष्ण) (महिपा० च० प० १६)।

दोहाकोशो म तो इस नियम की बिलकुल ही परवाह नही की गई है। पूर्वी अपभ्रश मे 'स के स्थान पर प्राय स ही पाया जाता है। चर्यापदो म—

सरहपा सहावे सोइ (सरहपा० चर्यापद ३२), सहज, सुदरी सुहे विलसति, रस (शबरपा० चर्यापद २८, ३०) पतिभासइ, सअल (कणरीपा० ३१), सअ, सवअण, सउम (शातिपाद च० प० ५०), सुस सघ (लुइपाद च० पा० १ २९), विकसउ, सहजानद, सणा (भुसुकपा० च० प० २७ ४९), सम, रस, विसम, (वीणापा०, च० प० १७) सम्भावे, सरवस (डाबि पा० च० प० १०), समय, सुगत सभव (जालधरपा० च० प० ७६), सोइ सएँ (शातिपा० च० प० ५ २६)।

पूर्वी अपभ्रश म ष के स्थान पर स का प्रयोग—

सस (शष) (भुसुकपा० २७)।[53]

इसके विपरीत चर्यापदो म स तथा श के स्थान पर ष का प्रयोग भी देखने को मिलता है, यथा—

षहजे। (भूसुकपा० चर्याप० २७)

जो षो (सो) चार साइ साषी (तंतिपा० चर्याप० ३३)

---

53 समस्त उद्धरण राहुल सांकृत्यायन द्वारा सपादित हिन्दी काव्य धारा और 'पुरातत्त्व निबन्धावलि' स उद्धृत है।

भिते भिते पियाला (शृगाल) पीहे (सिंह) षम (सम) जुझअ। (वही, ३३)।

श' के स्थान पर 'ष'—

पियाला पडवेषी (प्रतिवेशी) (ततिपाद च० प० ३३), पषहर (शशधर) (भूसुकपाद चर्यापद २७), षबराली (शबर) (शबरपाद चर्यापद ५०)।

तृतीय लक्षण के परिवेश म कतिपय शब्दो को छोडकर यहाँ पर शब्द के आद्य महाप्राणत्व को कही भी परिवर्तित नही किया गया है। मैं प्रत्येक महाप्राण ध्वनि के, जो प्राय शब्दो के आदि म प्रयुक्त होती आ रही है, एक एक, दो दो उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ, वैसे ऐसे शब्दो को हजारो की सख्या म वहाँ से चयन किया जा सकता है। उदाहरण क्रमश प्रस्तुत हैं[54]—

खाण्टवि खरे (सरहपाद च० प० ३८) खाइ (शबरपाद २८), खाले (भूसुकपाद ४६), छडि (सरहपा० ३२), छाड़ली (शबरपाद २८), छाड छाड (शा० ५०), छादक (लूइपाद १), घमण (लूइपाद १) घटा (कण्हपा० ११), घोरिअ घुमइ (कण्हपा० ३६) घर (ततिपा ४३), झाण (दारिक पा० ३४), ठान (दारिकपा० ३४), ठावी (कबलपाद ३०), ढेढण (ततिपा० ३३), थिर (सरहपा० ३८), थाकिउ (भूसुकपा० २७), थाहे (शा० १५), धर (सरहपा० ३८) धनि (वीणापा० १७), धुणी (शातिपा० २६), धाए (लुइपा० २६), फिटेलि, फुलिआ (शबरपाद ५०), फाल (गुडरिपाद ४), भिति (लुइपाद १), मणइ भाइला (सरहपाद ३८), भेला भुजग (शबरपाद २८, ५०), भात (ततिपा० १३), हाथेरे (सरहपा० ३२), हेली (शबरपाद ५०)।

जहाँ तक पूर्वी अपभ्रश की चतुर्थ विशेषता का सम्बन्ध है वह विशेष नही सामान्य है, क्योकि हेमचन्द्र ने इसे परिनिष्ठित (इनके अनुसार पश्चिमी) अपभ्रश की विशेषता लक्षित की है यथा—लिङ्गमत त्रम (८ ४४५)—अपभ्रंशे लिङ्गम अतन्त्रम व्यभिचारि प्राय भवति।[55] कम अधिक प्रयोगो की उपलब्धि के आधार पर किसी लक्षण को किसी भाषा की विशेषता कहना कदापि समीचीन नही कहा जा सकता।

यही स्थिति पचम विशेषता की भी है क्योकि सस्कृत की पुत्रियो और विशेषकर अपभ्रश भाषा की यह विशेषता रही है कि वह अधिक से अधिक वियोगात्मक होती गई और यही कारण है कि उसमे सबसे अधिक मात्रा म

---

[54] ये सभी उद्धरण केवल चर्यापदो से लिए गए हैं। दोहा कोशो का कोई उदाहरण नही दिया गया है।

[55] हेमचन्द्र शब्दानुशासन ८/४४५।

पिवाणे गिरवर शिहर (शिखर) सधि पइसन्ते सबरो (शबरो) लाडिव कइसे (कीदृश)। (शबरपा, चर्यापद २८ पु० त० नि० १६१ ४२)।

उपयुक्त पद मे १४ ऐसे शब्द है जिनमे संस्कृत में 'श' वर्ण आता है, उनमे से कवि ने १२ स्थानो पर 'श' के स्थान 'स' का प्रयोग किया है तथा केवल दो स्थानो पर 'श' की सुरक्षा की है। समझना कठिन है कि विद्वान् लेखकों ने उन कौन से पदो को लक्षित किया है जहां पर 'स, ष' के स्थान पर 'श' तथा 'श' की सुरक्षा को देखा है। जहाँ कहीं पर 'श' सुरक्षित तथा 'स' के स्थान पर 'श' पाया जाता है वहाँ केवल क्षेत्रीय प्रभाव ही माना जा सकता है, भाषा की विशिष्टता नहीं। इसके अतिरिक्त निम्नांकित उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं—णिरास, पइसइ (कण्हरीपा० च० प० ३१), आस, पास (लुईपा० च० प० १), दिस कइसे (वही २६), बत्तिस, णसिउ, सुण (भूसुकपा० चर्यापद, २७), सस (वही, ४६), ससि (वीणापा० च० प० १७), पइसइ महेसर असुद्ध (डोम्बिपा० च० प० १४), उवेसें, कइसे, चउदिस कम्बपा० चर्यापद ८), सरद प्रकासित (जालन्धरपा० च० प० ७६) ससुरा (कुक्कुरिपा० च० प० २) सासु (गुडरिपा० च० प० ४), सिरिफल, कसण (कृष्ण) (महिपा० च० प० १६)।

दोहाकोशो मे तो इस नियम की बिलकुल ही परवाह नहीं की गई है। पूर्वी अपभ्रंश मे 'स' के स्थान पर प्रायः 'स' ही पाया जाता है। चर्यापदो मे—

सरहपा, सहावे सोइ (सरहपा० चर्यापाद ३२), सहज सुदरी गुहे विलसति रसे (शबरपाद चर्यापद २८, ३०) पतिमासइ, समत्त (कण्हरी पाद ३१), सअ, सवेअण सरुअ (शातिपाद च० प० ५०), सुन्न साच (लुइपाद च० पा० १ २६), विकसउ, सहजानद, सभा (भुसुकपा० च० प० २७ ४६), सम, रस विसम, (वीणापाद, च० प० १७), सम्भावे सरवस (बोधिपा० च० प० १०), समय सुगत सभव (जालधरपा० च० प० ७६), सोइ सएँ (शातिपा० च० प० ५ २६)।

पूर्वी अपभ्रंश मे 'ष' के स्थान पर 'स' का प्रयोग—

सस (शेष) (भूसुकपा० २७)।[83]

इसके विपरीत चर्यापदो मे 'स' तथा 'श' के स्थान पर 'ष' का प्रयोग भी देखने को मिलता है, यथा—

पहुज। (भूसुकपा० चर्यापद २७)

जो पो (सो) चोर सोइ साधी (ततिपाद चर्यापद ३३)

---

83 समस्त उद्धरण राहुल सांकृत्यायन द्वारा सपादित हिन्दी काव्य धारा और 'पुरातत्त्व निबन्धावलि' से उद्धृत है।

भिते निते पियाला (शृगाल) पोहे (सिंह) पम (सम) जुझअ। (वही ३३)।

श' के स्थान पर 'प'—

पियाला, पडवेषी (प्रतिवशी) (ततिपाद च० प० ३३), पपहर (शशधर) भूसुकपाद चर्यापद २७), पबराली (शबर) (शबरपाद चर्यापद ५०)।

तृतीय लक्षण के परिवेश म कतिपय शब्दो को छोडकर यहाँ पर शब्द के आग महाप्राणत्व को कही भी परिवर्तित नहीं किया गया है। मैं प्रत्येक महाप्राण ध्वनि के जो प्राय शब्दा के आदि में प्रयुक्त होती आ रही है, एक एक, दो-दो उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ, यसे ऐसे शब्दा को हजारो की सख्या म यहाँ से चयन किया जा सकता है। उदाहरण क्रमश प्रस्तुत हैं[54]—

खाण्वि खरे (सरहपाद च० प० ३८) खाइ (शबरपाद २८), खाले (भूसुकपाद ४६) छहि (सरहपा० ३२), छाइली (शबरपाद २८), छाड छाड (शा० ५०), छादक (लूइपाद १), घमण (लूइपाद १) घटा (कण्हपा० ११), घोरिअ, घुमइ (कण्हपा० ३६) घर (ततिपा ४३), झाण (दारिक पा० ३४), ठान (दारिकपा० ३४), ठावी (कबलपाद ३०), ढेढण (ततिपा० ३३), थिर (सरहपा० ३८), थाकिउ (भूसुकपा० २७), थाहे (शा० १५), धर (सरहपा० ३८) धनि (वीणापा० १७), धुणी (शातिपा० २६), धाए (लुइपा० २६), फिटेलि फुलिआ (शबरपाद ५०), फाल (गुडरिपाद ४), भिति (लुइपाद १), भणइ भाइला (सरहपाद ३८), भेला भुअग (शबरपाद २८, ५०), भात (ततिपा० १३) हाथेरे (सरहपा० ३२), हेली (शबरपाद ५०)।

जहाँ तक पूर्वी अपभ्रंश की चतुथ विशेषता का सम्बन्ध है वह विशेष नही सामान्य है, क्योकि हेमचन्द्र ने इसे परिनिष्ठित (इनके अनुसार पश्चिमी) अपभ्रंश की विशेषता लक्षित की है यथा—लिङ्गमतन्त्रम (८ ४४५)—अपभ्रंशे लिङ्गम अतन्त्रम व्यभिचारि प्राय भवति।[55] कम अधिक प्रयोगो की उपलब्धि के आधार पर किसी लक्षण को किसी भाषा की विशेषता कहना कदापि समीचीन नही कहा जा सकता।

यही स्थिति पचम विशेषता की भी है क्योकि सस्कृत की पुत्रियो और विशेषकर अपभ्रंश भाषा की यह विशेषता रही है कि वह अधिक से अधिक वियोगात्मक होती गई और यही कारण है कि उसम सबसे अधिक मात्रा म

---

[54] ये सभी उद्धरण केवल चर्यापदो से लिए गए हैं। दोहा कोशो का कोई उदाहरण नही दिया गया है।

[55] हेमचन्द्र शब्दानुशासन ८/४४५।

परसर्गों का प्रयोग किया गया है। एक बात यहाँ पर स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि उक्त विद्वानों से हमारा मतभेद इस बात पर नहीं है कि पूर्वी अपभ्रंश का अस्तित्व था अथवा नहीं, बल्कि मतभेद इस बात पर है कि सिद्धों की रचनाओं—चर्यापदों एवं दोहाकोषों की भाषा पूर्वी अपभ्रंश है अथवा परिनिष्ठित अपभ्रंश ? हमारी दृष्टि में परिनिष्ठित अपभ्रंश है। इनका यह लक्षण तो हमारे मत को और भी अधिक पुष्ट करता है क्योंकि पश्चिमी अपभ्रंश से निसृत आधुनिक भारतीय भाषाएँ पूर्वी अपभ्रंश से उद्भूत असमी, बंगाली उड़िया आदि भाषाओं से अधिक मात्रा में निर्विभक्तिक हैं। अतः सिद्ध है कि पूर्वी अपभ्रंश बोली अपेक्षाकृत कम निर्विभक्तिक रही होगी। यदि चर्यापदों में निर्विभक्तिक प्रयोग अधिक है तो वे निश्चय ही परिनिष्ठित अपभ्रंश के ही बोधक हैं।

जहाँ तक छठे लक्षण का सम्बन्ध है लेखक ने लक्षण के उत्तरार्ध में स्वयं स्वीकार किया है कि एक प्रत्यय का अंतर्मिश्रण हुआ है। अतः किसी रचना में एक प्रत्यय के अंतर्मिश्रण पर और किसी रचना में दो प्रत्ययों के अंतर्मिश्रण पर दोनों की भिन्न भिन्न भाषा की क्लिष्ट कल्पना को किसी भी प्रकार श्रेयस्कर एवं तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। फिर इस अंतर्मिश्रण के प्रारम्भ की ओर हेमचन्द्र ने संकेत भी किया है यथा—व्यत्ययश्च (८ ४४७)—प्राकृतादि भाषा लक्षणानां व्यत्ययश्च भवति।[५८] किसी लेखक ने इसे स्वच्छन्दता से ग्रहण किया और कुछ प्राचीनता के पक्षपाती रहे। अतः इस आधार पर भी भाषा भिन्नता को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सप्तम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण —दोहाकोषों और चर्यापदों में 'अण' प्रत्यय मोती की भाँति बिखरे पड़े हैं आवश्यकता है चयनकर्ताओं की। इस विषय के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर देने से इस लक्षण की भी निराधारता सिद्ध हो जाती है।

पूर्वी अपभ्रंश में 'अण' प्रत्यय—

(१) मोहोर विगोआ कहण न जाइ। (गुडरिपा० च० प० २० का० धा० पृष्ठ १४४)।

(२) घोलिअ अवण गवण विहुण। (कण्हपा० च० प० ३६ का० धा० पृष्ठ १५२)।

जलण (सरहपा० दो० को० ४) असण गमण (कण्हपा० दो० को० १७) कहण (कुक्कुरिपा० चर्यापद २०), अवण, गवण (भुसुकपा० चर्याप० २१)।

---

[५८] हेमचन्द्र शब्दानुशासन ८/४४७।

उपर्युक्त आकलन एवं विचार विमर्श के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच जाते हैं कि लेखकों के लेखनस्थान (निवास स्थान) के आधार पर उनकी कृतियों की भाषाओं को उन क्षेत्रों की भाषाओं के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। ये लेखक चाहे पूर्व के निवासी रहे हों चाहे इनकी जन्मभूमि पश्चिमी प्रदेश रही हो, चाहे इन्होंने उत्तरी क्षेत्र में बैठकर काव्य सृजन किया हो, चाहे दक्षिणी प्रदेश में बैठकर अपनी वाणी को साकार किया हो, इन सबके ग्रंथों की भाषा एक ही है और वह परिनिष्ठित अपभ्रंश है जिसे ये विद्वान् पश्चिमी अपभ्रंश के नाम से अभिहित करते हैं। पूर्वी अपभ्रंश का विवेचन करते समय डॉ॰ घोषाल ने ठीक ही कहा है—

'इस प्रकार पूर्वी अपभ्रंश का अर्थ पूर्वी प्रदेश की साहित्यिक भाषा है तो निश्चय ही पूर्वी अपभ्रंश नाम की कोई चीज नहीं है। लेकिन यदि पूर्वी अपभ्रंश का तात्पर्य मागधी अपभ्रंश से है जो आधुनिक पूर्वी बोलियों का मूल स्रोत है, तो निश्चय ही उसका अस्तित्व था और वह एक जीवित सत्य की भाँति वास्तविक थी।[57]

ये ही पंक्तियाँ दक्षिणी अपभ्रंश के लिए भी [केवल पूर्वी अपभ्रंश शब्द के स्थान पर दक्षिणी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग कर] उद्धृत की जा सकती हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि उस समय की साहित्यिक भाषा केवल एक थी, अनेक नहीं।

---

[57] हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ २४।

सप्तम अध्याय

# संक्रान्ति-काल की भाषा —अवहट्ठ

अवहट्ठ का प्रारम्भ—अवहट्ठ के ग्रन्थ—अवहट्ठ शब्द का भाषा के लिए प्रयोग का इतिहास—अवहट्ठ, अवहत्थ, अवहट्ठ आदि शब्दों की व्युत्पत्ति—सन्देशरासक का परिचय—ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—रूपात्मक विशेषताएँ—प्राकृतपैंगलम की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ—ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक—कीर्तिलता का परिचय—उक्ति व्यक्ति प्रकरण का परिचय—वर्ण रत्नाकर का परिचय—तीनों की भाषाओं की विशेषताओं का सम्मिलित परिचय—अवहट्ठ की सामान्य विशेषताएँ—ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक—अवहट्ठ और मिथिलापभ्रंश—अवहट्ठ और पिङ्गल—मगही, ओड़िया, बँगला आदि—अवहट्ठ और पुरानी हिन्दी—निष्कर्ष ।

पिछले पृष्ठो मे हम इस बात पर अपने विचार प्रकट कर चुके हैं कि ५०० ई० से १००० ई० तक अपभ्रश एक अखिल भारतीय साहित्यिक एव सास्कृतिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित रही। अद्यावधि उपलब्ध ग्रथो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह भाषा मध्यदेशीय शौरसेनी भाषा का ही विकसित रूप है जिसमे यत्र-तत्र कुछ प्रातीय प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नही है कि न भा आ की समस्त भाषाओ का उद्गम एक इसी भाषा से हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि साहित्यकार जब एक परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग कला की साधना मे कर रहे थे उस समय भी भिन्न भिन्न क्षेत्रो म जन साधारण अपने दैनिक व्यवहार एव कार्यकलापो के लिए भिन्न भिन्न बोलियो का प्रयोग कर रहा था। ये ही बोलियाँ आगे चल कर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ की जन्मदात्री सिद्ध हुई।

जब उपरिकथित बोलियाँ विकसित होकर साहित्यिक भाषाएँ बनने का उपक्रम कर रही थी उस समय साहित्यकारो की परिनिष्ठित अपभ्रश मे एक विशेष परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगत होने लगे थे। ऐसा लगता है कि कोई एक भाषा स्थानीय प्रभाव ग्रहण कर अपभ्रश भाषा की भूमि पर अपना नवीन अस्तित्व उदघाटित करने मे तल्लीन थी। कुछ समय तक तो प्राचीन परम्परा के अनुसार इसे देशी भाषा कहा जाता रहा, किन्तु जब इसमे साहित्य का सृजन बहुलता से होने लगा तो तत्कालीन कलाकारो एव वैयाकरणो ने इसे 'अवहट्ठ' की सज्ञा प्रदान की। यह भाषा वस्तुत अपभ्रश के अन्तिम छोर और नव्य भारतीय आर्यभाषाओ की प्रारम्भिक सीमा की सूचिका सिद्ध हुई अथवा यो कहिए कि इसने दोनो भाषाओ के बीच की कडी का काम दिया। उक्त भाषा का ज्ञान हम निम्नलिखित ग्रथो के आधार पर होता है—

| क्रम | रचना | लेखक व स्थान | रचना काल |
|---|---|---|---|
| (१) | सन्देश रासक | —श्री अब्दुलरहमान मुल्तान | —बारहवी सदी |
| (२) | प्राकृतपैगलम | —श्री पिङ्गल वाराणसी | —चौदहवीं सदी |
| (३) | उक्ति व्यक्ति प्रकरण | —श्री पण्डित दामोदर काशी | —बारहवी सदी |
| (४) | कीर्तिलता | —श्री विद्यापति मिथिला | —चौदहवी सदी |
| (५) | वर्णरत्नाकर | —श्री ज्योतिरीश्वर मिथिला | —चौदहवी सदी |
| (६) | चर्यापद | —विभिन्न सिद्ध एव नाथ पूर्वी प्रदेश | —चौदहवी सदी |
| (७) | ज्ञानेश्वरी | —सन्त ज्ञानेश्वर दक्षिण प्रदेश | —तेरहवी सदी |
| (८) | पुरातन प्रबन्ध सग्रह | —सम्पादक मुनि जिनविजय | —बारहवीं सदी |

अवहट्ठ भाषा के भाषा वैज्ञानिक विवेचन से पूर्व यह देख लेना आवश्यक होगा कि उक्त शब्द का प्रयोग एक भाषा विशेष के लिए कब और कहाँ हुआ तथा यह शब्द क्या कभी किसी भाषा विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है ? यदि हाँ, तो वह कौनसी भाषा थी ? अवहट्ठ शब्द के प्रायोगिक इतिहास का अनुसन्धान करने पर ज्ञात होता है कि इसका सर्वप्रथम प्रयोग 'सन्देश रासक' नामक अब्दुल रहमान कृत ग्रन्थ में हुआ है जिसका रचनाकाल बारहवीं सदी है—

अवहट्टय-सक्कय पाइयम्मि पेसाइयम्मि भासाए।
लक्खण छंदाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं॥ (स रा १ ६)

उक्त पद्य में 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश भाषा से भिन्न किसी भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ दृष्टिगत नहीं होता। यहाँ पर भिन्न भिन्न भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, पैशाची—के प्रसंग में अवहट्ट शब्द का प्रयोग हुआ है। यदि हम इसे अपभ्रंश से भिन्न एक भाषा स्वीकार करें तो पद में अव्याप्ति दोष आ जायगा। कवि ने प्रायः प्राचीन समस्त परिनिष्ठित साहित्यिक भाषाओं को गिनाया है। ऐसी स्थिति में अपभ्रंश का परिगणन न करना किसी भी सीमा तक स्वीकार्य नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि उक्त पद में प्रयुक्त अवहट्ट शब्द अपभ्रंश का ही द्योतक है।

तत्पश्चात् 'प्राकृत पैंगलम्' के टीकाकार लक्ष्मीधर ने उक्त ग्रन्थ की भाषा के लिए अवहट्ठ शब्द का प्रयोग किया है—

"प्रथम भाषाया अवहट्ट (अपभ्रंश) भाषायास्तरण्डस्तरणिरित्यर्थ।"

इसी प्रकार टीकाकार वंशीधर ने भी प्राकृतपैंगलम् की भाषा को अवहट्ठ बताया है—प्रथमो भाषा तरण्ड। प्रथम आद्य भाषा अवहट्ट भाषा यया भाषया अयं ग्रन्थो रचित। सा अवहट्ट भाषा तस्या इत्यर्थ। दोनों टीकाओं का समय क्रमशः १६५७ तथा १६९९ सं० है। इस समय तक ऐसा प्रतीत होता है कि 'अपभ्रंश भाषा अवहट्ठ भाषा के नाम से ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। टीकाकार लक्ष्मीधर ने कोष्ठक में अपभ्रंश शब्द देकर सम्भवत इस बात की पुष्टि की है कि वह अपभ्रंश और अवहट्ठ को भिन्न भाषाएं लेकर नहीं चलता। साथ ही अपभ्रंश या अवहंस (जो अधिक प्राचीन शब्द है) के स्थान पर अकस्मात् 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग निश्चय ही विचारणीय है। तथ्यों के अभाव में इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना उचित नहीं है।

चौदहवीं शताब्दी में ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने भी अवहट्ठ शब्द का प्रयोग भाषा विशेष के लिए किया है—पुनु कईसन भाट संस्कृत पराकृत, अवहट्ठ पैशाची शौरसेनी, मागधी छहु भाषा तत्त्वज्ञ शकारी आभीरी चाण्डाली सावली द्राविली औतकली विजातीया सातहु उपभाषाक कुशलह। (व र, पृ ५५ ख)।

चौदहवी सदी मे विद्यापति ने कीर्तिलता मे 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में किया है—

> सक्कअ वाणी बहुअ न भावइ ।
> पाउअ रस को मम्म न पावइ ॥
> देसिल बअना सब जन मिट्ठा ।
> त तैसन जम्पिअ अवहट्ठा ॥ (की० ल० प्रथम पल्लव)

उक्त पद का भी जब हम सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं तो लगता है कि विद्यापति भी अवहट्ठ से अपभ्रंश अर्थ ही ग्रहण करता था क्योकि सस्कृत और प्राकृत के पश्चात उसने अवहट्ठ शब्द का प्रयोग किया है जो अपभ्रंश का ही सूचक है। द्वितीय, उसने देशी वाणी को सरस बताकर 'त तैसन' शब्द द्वारा यह बताया है कि वह वैसी ही अवहट्ठ अर्थात देश्य वचनो से युक्त न कि परिनिष्ठित अपभ्रंश मे लिखेगा। इससे स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि विद्यापति का अवहट्ठ से तात्पर्य अपभ्रंश से ही था, परन्तु उसके ग्रन्थ की भाषा अवहट्ठ+देसिल बअना है। कीर्तिलता का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण भी यह सिद्ध करता है कि उसमे देश्य प्रयोगो का आधिक्य है पर मूल भूमि अपभ्रंश की ही है।

उपर्युक्त उद्धरणो से यह कही भी सिद्ध नही होता कि तत्कालीन लेखको या टीकाकारों ने अवहट्ठ शब्द का प्रयोग अपभ्रंश भाषा से भिन्न किसी भाषा के लिए किया है, बल्कि यो कहना चाहिये कि उक्त शब्द का प्रयोग जहाँ कही भी हुआ है वहाँ अपभ्रंश का ही वाचक बनकर आया है। मध्यकालीन भाषाओ के लिए सस्कृत के वैयाकरणो एव काव्य शास्त्रियो ने प्राकृत एव अपभ्रंश शब्दो का प्रयोग किया है। प्राकृत भाषा के कवियो ने इनके तद्भव रूप 'पाउअ तथा अवहस जैसे शब्दो का प्रयोग किया है। ठीक इसी प्रकार अपभ्रंश के कवियो ने अपभ्रंश के लिए 'अवहस अवब्भंस एव अवहट्ठ शब्दो का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से अवहट्ठ को अपभ्रंश से भिन्न भाषा के लिए प्रयुक्त शब्द मानना किसी भी सीमा तक स्वीकार्य नही है। अवहट्ठ' को अपभ्रंश से भिन्न मानना उसी प्रकार तर्कसगत नही है जिस प्रकार पाउअ को 'प्राकृत भाषा से भिन्न भाषा के लिए प्रयुक्त शब्द मानना। हाँ, एक बात अवश्य विचारणीय है कि बारहवी शताब्दी से पूर्व के अपभ्रंश कवियों और लेखकों ने 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग क्यो नही किया और उक्त शताब्दी के पश्चात् यह शब्द क्यो इतना लोकप्रिय हो गया ? विद्वानो का मत है कि 'अवहट्ठ' शब्द सस्कृत 'अपभ्रष्ट' का तद्भव है। सस्कृत के एक-आध विद्वानो को छोडकर भाषा विशेष के लिए किसी ने भी अपभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग

नही किया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण म दो स्थानो पर इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[1]

भरतमुनि ने एक स्थान पर नाटयशास्त्र म 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है।[2] यह प्रयोग अपभ्रष्ट के स्थान पर किया गया है, वह भी सामान्य अथ म न कि भाषा विशेष के अथ मे। इसके अतिरिक्त प्राय समस्त विद्वानो ने अपभ्रश शब्द का ही प्रयोग अधिकत किया है। प्राकृत एव अपभ्रश के कवियो एव वैयाकरणो ने इसके रूपान्तर अवहस, अवब्भश आदि शब्दो का प्रयोग ही अधिकाश मात्रा मे किया है।[3] प्राचीन अथवा पूववर्ती अपभ्रश के विद्वानो म स्वयम्भू ने रामायण म अवहत्थ शब्द का प्रयोग किया है जिसे डा नामवर सिंह ने अपभ्रश शब्द का विकसित रूप बतलाया है[4] परन्तु अवहत्थ शब्द की व्युत्पत्ति अपभ्रष्ट से सिद्ध नही होती। हेमचन्द्र ने प्राकृत भाषा म संस्कृत 'ष्ट' के स्थान पर 'ट्ठ' का विधान किया है[5] तदनुसार अपभ्रष्ट से अवहट्ठ बन जाता है किन्तु अवहत्थ नही। साथ ही यह भी लक्षणीय है कि 'अवहत्थ' शब्द का प्रयोग पउमचरिउ' (रामायण) म अपहस्त के अथ में हुआ है, न कि अवहस्त के अथ मे। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अपभ्रश के परवर्ती कवियो ने अपने पूववर्ती कवियो द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग क्यो नही किया तथा उसके स्थान पर अवहट्ठ शब्द उन्हे एकदम रुचिकर भी क्यो लगा? मैं जहाँ तक समझता हूँ भारतीय भाषाओ के नामकरण की पृष्ठभूमि मे एक प्रवृत्ति सवत्र लक्षित होती है कि जिस भाषा का वे प्रयोग करते थे उसे भाषा कहते थे और जो जनसाधारण म प्रचलित बोली होती थी उसे हेय दृष्टि स देखते थे किन्तु जब वह बोली कतिपय प्रतिभाओ का सम्बल प्राप्त कर ऊपर उठने का उपक्रम करती तो कट्टर वैयाकरणो को उसका अस्तित्व स्वीकार करना पडता था पर वह भी कुछ हीन दृष्टि के साथ। अत वे उसे देश्य कहने लगते। जब वह देश्य भाषा समृद्धवती होने लगती तो उसकी परिनिष्ठित भाषा से भिन्न नाम देकर उसे शिष्ट भाषा का गौरवमय

---

1 अपभ्रष्ट तृतीयञ्च तदन त नराधिप। (वि० ध० पु० ३ ३)
लोकेषु यत स्यादपभ्रष्ट सन ज्ञेय हि तद्दशविदो धिकारम।
(वि० ध० पु० ३ ७)

2 समानश ब्दम विभ्रष्ट देशीगतमथापि च। (नाटयशास्त्र ३।१०)

3 सक्कय पायउ पुण अवहसउ। (कु० म० ४।१८) किं च अवब्भसउ। (अपभ्रश का० याग पृ० १)
ता किं अवहस होहिइ। (अ० का० म० भूमिका पृ० १७)

4 अवहत्थे वि० खल—यणु णिरवसमु। पउमचरिउ १।१।४।

5 प्राकृत व्याकरण पृष्ठ ६४ सूत्र ३ १८।

पद प्रदान कर देते थे। यह प्रवृत्ति संस्कृत से लेकर आज तक भली प्रकार लक्षित की जा सकती है। कितने ही समय तक प्राकृतें देश्य भाषाएँ रहीं तदुपरान्त अपभ्रंश को पर्याप्त समय तक देश भाषा कहा जाता रहा। स्वयम् आज की नागरी हिन्दी कितने दिनों तक 'भाखा' का भार वहन करती रही। कहने का तात्पर्य यह है कि देशी शब्दों की साहित्य में प्रधानता होते ही उसका नामकरण संस्कार प्रारम्भ हो जाता था। यही स्थिति अवहट्ठ की भी हो सकती है। जब अपभ्रंश में देशी शब्दों की प्रधानता हुई, जैसा कि विद्यापति ने संकेत किया है अपभ्रंश को अवहट्ठ कहना प्रारम्भ कर दिया होगा पर भिन्न भाषा के रूप में नहीं।

यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो प्रतीत होगा कि पूर्वकालीन अपभ्रंश के कवियों ने अपनी भाषा को देश भाषा मानकर उसके लिए अवब्भंस तथा अवहंस शब्दों का प्रयोग किया है जो संस्कृत अपभ्रंश शब्द के विकसित रूप ही हैं किन्तु उत्तरकालीन लेखकों ने यद्यपि अपभ्रंश के ही पर्याय के रूप में— अवहट्ट, अवहट्ठ अवहट तथा अवहठ शब्दों का प्रयोग किया है किन्तु ये 'अपभ्रष्ट' शब्द के ही विकसित रूप हैं। अब विचारणीय केवल यही है कि इन्होंने पुरातन शब्द का परित्याग क्यों किया ? क्या वे विकास के इस चिह्न से अवगत थे ? यदि थे तो फिर 'प्राकृत' के बाद इसका प्रयोग क्यों ? अवहंस के पश्चात यदि अवहट्ठ का प्रयोग किया जाता तो ऐसा लगता कि सम्भवत वे नवीन भाषा के सम्बन्ध में जानते होते। पर प्रयोग से ऐसा विदित नहीं होता। इस समस्या का समाधान अवश्यम्भावी है। अब तक अवहट्ठ भाषा की संज्ञा जिन ग्रन्थों की भाषा को दी गई है उनमें सनेहय रासय (सन्देश रासक) प्राकृतपैंगलम् पुरातन प्रबन्ध संग्रह उक्ति व्यक्ति प्रकरणम् वर्ण रत्नाकर कीर्तिलता वर्णपद तथा नानेश्वरी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थों का यदि भाषा की दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो ज्ञात होगा कि इनमें जहाँ कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं वहाँ पर इन पर वहाँ की प्रान्तीय बोलियों का प्रभाव भी कम मात्रा में नहीं है। अत इन सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर ही विद्वानों ने इन ग्रन्थों की भाषा का नामकरण संस्कार अवहट्ठ किया है। फिर भी इनकी भाषा पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम सन्देश रासक को लीजिये—

सन्देश रासक के रचयिता का नाम अब्दुल रहमान है। ये मुल्तान के निवासी थे। ग्रन्थ में एक विरहिणी नायिका के हृदय की मार्मिक अनुभूति की अभिव्यञ्जना की गई है। इसमें उस स्थिति में उत्पन्न होने वाले सभी हावों एवं भावों का बड़ा ही सुन्दर प्रस्फुटन हुआ है। नागरिक संस्कृति की तरह का वाक्चातुर्य न होकर ग्रामीण भावों का निश्छल अभिव्यक्ति दर्शनीय है।

इस ग्र थ का जहाँ का य की दृष्टि से महत्त्व है वहाँ भाषा की दृष्टि से भी यह एक महत्त्वपूण रचना है। भाषा की दृष्टि से यह परवर्ती अपभ्रश है और न भा आ की मध्यदेशीय भाषाओ के प्रारम्भ की सूचक भी।

ध्वनितत्त्व—(१) दो स्वरो के मध्य मे आने वाले म के स्थान पर 'व अथवा वँ ध्वनि उपल ध होती है। यह प्रवत्ति राजस्थानी भाषा म भी पाई जाती है, यथा—दमन>डवण रमणीय>रवणिज्ज।

(२) जहाँ अपभ्रश म निरनुनासिक ध्वनियो को सानुनासिक कर देने की प्रवत्ति को अपभ्रश मे विद्वानो ने चिह्नित किया है वहाँ स देश रासक इसके परित्याग की प्रवत्ति को सूचित करता है—

अधिकरण कारक मे—हिं के स्थान पर हि'।

नपुसक लिङ्ग कर्ता और कम मे—अइ>अइ।

अ य उदाहरण—

हुउ>हउ, तुहु>तुहु मइ>मइ, किवि>किवि काइ>काइ।

(३) 'इ के स्थान पर 'य' के आदेश की प्रवत्ति—

कविवर>कइवर>कयवर वियोगी>विउइ>विउय केतकी>केवइ> केवय।

(४) 'अ के स्थान पर 'इ कर देने की प्रवत्ति—

गदगद>गग्गर>गग्गिर, शशधर>ससहर>ससिहर।

(५) 'इ के स्थान पर अ कर दिया जाता है—

विरहिणी>विरहणी धरित्री>धरति विविध>विवह।

(६) उ के स्थान पर 'अ पाया जाता है—

उत्तुङ्ग>उत्तग कुसुम>कुसम।

(७) उ' के स्थान पर व भी मिलता है—

गोपुर>गोउर>गोवर।

(८) ए क स्थान पर 'इ—शय्या>सज्जा>सिज्ज।

(९) औ के स्थान पर उ—यथा मौक्तिक>मोत्तिअ>मुत्तिय।

(१०) समीपस्थ दो स्वरों की सन्धि कर देने की जो प्रवत्ति नव्य भारतीय आयभाषाओ म उपल ध होती है उसका प्रारम्भ स देश रासक म पर्याप्त मात्रा म देखा जा सकता है—

स्वणकार>सुन्नआर>सुनार, अ धकार>अ धआर>अ धार।

(११) स' को ह का आदेश जो अधिकाश भारतीय आयभाषाओ म पाया जाता है विशेषकर राजस्थान की पश्चिमी शाखा पजाबी एव सि धी म मिलता है उसका प्रारम्भ भी स देश रासक म हो गया था—

स देश>सनेस>स नेह दिवस>दियह दश>दस>दह।

(१२) पदान्त दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर देने की प्रवृत्ति—इस प्रवृत्ति की सूचना हेमचन्द्र ने भी अपभ्रंश के लिए दी है जहाँ ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व कर दिया जाता है, यथा—

ढोल्ला सामला धण चम्पावण्णा। णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी—उक्त उदाहरण मे सामल ढोल्ल ये दोनो दीर्घ कर दिये गये हैं तथा स्वर्णरेखा> सुवण्णरेह मे पदान्त दीर्घ को ह्रस्व कर दिया गया है। पर यहाँ पर यह प्रवृत्ति विशेष सक्रिय है—

दोहा>दोहअ, गाथा>गाहा>गाहअ।

रूपतत्त्व—(१) निर्विभक्तिक प्रयोग स्वच्छन्दता से किए जाने लगे। यद्यपि इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ संस्कृत से ही हो गया था पर अपभ्रंश तक केवल कतिपय कारक रूपो तक ही सीमित रहा। सन्देश रासक और प्राकृत पैङ्गलम् मे प्राय सभी कारको के निर्विभक्तिक प्रयोग उपलब्ध हो जाते हैं, साथ ही विभक्ति प्रत्ययो का प्रयोग भी प्रचलन मे था।

(२) परसर्गों की संख्या बढने लगती है। कवि या लेखक सविभक्तिक प्रयोगो के स्थान पर परसर्ग-युक्त प्रातिपदिको का प्रयोग अधिक रुचि के साथ करने लगे। सन्देश रासक मे सरिसिहि सम, सरिसु, हुत्तउ, ठिउ ठ्ठियउ रेसि, लग्गि, तणि, महि आदि अनेक परसर्गों का प्रयोग किया गया है।

(३) सन्देश रासक तक आते-आते पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्ययो के साथ 'कर और करि जैसे परसर्गों का प्रयोग भी देखने को मिलता है, यथा—दहेवि करि।

उपर्युक्त प्रवृत्तियो के साथ जब प्राकृतपैङ्गलम् की भाषा प्रवृत्तियो की तुलना करते हैं तो थोडी बहुत भिन्नता के साथ प्राय ये सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं, यथा—

(१) प्राकृतपैङ्गलम मे य श्रुति का प्राय अभाव ही पाया जाता है इसका यह भी कारण हो सकता है कि लेखक ने प्राकृत शब्दो के प्रयोगो को विशेष महत्ता दी हो, जैसे—

सागर>साअर (१ १) (सन्देश रासक मे 'सायर प्रयुक्त हुआ है)। युगल>जुअल (१ ८६) सं ग जुअल।

(२) 'म के स्थान पर 'व व्' का आदेश अत्यन्त कम मिलता है।

(३) सन्देश रासक की तुलना मे प्राकृतपैङ्गलम् मे द्वित्व का प्रयोग अधिकता से पाया जाता है जिसे शायद राजस्थान की डिंगल शैली मे और पजाबी ने अब तक अपना रखा है।

उदाहरण—दीपक>दीपक्क (१ १८१) चमक>जमक>जमक्का (१ १२०), नियम>णिअम>णिम>णिम्म (१ १८६)।

इस ग्रथ का जहाँ काव्य की दृष्टि से महत्त्व है वहाँ भाषा की दृष्टि से भी यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है। भाषा की दृष्टि से यह परवर्ती अपभ्रंश है और न भा आ की मध्यदेशीय भाषाओं के प्रारम्भ की सूचक भी।

ध्वनितत्त्व—(१) दो स्वरो के मध्य मे आने वाले म के स्थान पर व अथवा वं ध्वनि उपलब्ध होती है। यह प्रवृत्ति राजस्थानी भाषा म भी पाई जाती है, यथा—दमन>डवण रमणीय>रवणिज्ज।

(२) जहा अपभ्रंश मे निरनुनासिक ध्वनियो को सानुनासिक कर देने की प्रवृत्ति को अपभ्रंश मे विद्वानो ने चिह्नित किया है वहाँ सन्देश रासक इसके परित्याग की प्रवृत्ति को सूचित करता है—

अधिकरण कारक मे—हिं के स्थान पर हि।

नपुसक लिङ्ग कर्ता और कम मे—अइं>अइ।

अन्य उदाहरण—

हउं>हउ, तुहुं>तुहु मइं>मइ किंवि>किवि काइं>काइ।

(३) 'इ के स्थान पर 'य' के आदेश की प्रवृत्ति—

कविवर>कइवर>कयवर वियोगी>विउइ>विउय केतकी>केवइ>केवय।

(४) 'अ के स्थान पर इ कर देने की प्रवृत्ति—

गदगद>गग्गर>गग्गिर शशधर>ससहर>ससिहर।

(५) 'इ' के स्थान पर अ कर दिया जाता है—

विरहिणी>विरहणी धरित्री>धरत्ति विविध>विवह।

(६) उ के स्थान पर 'अ' पाया जाता है—

उत्तुङ्ग>उत्तग, कुसुम>कुसम।

(७) उ के स्थान पर व भी मिलता है—

गोपुर>गोउर>गोवर।

(८) ए के स्थान पर इ—शय्या>सेज्जा>सिज्ज।

(९) औ' के स्थान पर उ—यथा मौक्तिक>मोत्तिअ>मुत्तिय।

(१०) समीपस्थ दो स्वरो की सधि कर देने की जो प्रवृत्ति नव्य भारतीय आयभाषाओं म उपलब्ध होती है उसका प्रारम्भ सन्देश रासक म पर्याप्त मात्रा मे देखा जा सकता है—

स्वणकार>सुन्नआर>सुनार अन्धकार>अन्धआर>अन्धार।

(११) स' को 'ह का आदेश जो अधिकाश भारतीय आयभाषाओं म पाया जाता है विशेषकर राजस्थान की पश्चिमी शाखा पजाबी एव सिन्धी म मिलता है उसका प्रारम्भ भी सन्देश रासक म हो गया था—

सन्देश>सनेस>सनेह दिवस>दियह, दश>दस>दह।

(१२) पदान्त दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर देने की प्रवृत्ति—इस प्रवृत्ति की सूचना हेमचन्द्र ने भी अपभ्रंश के लिए दी है जहाँ ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व कर दिया जाता है, यथा—

ढोल्ला सामला धण चम्पावण्णी। णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी—इस उदाहरण में सामला ढोल्ला के दोनों दीर्घ कर दिए गए हैं तथा सुवण्णा> सुवण्णरेह में पदान्त दीर्घ को ह्रस्व कर दिया गया है। पर यहाँ पर यह प्रवृत्ति विशेष सक्रिय है—

दोहा>दोहअ, गाथा>गाहा>गाहअ।

रूपतत्त्व—(१) निर्विभक्तिक प्रयोग स्वच्छन्दता से किए जाने लगे। यद्यपि इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ संस्कृत से ही हो गया था पर अपभ्रंश तक केवल कतिपय कारक रूपों तक ही सीमित रहा। सन्देश रासक और प्राकृतपैङ्गलम् में प्रायः सभी कारकों के निर्विभक्तिक प्रयोग उपलब्ध हो जाते हैं, साथ ही विभक्ति प्रत्ययों का प्रयोग भी प्रचलन में था।

(२) परसर्गों की संख्या बढ़ने लगी है। कवि लोग केवल निर्विभक्तिक प्रयोगों के स्थान पर परसर्ग युक्त प्रातिपदिकों का प्रयोग अधिक रुचि से करने लगे। सन्देश रासक में सरिसहि, मज्झ, [illegible], हुन्त, ठिउ, [illegible], रेसि, लग्गि, तणि, महि आदि अनेक परसर्गों का प्रयोग किया गया है।

(३) सन्देश रासक तक आते-आते पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्ययों के बाद 'कर' और करि जैसे परसर्गों का प्रयोग भी आरम्भ हो गया है, यथा—दहेवि करि।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के साथ जब प्राकृतपैङ्गलम् की भाषा प्रवृत्तियों की तुलना करते हैं तो थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ प्रायः ये सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं, यथा—

(१) प्राकृतपैङ्गलम में य श्रुति का प्रायः अभाव ही पाया जाता है इसका यह भी कारण हो सकता है कि लेखक ने प्राकृत रूपों के [illegible] को विशेष महत्ता दी हो, जैसे—

सागर>सायर (१ १) (सन्देश रासक में 'सायर' प्रयुक्त हुआ है)। युगल>जुअल (१ ८६) सं रा जुअल।

(२) 'म्' के स्थान पर 'वँ' व् का आगम अत्यन्त कम मिलता है।

(३) सन्देश रासक की तुलना में प्राकृतपैङ्गलम् में द्वित्व का प्रयोग अधिकता से पाया जाता है जिसे शायद राजस्थान की डिंगल शैली में और पंजाबी ने अब तक अपना रखा है।

उदाहरण—दीपक>दीपक्क (१ १८१), चमक>चमक>चमक्क (१ १२०), नियम>णिअम>णिम>णिम्म (१ १८६)।

रूप रचना में केर और करि का प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा साथ ही भविष्यत्काल में 'ह' के साथ-साथ 'ग' प्रत्यय का प्रयोग द्रष्टव्य है जिसे पश्चिमी राजस्थानी अब तक अपनाए हुए है—बड्ड मीठि अम्ह जास्यूँ आज (प्रा० प्र० ४ १९८)

डॉ नामवर सिंह ने उक्त दोनो ग्रन्थों को पश्चिमी प्रदेशों की भाषाओं का आरम्भिक रूप माना है। इसीलिए उन्होंने हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पुस्तक में परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश शीर्षक के अन्तर्गत इनका विवेचन किया है। किन्तु उक्त दोनों ग्रन्थ पश्चिम की बोलियों एवं भाषा के प्रारम्भिक रूप का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता कहाँ तक रखते हैं यह अभी भी अध्ययन एवं अनुसन्धान का विषय है। प्राकृतपैङ्गलम् में कितने ही ऐसे प्रयोग हैं जो पूर्व की भाषाओं की याद दिलाते हैं।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण कीर्तिलता तथा वर्ण रत्नाकर की भाषाएं न्यूनाधिक साम्य वैषम्य के होते हुए भी पर्याप्त मात्रा में समान प्रवृत्तियों की द्योतक हैं। साथ ही अनेक स्थलों पर पूर्ववर्णित ग्रन्थों की भाषा से ये अपना अलगाव भी सिद्ध करते हैं जैसा कि आगे चलकर इनके भाषावैज्ञानिक विवेचन से स्पष्ट होगा। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' ग्रन्थ की रचना दामोदर पण्डित ने काशी-कन्नौज के नरेश गोविन्दचन्द्र के पुत्रों को लोक भाषा सिखाने हेतु की थी। डा सुनीति कुमार चटर्जी का इसका भाषावैज्ञानिक विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि उक्त ग्रन्थ की भाषा पूर्वी हिन्दी के पुराने रूप का अच्छा प्रतिनिधित्व कर सकती है। 'कीर्तिलता' प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति की रचना है। इसकी भाषा को स्वयं कवि ने अवहट्ठ कहा है। यद्यपि यह अब तक सिद्ध नहीं हो पाया है कि कवि का अवहट्ठ से क्या तात्पर्य था। ग्रन्थ का प्रणयन महाराज कीर्तिसिंह जो तिरहुत के राजकुमार थे की कीर्ति को प्रतिष्ठित करने हेतु किया गया है। मलिक असलान द्वारा उनके पिता की हत्या किये जाने पर दोनों भाई किस प्रकार जौनपुर के नवाब की सहायता से असलान को बन्दी बनाकर भी जीवनदान देते हुए पुनः अपने राज्य को हस्तगत करते हैं। इसमें मुस्लिम संस्कृति जौनपुर का प्राकृतिक चित्रण एवं कीर्तिसिंह की वीरता का वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है। साथ ही पूर्वी प्रदेशों की बोलियों के बीज खोजने वाले अनुसंधित्सुओं के लिए इसकी भाषा अत्यन्त उपयोगी है। वर्ण रत्नाकर की रचना श्री ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने 'कवि समयों' का संग्रह करने हेतु की था। ये मिथिला के नरेश हरिसिंह देव के आश्रित कवि थे। इनकी भाषा पुरानी मैथिली का उत्कृष्टतम नमूना है। साथ ही मगही भोजपुरी एवं बंगला के भाषा रूपों को भी अपने में संजोए हुए है।

उपयुक्त तीनों ग्रंथो की न्यूनाधिक अन्तर के साथ भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ अंकित की जा सकती है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा जहा अवधी भाषा के पुराने रूप का नमूना कही जा सकती है वहाँ शेष दोनों ग्रन्थ अधिक पूर्व तक भाषाओ के तत्त्वो को भी अपने म लिए हुए हैं। सम्भवत इसीलिए श्री नामवर सिंह न इस मध्यदेशीय भाषाओ का पूर्वरूप कहा है।

ध्वनितत्त्व—(१) अउ और ओउ के स्थान पर 'औ तथा अइ और अइ क स्थान पर ऐ मिलते है—

करोतु>करउ>करो (कीर्तिलता १७७), रक्षति>रक्खइ>राख (अर्जुन राख राउ—कीर्तिलता ७६), भवति>भइ>भ (३ ८६)।

किन्तु उक्ति व्यक्ति प्रकरण म इनक स्थान पर अ' भी मिलता है—

करोति>करइ>कर पठति>पढइ>पढ° पर यह प्रयोग कीर्तिलता म भी उपलब्ध होते हैं—कथयति>कहइ>कह (२ ११७), इच्छति>चाहइ> चाह (२/१४७)।

(२) सरलीकरण हेतु द्वित्व व्यञ्जनो को हटाकर क्षतिपूरक दीर्घीकरण की प्रवृत्ति—भक्त>भत्त>भात, पक्व>पक्क>पाक।

(३) स्वर भक्ति के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं—

कृश>किरिस (३ १०८, की ल), वर्ष>वरिस (उ व्य प्र)[7], श्री>सिरि (की ल ३ ११८) आदर्श>आरिस (उ व्य प्र)[8]।

(४) अकारण सानुनासिकता की ओर रुझान—

करिअउ>करिअउँ (की ल १४१), गोचरिअउ>गोचरिअउँ (की ल ३ ८८४)।

(५) [illegible] का रूपान्तर 'प्ख या केवल 'प मिलता है—

प्रेक्षन्ते>पेप्खन्ते (की ल २ ५३), यक्षिणी>जापणी (की [illegible] २ १८६), लक्ष>लप (की ल ३ ७३)।

रूपतत्त्व—(१) निर्विभक्तिक प्रयोग पश्चिमी परवर्ती अपभ्रंश की अपेक्षा इन ग्रन्थो म अधिक मात्रा एव अधिक स्वच्छन्दता स हुए है—

जुआर—सओ (व र ३८)।

जुज्झ—देक्खह कारण (की ल १०६)।

(२) सम्बन्ध कारक मे कर' और क प्रयोग लक्षणीय हैं—

ताहि करी कुटिल कटा छटा (की ल), राज कर पुरुष (उ व्य प्र

---

6 हिन्दी के विकास म अपभ्रंश का योग-पृष्ठ ७६ से उद्धृत।

7 वही पृष्ठ ८०।

8 वही पृष्ठ ८०।

१९ ११), मध्याह्नें करी बेला (की ल), पड़बसी कर घर (उ व्य प्र २२ ३)।

(३) भूतकाल के लिए 'अल' प्रत्यय का प्रयोग इन ग्रन्थों की प्रमुख विशेषता है जो आज भी मगही मथिली भोजपुरी तथा बगला में प्रयुक्त होते हैं—

भमर पुष्पोद्देसे चलल (व र २६ ख)।

गए नेसर मारल (की ल २७)।

मायके पएर पखालल (व र)।

(४) सहायक क्रियाओं के प्रयोग का बाहुल्य—

होइते अछ (व र १३ क), करइते अछ (व र ३७ ख)।

तहां अछए मत्ति (की ल ३१३१)।

(५) भविष्यत्काल में स्स और 'ह' की अपेक्षा 'ब' का प्रयोग अधिकता से देखने को मिलता है।

पुराण देखब—धम करब (उ व्य प्र १२ १६ १७) कीर्तिलता में 'ब' वाले रूप की अपेक्षा 'स्स, ह' वाले रूपों की अधिकता है। डॉ शिवप्रसाद सिंह को केवल एक ही 'ब्वउ' अन्त वाला उदाहरण मिला है—हल करिब्वउ काह' (३ ५१)।

(७) पूर्वकालिक क्रियाओं में अन्य प्रत्ययों के साथ साथ 'इ' प्रत्यय भी देखने को मिलता है।

इसके अतिरिक्त चर्यापदों में बगला भाषा के प्राचीन रूप मिलते हैं। चर्यापदों को अवहट्ठ की सज्ञा देना कहाँ तक उचित है—यह विद्वानों के लिए विचारणीय विषय है। ज्ञानेश्वरी पुरानी मराठी का उत्कृष्टतम नमूना है जिसमें पश्चिमी परवर्ती अपभ्रंश के तत्त्व भी बहुतायत से पाये जाते हैं।

पृथक् पृथक पुस्तकों के भाषावैज्ञानिक अध्ययन के पश्चात् समग्र रूप में अवहट्ठ की निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती हैं—

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) द्वित्व की प्रवृत्ति का परित्याग कर उक्त व्यञ्जन की क्षतिपूर्ति करने हेतु पूर्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है—

ठक्कुर>ठाकुर (की ल २१०), कार्य>कज्ज>काज (की ल ३१३४) धर्म>धम्म>धाम (की ल २१०), कर्म>कम्म>काम, दृश्यम्>दिस्स>दीसइ (स रा ६८) मित्र>मित्त>मीत निश्वास> निस्सास>नीसास(स रा ८३), उच्छवास>उस्सास>ऊसास(स रा ६७)।

अवहट्ठ में उक्त नियम सर्वत्र लागू नहीं होता यथा—सर्व>सव्व>सव, सत्य>सच्च>सच।

(२) स्वरो के साथ साथ आने पर उनम सधि कर दी जाती है—

सहकार>सहआर>सहार स्वणकार>सुण्णआर>सुनार, अधकार> अधआर>अधार (की ल ४२०), मयूर>मउर>मोर मोर (स रा २१२), म्रियते>म्रिज्जइ>मीज, कारयते>करिज्जइ>करिज।

(३) अकारण अनुनासिकता ला आने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है—

उत्साह>उँच्छाह (की ल १२६), द्यूत>जुआँ (की ल २१४६) दुजन>दूजणँ (उक्तिव्य ४६६), गात्र>गँत्ते (प्रा पैङ्गलम ४३६३), कास्य>कास (की ल २१०१) ब्राह्मण>बमण (की ल २१२१)।

(४) 'य' तथा व श्रुति का आदेश न्यूनाधिक रूप में प्राय सभी अवहट्ठ के ग्रथों म उपलब्ध होता है। प्राकृतपैङ्गलम् म तथा सन्देश रासक म यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम मात्रा म मिलती हैं।

(५) 'म के स्थान पर 'व' का प्रयोग अवहट्ठ मे मिलता है जिनके अवशेष ब्रज और राजस्थानी मे अब भी मिल जाते हैं।

(६) ञ ध्वनि अभी तक विशेषकर कीर्तिलता म आदि मध्य और अन्त तीनो स्थानो पर मिलती है।

(७) अवहट्ठ के सभी ग्रन्थो म 'श, ष' के स्थान पर 'स मिलता है तथा प्रत्ययो म प्राप्त अपभ्रश की 'ह ध्वनि का लोप भी यहीं पर प्रारम्भ हो जाता है जो आगे चलकर ब्रज और अवधी के कुछ रूपो को छोडकर प्राय समाप्त हो गया।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) प्राय सभी कारकों म निर्विभक्तिक प्रयोग प्रारम्भ हो गए। कर्ता और कम मे यह प्रवृत्ति अधिक मात्रा मे पाई जाती है।

(२) अपभ्रश के विभक्ति प्रत्ययो का प्रयोग अभी प्रचलित था।

(३) अपभ्रश मे बताए गए परसर्गों के साथ साथ नवीन परसर्गों का प्रयोग स्वच्छन्दता के साथ किया जाने लगा था। नवीन परसर्गों म कुछ तो अपभ्रश के परसर्गों के रूपान्तर मात्र हैं और कुछ नवीन विकसित रूप, यथा—रा रे री, का के की ना ने नी, दा दे दी।

(४) सयुक्त पूवकालिक प्रत्ययो का प्रारम्भ—अपभ्रश मे इ इवि आदि प्रत्ययो का जो विधान है उसके स्थान पर कर या करि' आदि शब्दो का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था जो आजकल खडी बोली हिन्दी की प्रमुख विशेषता है।

(५) सयुक्त कालो का प्रारम्भ भी अवहट्ठ भाषा की विशेषता है। 'भू और अस धातुओ के घिसे हुए रूपो का प्रयोग मूल क्रिया शब्द के साथ किया जाने लगा। बाद म 'नभाखा' की यह प्रमुख विशेषता बन गया।

(६) भूतकाल में 'ल', भविष्यत् में गा गे गी (बाद में विकसित) के स्थान पर स और ह' परक तथा 'ब' परक प्रत्ययों का प्रयोग।

कोष—(१) मुसलमानों के आगमन के कारण फारसी शब्दों का प्रवेश।

(२) हिन्दू पुनर्जागरण के कारण तत्सम शब्दावली का बाहुल्य।

अवहट्ठ भाषा वस्तुतः संक्रान्ति काल की साहित्यिक भाषा थी। जिस समय यह परिनिष्ठित रूप धारण कर रही थी उसी समय से ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएं बड़ी तेजी से अपना साज सँवार कर रही थीं और चौदहवीं सदी के प्रारम्भ होते होते सभी नभाआ की भाषाओं ने अपना अपना स्वरूप निर्धारित कर लिया था। इस प्रकार इनकी ध्वनिगत एवं रूपगत विशेषताओं के कारण 'अवहट्ठ' से भिन्न भाषाओं के रूप में इन्हें स्वीकृति प्रदान कर दी गई। कुछेक क्षेत्रों में ये परस्पर समान होते हुए कुछ ऐसी भिन्नताएँ सजोए हुए हैं कि ये भिन्न भिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने की पूर्ण क्षमता रखती हैं।

## अवहट्ठ और पुरानी हिन्दी

अवहट्ठ का स्वरूप विवेचन करते समय यह स्पष्ट कर दिया गया था कि उस समय के लोगों का इस शब्द का प्रयोग करने का अभिप्राय अपभ्रंश से भिन्न किसी भाषा विशेष के लिए नहीं था। अतः जैसे ही परवर्ती अपभ्रंश के ग्रन्थों की उपलब्धि हुई विद्वानों ने उन ग्रन्थों की भाषा को भिन्न भिन्न नाम देने प्रारम्भ किए। सर्वप्रथम डा॰ बाबूराम सक्सेना ने कीर्तिलता की भूमिका में उसकी भाषा को मिथिलापभ्रंश की संज्ञा दी है। बाद में डा॰ उमेश मिश्र एवं डा॰ जयकान्त मिश्र ने भी इसे मिथिलापभ्रंश की ही संज्ञा दी और स्व॰ पं॰ शिवनन्दन ठाकुर ने तो अनेक तथ्यों के आधार पर इसे मिथिलापभ्रंश सिद्ध करने का अत्यधिक प्रयत्न किया। इनका कहना है कि लोचन कवि ने राज तरंगिणी में विद्यापति की भाषा को मिथिलापभ्रंश कहा है। यथा—

देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथमं मिथिलापभ्रंशभाषाया श्री विद्यापति निबद्धास्ता मथिलीगीत गतयः प्रदश्यन्ते।

किन्तु उक्त पंक्तियों से कीर्तिलता की भाषा का आभास न होकर उसकी पदावली का संकेत मिलता है जिसे आजकल के विद्वान् भी स्वीकार करते हैं कि पदावली और कीर्तिलता की भाषाएँ भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भाषावैज्ञानिक तथ्य भी जो ठाकुर साहब ने प्रस्तुत किए पक्षपात के ही सूचक █। कीर्तिलता की भाषा में जितने तत्त्व पूर्वी प्रदेशों की भाषाओं के उपलब्ध होते हैं उनसे कहीं अधिक पश्चिमी प्रदेशों की भाषाओं के प्रारम्भिक लक्षण भी उसमें प्राप्त होते हैं। अतः कीर्तिलता की भाषा को मिथिलापभ्रंश कहना उचित नहीं और यही स्थिति वर्णरत्नाकर की भाषा की भी है।

डॉ॰ चाटुर्ज्या ने अवहट्ठ को पिङ्गल भी कहा है। आपने लिखा है रासकर

राजस्थान मे अवहट्ठ पिङ्गल नाम से प्रख्यात था और स्थानीय चारण समान रूप से इस पिङ्गल और अपनी देशी भाषा डिङ्गल में रचनाएँ करते थे।[9] डाक्टर साहब के मत का आधार सम्भवत प्राकृतपैङ्गलम के टीकाकारो द्वारा अवहट्ठ एव पिङ्गल का पर्याय रूप मे प्रयोग करना है। यदि प्राकृतपैङ्गलम की भाषा का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि उसकी भाषा मे अनेक स्थानो पर पूर्वी प्रदेशो की भाषागत विशेषताओ का भी प्रयोग किया गया है। साथ ही यदि 'पिङ्गल' से तात्पर्य शुद्ध पुरानी ब्रजभाषा है तो कुछ सोचा जा सकता है किन्तु यदि राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है तो अवहट्ठ कदापि पिङ्गल का पर्यायवाची नही हो सकती।

अवहट्ठ से केवल पुरानी राजस्थानी या गुजराती अर्थ लेना भी उचित नही जिसे श्री टैसिटरी लेकर चलते हैं तथा ढोलामारू रा दूहा के सम्पादको ने भी ऐसा माना है। किन्तु यह मत भी उसी प्रकार दोषग्रस्त है जिस प्रकार श्री राहुल साकृत्यायन का इसे मगही तक सीमित कर देना या अन्य विद्वानो द्वारा अपने मतलब की सामग्री का चयन कर उसे किसी प्रान्त विशेष तक सीमित कर देना।

इस विषय पर सबसे अधिक विचारणीय मत थी चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का है जिसमे इन्होने अवहट्ठ को पुरानी हिन्दी कहा है—पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है पिछली पुरानी हिन्दी से।[10] श्री गुलेरीजी का पुरानी हिन्दी से क्या तात्पर्य था कुछ स्पष्ट नही है। यदि व हिन्दी को श्री साकृत्यायन की तरह भौगोलिक सीमाओं मे बांधकर चलते हैं, यथा—'सूबा हिन्दुस्तान हिमालय पहाड तथा पजाबी, सिन्धी गुजराती मराठी तैलगु ओडिया बगला भाषाओ स घिरे प्रदेश की आठवी शताब्दी की बाद की भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूप को प्राचीन मगही, मैथिली ब्रजभाषा आदि कहते हैं और आजकल के रूप को सार्वदेशिक और स्थानीय दो भागो मे विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक रूप का खड़ी बोली और मगही, मथिली भोजपुरी, बनारसी अवधी आदि को आधुनिक स्थानीय भाषाएँ कहते है।[11] तो निश्चय ही अवहट्ठ को पुरानी हिन्दी नही कहा जा सकता। कारण स्पष्ट है कि परवर्ती अपभ्रंश के जो ग्रन्थ अब तक मिले हैं वे न्यूनाधिक रूप मे प्राय समस्त प्रान्तीय भाषाओ के तत्वों से सवलित हैं। अत उन्हें किसी

---

[9] बगला भाषा का उद्भव और विकास पृष्ठ ११४, कीर्तिलता और अवहट्ठ पृष्ठ १२ से उद्धृत।

[10] पुरानी हिन्दी—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।

[11] प्राकृतपैङ्गलम—डॉ० भोलाशकर व्यास।

प्रान्त विशेष तक सीमित नहीं किया जा सकता। तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी अपभ्रंश उस समय समग्र भारत की साहित्यिक भाषा थी जो अपनी समीपी सभी विभाषाओं के तत्वों को भी ग्रहण किए हुए थी तथा इन तत्वों को ग्रहण करने में परवर्ती अपभ्रंश ने और भी अधिक स्वच्छन्दता का परिचय दिया। अतः ऐसी स्थिति में परवर्ती अपभ्रंश में जो ग्रन्थ अब तक उपलब्ध हुए हैं उनकी भाषाओं को भिन्न भिन्न प्रान्तीय नामों से न पुकार कर यदि एक ही नाम से सम्बोधित किया जाए तो यह अधिक भाषावैज्ञानिक और अधिक राष्ट्रीय होगा और यह नाम अवहट्ठ से अधिक उपयुक्त अन्य कोई नहीं हो सकता।

मेरे द्वारा उक्त ग्रन्थों की ध्वनियों एवं पद रचना का किया गया विश्लेषण उन विशेषताओं के आधिक्य पर ही आधारित है। साथ ही सन्देश रासक, उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, प्राकृतपैङ्गलम्, वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता, चर्यापद एवं ज्ञानेश्वरी की अनेक निजी विशेषताएं परस्पर एक-दूसरे ग्रन्थ में सरलता से खोजी जा सकती हैं। अतः विशेषताओं के बाहुल्य के आधार पर किसी ग्रन्थ विशेष को किसी क्षेत्र विशेष के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। अध्ययन की सुविधा के लिए यदि यह वर्गीकरण किया जाता है तो कोई हानि नहीं किन्तु उसे वहीं के लिए ही सीमित कर देना किसी भी मात्रा में उचित नहीं है। यदि भाषावैज्ञानिक इन ग्रन्थों के आधार पर एक अच्छा सा सामान्य व्याकरण तैयार कर सकें तो वे अपनी भाषाओं की ही नहीं अपितु राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकेंगे, अपेक्षाकृत इसके कि वे इसे प्रान्त विशेष की भाषा सिद्ध करने में अपनी प्रतिभा एवं शक्ति का अपव्यय करें।

अष्टम अध्याय

# नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ

क्रान्तिकारी परिवर्तन—अनेक बोलियों, विभाषाओं एवं भाषाओं का उद्भव—अवहट्ट का अनेक बोलियों में विकास—सिन्धी—लहन्दा—पंजाबी—मराठी—गुजराती—राजस्थानी—बिहारी—बंगला—असमी—उड़िया—पश्चिमी हिन्दी—पूर्वी हिन्दी—नेपाली—पहाड़ी—सिंहली।

विद्वानों में अपनी बोलियों के प्रति मोह जागृत होता जा रहा था। परिणाम स्वरूप चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य अनेक नव्य भारतीय आर्य भाषाएँ प्रकाश में आ गई जिनमें अनेक साहित्यकार उन्हें विकासमान बनाने में दत्तचित दिखाई दिए। विद्वान् अनवरत प्रयत्न एवं अनुसंधानों के पश्चात एक सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचे कि इस काल में निम्नलिखित बोलियाँ भाषाओं का रूप धारण कर चुकी थीं और उनमें तीव्र गति से साहित्य का सृजन भी हो रहा था। वे हैं—पश्चिमी हिन्दी राजस्थानी गुजराती, पंजाबी, पहाड़ी भाषाएँ लहन्दा, सिन्धी पूर्वी हिन्दी मराठी, बंगला असमी, उड़िया बिहारी आदि।

नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में पर्याप्त साम्य वैषम्य है। अतः इन्हीं आधारों पर विद्वानों ने इन भाषाओं को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया। सर्वप्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण बहिरंग और अन्तरंग सिद्धान्त के आधार पर किया। जार्ज ग्रियर्सन तथा अन्य पाश्चात्य इतिहासकारों का मत यह है कि भारत में आर्यों का प्रवेश दो बार दो भिन्न भिन्न दलों में हुआ। अतः पहले आया हुआ दल जब सप्तसिन्धु प्रदेश से लेकर मगध तक फैल चुका था, तब इस जाति के दूसरे दल ने प्रवेश किया और इन नवागत आर्यों ने पूर्वागत आर्यों को उनके प्रदेश से बहिष्कृत कर दिया और स्वयं मध्य देश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। ये नवागत आर्य भी अपने साथ एक भाषा लेकर आये थे वह यद्यपि पूर्वागत आर्यों की भाषा से भिन्न तो नहीं थी पर कुछ विकास के चिह्नों से संवलित होने के कारण अपना पृथकत्व भी रखती थी। अतः नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में से कुछ का सम्बन्ध पूर्वागत आर्यों की भाषा से है जो मध्य देश के चारों ओर फैली हुई हैं और कुछ का सम्बन्ध नवागत आर्यों की भाषा से है जो मध्य देश और उसके आस पास के प्रदेशों में फैली हुई है। अपने मत की पुष्टि के हेतु ग्रियर्सन महोदय ने कुछ भाषावैज्ञानिक तर्क भी प्रस्तुत किये हैं—

(१) नव्य भारतीय आर्यभाषाओं को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) अन्तरंग (२) बहिरंग। एक विभाग वह भी है जो इन दोनों की विशेषताओं से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित है इसे बीच का समुदाय की संज्ञा दी गई है।

विभाजन के आधारभूत तत्त्व—(१) बहिरंग शाखा की उत्तर पश्चिमी तथा पूर्वी शाखा की बोलियों में अन्तिम स्वर इ, उ ए वर्तमान हैं किन्तु अन्तरंग की पश्चिमी हिन्दी उपशाखा में ये स्वर लुप्त हो गए हैं, यथा—

| संस्कृत | का | सिन्धी | बिहारी | हिन्दी |
|---|---|---|---|---|
| अक्षि | अछि | अखि | आँखि | आँख |

(२) बहिरंग की शाखाओं, विशेषकर बंगला, में 'इ का ए' तथा 'उ को ओ' हो जाता है तथा बहिरंग की पूर्वी उपशाखा में 'उ' के स्थान पर 'इ' मिलता है।

(३) बहिरंग भाषाओं में 'ऐ तथा औ' के स्थान पर 'ए और ओ' मिलते हैं।

(४) बहिरंग भाषाओं में तथा अंतरंग भाषाओं में 'र ल' तथा 'ड ड़' की उच्चारण भिन्नता उनके पृथक्त्व का सूचक है।

(५) पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओं में 'द' तथा 'ड' परस्पर परिवर्तित हुए हैं किन्तु मध्यदेशीय भाषाओं में ऐसा परिवर्तन नहीं देखा जाता है।

(६) बहिरंग शाखा की भाषाओं में 'म्ब' 'म' में परिवर्तित होता है जबकि अंतरंग शाखा की भाषाओं में यह 'ब' हो जाता है।

(७) बहिरंग शाखा की भाषाओं में स्वर मध्यस्थ 'स' के स्थान पर 'ह' का आदेश हो जाता है।

(८) महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण वर्णों में परिवर्तित हो जाने के आधार पर भी अंतरंग और बहिरंग विभाजन किया जा सकता है। बहिरंग शाखा में इस प्रकार का परिवर्तन उपलब्ध होता है जबकि पश्चिमी हिन्दी में यह प्राप्त नहीं होता।

रूपतत्त्व—(१) स्त्री प्रत्यय के रूप में 'ई' बहिरंग शाखा की पश्चिमी एवं पूर्वी दोनों भाषाओं में मिलती है।

(२) बहिरंग शाखा की भाषाएँ पुनः श्लिष्टावस्था में प्रविष्ट हो रही हैं जबकि अंतरंग शाखा की भाषाएँ विश्लेषावस्था में हैं।

(३) बहिरंग शाखा की भाषाओं में योरोपीय से आगत विशेषणीय प्रत्यय 'ल' वर्तमान है, किन्तु मध्य देश की भाषाओं तथा बोलियों में इसका अभाव है।

(४) बहिरंग शाखा की भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं के साधारण रूपों से ही उसका वचन और पुरुष मालूम हो जाता है जबकि अंतरंग शाखा की भाषाओं में क्रिया का यह रूप सर्वत्र समान रहता है—

| | | |
|---|---|---|
| हिन्दी—मैं गया | तू गया | वह गया |
| मराठी—गेलो | गेला | |

उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए श्री ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का बहिरंग, अंतरंग तथा मध्यदेशीय विभागों में जो विभाजन किया है वह निम्न प्रकार से है—

बहिरंग शाखा—

(क) पश्चिमोत्तरी समुदाय

(१) सिन्धी

(२) लहन्दा

(ख) दक्षिणी समुदाय
(१) मराठी
(ग) पूर्वी समुदाय
(१) उड़िया
(२) बिहारी
(३) बगला
(४) असमिया
मध्यदेशीय शाखा—
(घ) बीच का समुदाय
(१) पूर्वी हि ी
अ तरग शाखा—
(ङ) केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय
(१) पश्चिमी हिन्दी
(२) पजाबी
(३) गुजराती
(४) भीली
(५) खानदेशी
(६) राजस्थानी
(च) पहाड़ी समुदाय
(१) पूर्वी पहाड़ा अथवा नपाली
(२) मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी
(३) पश्चिमी पहाड़ी

उपयुक्त रूप म किया गया यह वर्गीकरण विशुद्ध भाषावनानिक तथ्यो पर आधारित न होन के कारण विद्वानो द्वारा इसका विरोध प्रारम्भ हुआ। डा सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने श्री ग्रियसन द्वारा दिए गए कारणो को आधार हीन, गम्भीर अध्ययन शून्य तथा सूक्ष्म विश्लेषण की प्रणाली से रहित बताया है और इनके एक एक कारण को लेकर उनकी अशुद्धताओ एव दुबलताओ का विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है जिसे बाद म स्वय डॉ ग्रियसन ने भी स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त डा चाटुर्ज्या का एक यह भी तक है कि सुदूर पश्चिम की भाषा को सुदूर पूव की भाषा के साथ एक समुदाय मे रखना किसी भी प्रकार से उचित नही है। अत डा चाटुर्ज्या ने नव्य भारतीय आयभाषाओ का अपने दृष्टिकोण से वर्गीकरण किया जिसे विद्वानो ने बडे आदर से स्वीकार किया और आजतक यही वर्गीकरण एक वैज्ञानिक वर्गीकरण के रूप मे स्वीकृत है।

(क) उदीच्य (उत्तरी) भाषाएँ
(१) सिन्धी
(२) लहन्दा
(३) पजाबी
(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) भाषाएँ
(१) गुजराती
(२) राजस्थानी
(ग) मध्यदेशीय भाषा
(१) पश्चिमी हिन्दी
(घ) प्राच्य भाषाएँ (पूर्वी)
(१) पूर्वी हिन्दी
(२) बिहारी
(३) उडिया
(४) बगला
(५) असमिया
(ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी) भाषाएँ
(१) मराठी

**नोट**—कश्मीरी तथा पहाडी भाषाओ की उत्पत्ति दरद भाषाओ से मानी जाती है।

नव्य भारतीय आर्य भाषाओ की सामान्य प्रवृत्तियाँ—

**ध्वन्यात्मक विशेषताएं**—(१) नव्य भारतीय आर्य भाषाओ म प्राय वे सभी ध्वनियाँ मिलती हैं जो अपभ्रश म प्रचलित थी। पश्चिम मे ऐ ध्वनि का उच्चारण अै' वत् होता है तो मराठी मे इसका शुद्ध उच्चारण मिलता है। अ के उच्चारण म भी पूव और पश्चिम की भाषाओ म अन्तर दृष्टिगत होता है। यथा—बगला असमिया तथा उडिया म यह वर्त्तोष्ठ निम्न-मध्य पश्च स्वर है परन्तु मराठी मे विस्तृतोष्ठ उच्च मध्य पश्च स्वर है। इसके अतिरिक्त आग्ल भाषा के O' के सही उच्चारण हेतु 'ऑ ध्वनि का नवीन प्रवेश हुआ। जहाँ तक व्यञ्जन ध्वनियो का सम्बन्ध है प्राचीन ध्वनियों के साथ साथ क, ख, ग ज, फ जैसी नवीन ध्वनियाँ विदेशी शब्दो के उच्चारण हेतु आविष्कृत की गई।

(२) डॉ चाटुर्ज्या के मतानुसार भारतीय परिवार की भाषाओ को महाप्राण ध्वनियो के अघोषीकरण एव सघोषीकरण के आधार पर तथा 'ह के शुद्ध सघोष उच्चारण एव अघोषवत् उच्चारण और ह लोप के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है।

(३) एक या दो भाषाओं को छोड़कर नव्य भारतीय आर्यभाषाओं म अपभ्रंश की द्वित्व शैली का सरलीकरण पाया जाता है तथा द्वित्व को हटाकर उसके पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूरक के रूप म दीर्घ कर लिया जाता है—

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| कर्म | कम्म | काम, | कार्य | कज्ज | काज |
| अद्य | अज्ज | आज | घर्म | घम्म | घाम |
| धर्म | धम्म | धाम | चर्म | चम्म | चाम |

इसके अपवाद भी देखने को मिलते हैं, यथा—सत्य सच्च का साच होना चाहिये था किन्तु सच' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। ग्रामीण लोग अब भी 'साँच शब्द का ही प्रयोग करते देखे जाते हैं। इसी प्रकार पक्व' के तीन रूप मिलते हैं पक्का पाक, पका, पर तीनों ही भिन्नार्थक एवं भिन्न प्रदेशीय हैं।

(४) संस्कृत के विसर्गों का 'ओ जो पालि से लेकर अपभ्रंश तक चलता रहा वह नव्य भारतीय आर्यभाषाओं म तीन चार रूपों म मिलता है—राजस्थानी—ओ, ब्रज—औ खड़ी बोली तथा पंजाबी—आ एवं भोजपुरी बंगला आदि 'अ यथा घोटक>घोडओ>घोडो (राज) घोड़ौ (ब्रज) घोड़ घोर (अवधी भोजपुरी>मैथिली)।

(५) स्थान विपर्यय के भी उदाहरण नव्य भारतीय आर्यभाषाओं म देखने को मिलते हैं। कार्य का केर इसका अच्छा उदाहरण है। विदेशी भाषा के शब्दों मे यह नियम अधिक सक्रिय है, सिग्नल>सिगल हास्पिटल> अस्पताल।

(६) स्वरभक्ति का प्रारम्भ हमे उक्ति व्यक्ति प्रकरण एवं कीर्तिलता की भाषा अवहट्ठ म मिलता है। इसका विकास नभाआ म हुआ। पंजाबी भाषा तो इसके लिए प्रसिद्ध ही है। भक्त>भगत स्कूल>सकूल, इन्द्र>इन्दर कृष्ण>किशन रत्न>रतन।

(७) एक आश्चर्यजनक ध्वन्यात्मक विकास जो हिन्दी म विशेष रूप से लक्षित किया जा सकता है, वह है उच्चारण म अकारान्त शब्दों के अन्त्य अकार का लोप—लिखा जाता है—राम और बोला जाता है राम्, इसी प्रकार काम—काम् चल चल् पढ पढ्। शब्द के मध्य 'अ के लोप के चिह्न भी उच्चारण मे प्रारम्भ हो गए हैं यथा—सफलता सफल्ता जनता—जन्ता करता कर्ता गिनती गिन्ती आदि।

रूपतत्त्व—नव्य भारतीय आर्यभाषाओं ने ध्वनि की अपेक्षा रूप के क्षेत्र म अधिक विकास का परिचय दिया है। विकास के क्षेत्र मे क्षय के जो चिह्न मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं मे देखने को मिलते है, वे नभाआ मे अपने चरम पर पहुँचे हुए हैं। विभक्ति प्रत्यय जो अपभ्रंश मे अवशिष्ट थे,

वे भी घिस गए तिङन्त प्रत्ययों का भी यही हाल हुआ। परसर्गों की संख्या बढ़ने लगी। इस प्रकार बहुमुखी प्रवृत्तियों के दर्शन पद रचना के क्षेत्र में होते हैं—

(१) प्रायः समस्त नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में सभी कारकों में निर्विभक्तिक प्रयोग प्रारम्भ हो गए। परिणामस्वरूप भाषाएँ विश्लिष्टावस्था में आ उपस्थित हुईं। सर्वनाम शब्दों की षष्ठी विभक्ति में केवल सुबन्त प्रत्ययों के दर्शन होते हैं। हमारा नाम, पधारो (राज), थमी जाओ (बाबा), आदि प्रयोग निर्विभक्तिक हैं।

(२) विभक्ति प्रत्ययों के स्थान पर परसर्गों का प्रयोग धड़ल्ले के साथ होने लगा। इनमें भी कर्म परसर्ग और सम्बन्ध परसर्ग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'ने' कर्म परसर्ग राजस्थानी और गुजराती की अपनी विशेषता है तो 'नूँ' पंजाबी और सिन्धी की, तथा 'को' पश्चिमी हिन्दी की। इसी प्रकार 'रा, रो, री' राजस्थानी के सम्बन्ध कारक हैं तो 'दा दे दी' पंजाबी के, 'चा चे ची' मराठी के 'का के की' पश्चिमी हिन्दी के, 'क' मैथिली एवं भोजपुरी केर पूर्वी हिन्दी एवं 'एर' पूर्वी भाषाओं की विशेषता है।

(३) कारक रूप जो प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं में संख्या में २४ थे, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा में घिस कर ५/६ रह गए। जबकि नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में केवल दो ही रह गए—१ ऋजु, २ तिर्यक। यद्यपि कुछ रूपों में यह संख्या संस्कृत में घटने लग गई थी, पर अब यह अपनी पूर्णता पर है। लिङ्ग विधान जो जैसे तैसे करता हुआ अपभ्रंश तक तीन रूपों में ही—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग—चला आ रहा था। अब केवल गुजराती एवं मराठी को छोड़कर दो भेदों—पुल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग—में ही सीमित हो गया।

(५) नभाआ की भाषाओं में वियोगात्मकता आ जाने के कारण वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित हो गया। पहले कर्ता, फिर कर्म तत्पश्चात क्रिया। विशेषण का प्रयोग विशेष्य से पूर्व तथा क्रिया विशेषण का प्रयोग क्रिया से पूर्व किया जाने लगा।

(६) क्रिया रूपों में यह विकास अधिक सक्रिय दिखाई देता है। तिङन्त प्रत्ययों में केवल लट् लकार के दर्शन होते हैं। इसके दो रूप हैं—एक 'स' साधित जो पश्चिमी राजस्थानी में अब तक वर्तमान है, दूसरा 'ह' साधित जिसे पूर्वी हिन्दी में लक्षित किया जा सकता है। शेष भाषाओं में कुछ एक स्थलों को छोड़कर या तो 'गा गे गी' सहायक क्रियाओं से निष्पन्न किए जाते हैं अथवा 'त' न्य कृदन्त प्रत्यय का आश्रय लेकर या कुछ भाषाओं में 'ल' प्रत्ययान्त भविष्यत् काल के भी दर्शन होते हैं। पूर्वी राजस्थानी में 'ला ले लो' सहायक

प्रत्ययों को भी देखा जाता है। शेष कालों की व्युत्पत्ति 'कृदन्त' रूपों के साथ सहायक क्रियाओं, 'था थे थी', 'है हूँ हैं', 'छा छे छी', आदि के योग से निष्पन्न की जाती हैं। भूतकाल में कर्मणि प्रयोग में केवल 'कृदन्त' रूप ही प्राय देखा जाता है। कृदन्त प्रयोगों के प्रति आकर्षण उत्तरकालीन संस्कृत से ही प्रारम्भ हो गया था। पूर्वी भाषाओं का भूतकाल के लिए प्रयुक्त 'अल' प्रत्यय इनका अपना स्वतन्त्र विकास कहा जा सकता है।

(७) नव्य भारतीय आर्यभाषाओं ने संस्कृत उपसर्ग एवं प्रत्ययों के साथ साथ नवीन प्रत्ययों एवं उपसर्गों का विकास किया। साथ ही विदेशी उपसर्गों एवं प्रत्ययों का भी पूरा पूरा उपयोग किया। जहाँ दयालु बनाया वहाँ फारसी उपसर्ग की सहायता से घरेलू, पहलू जैसे शब्दों का निर्माण भी हुआ।

(८) बहुवचन में लोग वर्ग गण, वृन्द जैसे शब्दों का प्रयोग प्राय समस्त नभाआ भाषाओं में न्यूनाधिक रूप से देखा जा सकता है।

(९) नव्य भारतीय आर्यपरिवार की भाषाओं में प्राय चार प्रकार के शब्द देखने को मिलते हैं—१ तत्सम २ तद्भव ३ देशज ४ विदेशज।

कुछ तद्भव शब्दों का प्रान्तानुसार भिन्न भिन्न अर्थ बोध होने लगा। यथा—'स्थान का तद्भव ठाण' तथा थान। राजस्थान में प्रथम का अर्थ स्थान और द्वितीय का पवित्र स्थान। इसी प्रकार हरियाणा प्रदेश में प्रथम के लिए पशुओं के बाँधने का स्थान द्वितीय का सामान्य स्थान तथा पवित्र स्थान अर्थ लिया जाने लगा। गल्प बंगला में कथा साहित्य और इसके तद्भव गप्प का राजस्थान में झूठा अर्थ लेते हैं।

## नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का परिचय

**सिन्धी**

यह सिन्ध प्रदेश की भाषा है। इसका सम्बन्ध व्राचड अपभ्रंश से साथ जोड़ा जाता है किन्तु विद्वान् अभी व्राचड अपभ्रंश का उद्गम नहीं खोज पाये हैं। यह सिन्ध प्रदेश में जो अब पाकिस्तान में है बोली जाती है। इस भाषा के बोलने वाले अधिकांश हिन्दू भारत में आ गए हैं जो बम्बई दिल्ली और राजस्थान में अधिकांशत बस गए हैं। १९६१ की जनगणना के अनुसार इस भाषा के बोलने वालों की संख्या बीस लाख है। अब इसे संविधान में स्वीकृत भारतीय भाषाओं की सूची में स्थान दे दिया गया है।

सीमाएँ—सिन्धी भाषा के एक ओर गुजराती दूसरी ओर मराठी और एक ओर लहन्दा भाषा बोली जाती है। आठवीं शताब्दी के पश्चात् सिन्ध और मुलतान के एक प्रान्त हो जाने के कारण इनकी भाषाएँ—सिन्धी और लहन्दा—आपस में एक दूसरी से प्रभाव ग्रहण करती रही हैं।

*बोलियाँ—सिन्धी भाषा की तीन बोलियाँ प्रमुख हैं—प्रथम सिराकी जो*

सिंध के ऊपरी भाग में बोली जाती है। द्वितीय, लाड़ या लाट जो इसके नीचे के प्रदेश की बोली है। तृतीय विचोली जो इसके मध्य भाग में बोली जाती है। विचोली बोली सिंध की सामान्य एवं साहित्यिक भाषा है। गुजरात और सिंधी के बीच कच्छ प्रायद्वीप की बोली कच्छी है जो गुजराती और सिंधी की मिश्रित भाषा है। सिंधी में कोई उत्कृष्ट कोटि का साहित्य तो नहीं लिखा गया, पर जो कुछ मिलता है उसमें शाह लतीफ का 'रिसालो' लोकप्रिय काव्य है। अठारहवीं शताब्दी में हुए अब्दुल शाह मखदूम मुहम्मद उमान का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सिंधी लिपि अरबी के आधार पर बनाई गई थी, किन्तु विभाजन के पश्चात् सिंधी भाषियों ने देवनागरी लिपि को ही अपना लिया है। मुसलमानों का आधिक्य होने के कारण भाषा में अरबी, फारसी के शब्दों की अधिकता है।

भाषागत विशेषताएँ—सिंधी भाषा में समस्त शब्द स्वरान्त हैं। ग ज ड ब अतिरिक्त ध्वनियाँ हैं। इनका उच्चारण स्वर तन्त्रियों का कपाट सवार कर एक विशेष प्रकार से किया जाता है। द के स्थान पर ड उच्चारण पाया जाता है, यथा—दस>दस>डह। स को ह का आदेश भी सिंधी भाषा की विशेषता है। पदान्त अ का उच्चारण स्पष्ट रूप से पाया जाता है। ध्वनियों का उच्चारण एवं तद्भव शब्दावली संस्कृत के काफी समीप है। ड प्रत्यय का प्रयोग भी सिंधी में पाया जाता है, यथा—हँकड़ो टुकड़ो इत्यादि। ड के स्थान पर ब पाया जाता है। क वर्ग के स्थान पर च वर्ग के प्रयोग के उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं यथा—आदरार्थ अचो', आओ के अर्थ में आ+गम् धातु का ही विकसित रूप है। नाम शब्द के लिए नालो का प्रयोग भी लक्षणीय है।

रूप तत्त्व—सिंधी में दो ही लिङ्ग और दो ही वचन पाये जाते हैं। सिंधी की पुल्लिङ्ग संज्ञाएँ प्रायः उकारान्त एवं ओकारान्त तथा स्त्रीलिङ्ग संज्ञाएँ प्रायः अकारान्त एवं आकारान्त हैं। कर्म में के और अधिकरण में मों परसर्ग हिंदी (अवधी) से मिलते जुलते हैं तो सम्बन्ध कारक में जो जो जी का प्रयोग किया जाता है यथा—शाहजी रिसालो। सिंधी में वर्तमान में द' अन्त क्रिया का प्रयोग होता है और भूतकाल में पूर्वी भाषाओं के समान 'ल' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। भविष्यत् काल में स, साम प्रत्ययों का प्रयोग होता है। क्रियार्थक संज्ञा के लिए णु' प्रत्यय का प्रयोग उल्लेखनीय है यथा—चलण् हलणु (चलने के अर्थ में) पिटणु आदि।

**लहंदा**

यह पश्चिमी पंजाब में बोली जाती है। इसी से इसे 'लहंदे (सूर्यास्त) दी बोली' कहा जाता है। पंजाब का यह भाग अब पाकिस्तान में चला गया है।

इसके बोलने वालों की संख्या एक करोड़ के लगभग है। मुसलमान और हिन्दू समान रूप से इस भाषा का प्रयोग दैनिक कार्य-कलापों के लिए करते हैं। इसका उद्भव कैकय अपभ्रंश से माना जाता है।

सीमाएँ—लाहौर और स्यालकोट के जिलों को छोड़कर प्रायः समस्त पश्चिमी पंजाब में बोली जाती है। इसके एक ओर पश्तो और सिंधी बोली जाती है। एक ओर पूर्वी पंजाबी और कश्मीरी तथा एक ओर राजस्थानी बोली जाती है।

बोलियाँ और साहित्य—मुलतानी, डेरावाली, पोठावारी तथा अवाणकारी इसकी प्रमुख बोलियाँ हैं जिनमें मुलतानी बोली सामान्यतः साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। मुलतानी का साहित्य चौदहवीं शताब्दी से मिलना प्रारम्भ हो जाता है। मुसलमान फकीरों का प्रारम्भ से निवास-स्थान रहने के कारण अधिकांश साहित्य उन फकीरों का लिखा हुआ ही उपलब्ध होता है। फरीद, वारिस शाह, अहमद यार तथा कादर यार आदि लेखकों के साथ-साथ नानक का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाद में पंजाबी भाषा के सामने इसने घुटने टेक दिए और पंजाबी भाषा को ही इन्होंने भी साहित्य के लिए स्वीकार कर लिया। डा० हरदेव बाहरी के मतानुसार लहन्दा कोई स्वतन्त्र भाषा न होकर पंजाबी की ही एक उपभाषा है।[1]

भाषागत विशेषताएँ—पंजाबी की प्रायः सभी ध्वनियाँ इसमें मिलती हैं। महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण स्पष्ट एवं शुद्ध होता है। भारतीय भाषाओं में सब से अधिक कर्कश एवं परुष भाषा है। द्वित्व प्रणाली ज्यों की त्यों बनी हुई है।

लहन्दा की कुछ बोलियों में ल ध्वनि भी उपलब्ध होती है। पंजाबी (लहन्दा) में म व ध्वनियाँ पदादि में सुरक्षित मिलती हैं। मध्यदेशीय भाषाओं के समान 'ज और उ' में परिवर्तित नहीं होतीं, यथा—वेल>वेल वत>वट्ट>बाँट (हिन्दी) वंड (लहन्दा)। अल्पप्राण अघोष वर्ण अल्पप्राण सघोष में परिवर्तित पाया जाता है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है। 'ह' ध्वनि विवृत अघोषवत् उच्चरित होती है।

रूप तत्त्व—लिङ्ग और वचन दो दो ही हैं—स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग, एक वचन और बहुवचन। कारक परसर्ग पंजाबी के समान हैं। कर्म कारक में 'नूं' परसर्ग और सम्बन्धकारक में 'दा दे दी' परसर्गों का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान काल में 'ता' के स्थान पर 'दा' का प्रयोग पंजाबी के अनुरूप है। भविष्यत् काल में राजस्थानी की तरह 'स' परक रूप दृष्टिगत होते हैं।

---

1 डा० हरदेव बाहरी—हिन्दी उद्भव विकास और रूप पृष्ठ ४६।

क्रियाओं के द्वारा सर्वनाम उत्तम पुरुष का बोध हो जाना सिंधी के प्रभाव को सूचित करता है। गुरुमुखी और फारसी लिपियों का प्रयोग समान रूप से पाया जाता है।

**पंजाबी**

यह भारत के आधुनिक पंजाब प्रांत की भाषा है। महाराजा रणजीतसिंह के शासन काल के पश्चात् इस भाषा ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। हरियाणा प्रान्त पृथक बन जाने के पश्चात् यह प्रांत विशुद्ध पंजाबी भाषा भाषी प्रांत बन गया है। इसका उद्गम टक्क नामक अपभ्रंश में माना जाता है।

**सीमाएँ**—इसका क्षेत्र अम्बाला जिले की कुछ तहसीलों से लेकर जो अब तक जम्मू शिमला से लेकर भटिण्डा के कुछ गाँवों तक फैली हुई है, माना जाता है। इसके उत्तर में हिमाचल प्रदेश, दक्षिण में सिंधी, पूर्व में पश्चिमी हिंदी तथा पश्चिम में हरियाणा प्रदेश की बाँगरू भाषा बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या १९६१ की जनगणना के अनुसार १ करोड़ नौ लाख के लगभग है। इस पर हिंदी भाषा का प्रभाव यत्र तत्र दृष्टिगोचर होता है।

**बोलियाँ और साहित्य**—पंजाबी की चार प्रमुख बोलियाँ हैं—१ जम्मू और कांगड़ा की डोगरी २ पटियाला और उसके आस पास की मालवई, ३ लुधियाना या पूर्वी क्षेत्र की पोवाधी, ४ लाहौर और अमृतसर की माझी। इन सब में 'माझी सामान्यतः साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। इसमें साहित्य का निर्माण महाराजा रणजीतसिंह के शासन काल से ही प्रारम्भ हो गया था, यथा—नानक की गुरुवाणी और फतेहपुर (राजस्थान) के शाहजादे न्यामतखां (उपनाम जान कवि) द्वारा लिखित अनीफखां की पड़ी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पिछली एक डेढ़ शताब्दी से पंजाबी में भरपूर साहित्य लिखा जा रहा है। पटियाला में स्थापित पंजाबी विश्वविद्यालय में एम ए (पंजाबी) की कक्षाओं का प्रारम्भ, भाषाभिमान के साथ साथ साहित्य की अतुल समृद्धि का भी सूचक है। आजकल पंजाबी भाषा में शोध-कार्य भी तीव्र गति से हो रहा है। आधुनिक लेखकों में भाई वीरसिंह धनीराम चात्रिक, मोहनसिंह अमृता प्रीतम, सेखों पूरनसिंह दुग्गल तथा गार्गी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पंजाबी साहित्य को हिंदी में अनूदित करने में अनेक विद्वानों का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

**भाषागत विशेषताएँ**—पंजाबी में सघोष महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण अल्पप्राण के साथ 'ह' मिले हुए के समान होता है। डा चाटुर्ज्या के अनुसार पंजाबी में 'ह' का उच्चारण भी सघोषवत न होकर विसर्गवत उच्चरित किया जाता है। १ स्वर भक्ति पंजाबी भाषा का विशिष्ट लक्षण है यथा—

प्रसाद>परसाद धर्म>धरम आदि। अपभ्रंश की द्वित्व प्रणाली को पंजाबी आज तक पल्ला पकड़े हुए है। वास्तव में पंजाब प्रान्त की यह प्रारम्भ से ही विशेषता रही है कि उसे प्राचीनता से अधिक मोह रहता है। यही कारण है कि पंजाबी में अन्य भाषाओं की तुलना में विकास के चिह्न कम दिखाई देते हैं। कम्म का हिन्दी भाषी प्रदेशों में कभी का 'काम' ... हो चुका है पंजाबी में अब भी 'कम्म' शब्द का प्रयोग ही प्रचलित है। पुत्तर इच्छरों अक्ल, अज्ज, कज्ज भज्ज इत्यादि का प्रयोग होता है। पंजाबी भाषा में स्वर मध्यस्थ 'उ' तथा इ के स्थान पर 'अ' करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है यथा— माथुर>माथर कौशिक>कोशक। न और ण का अन्तर नहीं दिखाई देता है। हिन्दी भाषी प्रदेशों में जहाँ 'न' मिलता है वहाँ पंजाबी में 'ण' के दर्शन हो जायेंगे और जहाँ ण मिलता है वहाँ न का प्रयोग हो सकता है। पदादि स्वर के साथ 'ह' के आगम के उदाहरण भी पंजाबी भाषा में मिल जायेंगे यथा—एक>हिक और>होर। 'व' श्रुति का आगम भी पंजाबी की अपनी विशेषता है, यथा—हुआ>हुवा आला>वोला। पंजाबी में यद्यपि 'ल' ध्वनि लिखी नहीं जाती फिर भी बोलने में इसका प्रयोग धड़ल्ले से होता है।

रूप तत्व—पंजाबी भाषा में एकवचन और बहुवचन दो वचन तथा स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग दो लिङ्ग मिलते हैं। कारकों में केवल ऋजु और तिर्यक रूप मिलते हैं। एकवचन से बहुवचन बनाते समय पुल्लिङ्ग में आँ और स्त्रीलिङ्ग में कहीं कहीं 'माँ' भी देखा जाता है। तिर्यक में आकारान्त शब्दों के आ को ए कर दिया जाता है। पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग बनाते समय 'अन' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। अनेक स्थानों पर इसे 'अण' भी कर दिया जाता है, यथा—मालिन>मालण आदि। कारकीय परसर्गों में यह अपना स्वतन्त्र पथ ग्रहण कर अग्रसर होती है। कर्ता प्रायः निर्विभक्तिक रहता है। भूतकाल में 'ने' परसर्ग का प्रयोग मिलता है। कर्म में 'नूँ' का प्रयोग, सम्प्रदान में 'नो' सम्बन्ध में 'दा दे दी' तथा अधिकरण में विच/विच्च का प्रयोग पंजाबी भाषा की अपनी विशेषता है। विशेषणों के प्रयोग में संस्कृत की तरह विशेष्य के अनुरूप लिङ्ग और वचन बदल जाते हैं। पर यह नियम जितना स्त्रीलिङ्ग शब्दों ... पोषित किया जाता है वहाँ व्यञ्जनान्त ... इसकी शिथिलता ... यथा—सुन्दर लड़का सुन्दर लड़की सुन्दर लड़कि- ... ही अच्छा लड़का ... लड़की ... में 'ह' ... सानू ... आदि ... डा यथा—

## मराठी

वर्तमान महाराष्ट्र मे बोली जाने वाली भाषा महाराष्ट्री या मराठी कहलाती है। डॉ तगारे के अनुसार दक्षिणी अपभ्रंश से जिसमे पुष्पदन्त और मुनि कनकामर ने अपनी रचनाएँ की हैं महाराष्ट्री भाषा का उद्गम हुआ है। यह सिद्धान्त प्राय अमान्य हो गया है क्योंकि पुष्पदन्त और मुनि कनकामर की रचनाओं की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश ही है। इस भ्रम का निराकरण अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेद, समस्या और समाधान शीर्षक मे पुष्ट प्रमाणों के द्वारा किया है। महाराष्ट्री का उद्भव महाराष्ट्री मे प्रचलित किसी अपभ्रंश बोली मे हुआ होगा, जिसका कोई भी नमूना इस समय उपलब्ध नही है। इस पर वैदर्भी अपभ्रंश तथा पूर्वी भाषाओं का प्रभाव पर्याप्त मात्रा मे देखा जा सकता है।

सीमाएँ—भारत के पश्चिम मे 'दमण' से लेकर दक्षिण की ओर गोमान्तक तथा उत्तर मे नागपुर का प्रदेश महाराष्ट्र कहलाता है। इसमे प्रमुख रूप से बम्बई पूना बरार तथा नागपुर का प्रदेश लिया जा सकता है। इसके एक ओर राजस्थानी दूसरी ओर पूर्वी भाषाएँ तथा एक ओर मध्य देशीय भाषाएँ आती हैं। गुजराती इसके सब से अधिक समीप बोली जाने वाली भाषा है। दक्षिण मे कन्नड एव तेलगु भाषी प्रदेश हैं।

बोलियां एव साहित्य—कोंकणी बरारी हल्बी, खडी बोली तथा मराठी इसकी प्रमुख बोलिया है। मराठी (खडी) ही सामान्यत साहित्यिक भाषा के रूप मे प्रयुक्त की जाती है। कोंकणी को कुछ विद्वान् स्वतन्त्र भाषा कहते हैं। हल्बी पर पूर्वी हिन्दी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। मराठी मे बहुत पहले ही साहित्य लिखा जाना प्रारम्भ हो गया था। मराठी के ताम्रपत्र एव शिला लेख ६२३ ई० से मिलते हैं। मराठी साहित्य मे सन्त नामदेव और ज्ञानेश्वर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ज्ञानेश्वरी मराठी साहित्य का ही नही अपितु समस्त भारत का गौरव बिन्दु है। इसी समय की मुकुन्द राम रचित विवेक सिन्धु एक उल्लेखनीय रचना है। मध्यकालीन लेखकों मे दासोपन्त, एकनाथ सन्त तुकाराम समर्थ रामदास, मोरोपन्त और अमृतराय का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इन सन्तो की कविता का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर अत्यधिक मात्रा मे पड़ा है। आधुनिक काल मे प्राय साहित्य की समस्त विधाओं पर रचनाएं की जाती हैं। आधुनिक काल के अनेक लेखकों के साथ महात्मा तिलक और सातवलेकर एव सावरकर का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मराठी की लिपि देवनागरी है और हिन्दी के प्रति इनका अगाध प्रेम है।

भाषागत विशेषताएँ—'ऋ' के स्थान पर 'रु', 'न' के स्थान पर 'ण',

'स' के स्थान पर 'श' तथा 'र' के स्थान पर 'ल' पाया जाता है। ये ध्वनिगत परिवर्तन महाराष्ट्री को मागधी प्राकृत की भाषाओं की श्रेणी में ला जाकर बिठा देते हैं। महाराष्ट्री में 'च' और 'ब' में तथा 'ड' और 'ड' में स्पष्ट अन्तर किया जाता है। महाराष्ट्री में 'ल' ध्वनि का अभाव है। संज्ञा शब्द जो राजस्थानी और ब्रज में प्रमाण ओकारान्त एवं औकारान्त हैं वे यहाँ पर हिन्दी की तरह आकारान्त पाये जाते हैं।

**रूप तत्त्व**—मराठी में दो वचन और तीन लिङ्ग हैं। नपुंसक लिङ्ग में तिर्यक प्रयोग से 'अ' को 'आ' और 'उ' को 'ऊ' हो जाता है यथा—घर>घरा जीभ>जीभा मधु>मधू आदि। ऋजु रूप में समान स्थिति में रहते हैं। व्यञ्जनान्त और अकारान्त शब्दों को एक वचन में 'अ' और बहुवचन में 'आन' आदेश होते हैं। नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में इकारान्त तथा उकारान्त शब्द दीर्घ हो जाते हैं। एक वचन में और बहुवचन में 'न्' जोड़ दिया जाता है। संज्ञाओं में कुछ स्थलों पर अब भी विभक्ति प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। मराठी में दो प्रकार के ऋजु और तिर्यक कारक मिलते हैं। परसर्गों में भी यह स्वतन्त्र अस्तित्व की द्योतक है। करण में 'ने' और 'शी' परसर्ग, सम्प्रदान में 'ला' 'तें' अपादान से 'ऊन' और 'हून' (सम्भवतः राजस्थानी 'हुंत' का विकसित रूप) है और सम्बन्धकारक में 'चा' 'चे' 'ची' का प्रयोग मराठी की विशेषताएँ हैं। क्रिया के क्षेत्र में वर्तमान काल में 'त' अन्त, भूतकाल 'ल' प्रत्ययुक्त और भविष्यत 'ल' प्रत्यय युक्त रूप पाये जाते हैं। क्रियार्थक संज्ञा 'ण' 'न' के स्थान पर 'ण' का प्रयोग उपलब्ध होता है। पुरुष वाचक सर्वनाम सरल एवं सामान्य हैं। लिङ्ग प्रक्रिया जटिल है। विशेषण विशेष्य के वचन के अनुसार नहीं बदलता।

**गुजराती**

गुजरात प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा को गुजराती कहते हैं। इसका उद्भव गुर्जर अपभ्रंश से माना जाता है। विद्वानों का विचार है कि प्रारम्भ में पश्चिमी राजस्थानी और गुजराती एक ही भाषाएँ थीं। लगभग १५वीं अथवा १६वीं शताब्दी में ये दो भागों में बँट गईं—गुजराती और मारवाड़ी। गुर्जर जाति के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम गुजरात पड़ा। १९६१ की जनगणना के आधार पर इस भाषा को बोलने वालों की संख्या दो करोड़ चार लाख के लगभग थी।

**सीमाएँ**—इसके उत्तर पूर्व में सिंधी एवं राजस्थानी तथा दक्षिण में मराठी बोली जाती है। बम्बई अहमदाबाद, काठियावाड़ आदि इसके प्रमुख केन्द्र हैं। जूनागढ़ प्रदेश में गुजराती ही बोली जाती है।

**बोलियाँ और साहित्य**—गुजराती की कोई उल्लेखनीय बोली नहीं है। अहमदाबाद के आसपास की बोली ही प्रायः समस्त प्रदेश में बोली जाती है।

साहित्य के लिए भी इसी बोली का प्रयोग किया जाता है। कथ्य गुजराती और साहित्यिक गुजराती में अन्तर पाया जाता है। गुजराती मे मराठी की तरह विपुल साहित्य है। लगभग बारहवीं शताब्दी से ही इसका साहित्य उपलब्ध है। नरसिंह महता अपने समय के लोकप्रिय कवि हैं। अधुना गुजराती म कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सभी विधाएँ अपने चरमोत्कर्ष पर हैं। गोवधनराम त्रिपाठी, के एम मुन्शी तथा काका कालेलकर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भाषागत विशेषताएँ—गुजराती मे 'द्वित्व' व्यञ्जन प्रणाली का परित्याग कर सरलीकरण का परिचय दिया है। द्वित्व को समाप्त कर प्रथम स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। 'क ख ग' के स्थान पर 'च छ ज' का क्रमश आदेश हो जाता है, यथा—लाग्यो>लाग्यो। 'च छ' के स्थान पर 'स' तथा 'स' का 'ह' म परिवतन भी गुजराती की विशेषता है। दन्त्य और मूर्धन्य व्यञ्जन भी परस्पर परिवर्तित होते रहते हैं।

रूप तत्त्व—गुजराती मे दो वचन और तीन लिङ्ग पाये जाते हैं। ऊँकारान्त नपुंसक लिङ्ग उभय लिङ्गी होता है। गुजराती मे बहुवचन म आ और ओ लगाया जाता है। 'ह' ध्वनि तथा महाप्राण ध्वनियो का उच्चारण विकृत होना है। गुजराती मे कर्ता निर्विभक्तिक रहता है। कर्म मे 'ने', करण 'थी', सम्प्रदान' मे माटे अपादान म थी, सम्बन्ध 'नो ना नी' 'पर' परसर्गों का प्रयोग किया जाता है। वतमान काल म सहायक क्रिया 'छा छे छो', भूतकाल म 'हतो' तथा भविष्यत काल म 'श' प्रत्यय होता है। क्रियार्थक सज्ञा में 'वु' प्रत्यय लगता है। विशेषण म विशेष्य के वचन के अनुसार परिवतन नही होता।

**राजस्थानी**

राजस्थान प्रान्त मे बोली जाने वाली भाषा को राजस्थानी कहते हैं। भीलो की भाषा एव पहाडी भाषाओं का सम्बन्ध भी राजस्थानी के साथ जोड़ा जाता है। इसे 'राजस्थानी' नाम आजकल ही मे दिया गया है। पहले इसे मारु सोरठ या मारु भाषा तथा डिंगल कहा जाता था। इसका उद्भव कुछ विद्वान शौरसेनी से और कुछ गुजर अपभ्रंश से मानते हैं। वस्तुत राजस्थान की बोलियाँ एक धारा से उद्भूत न होकर दो धाराओं की सगम भूमि है। इसलिए दोनो ही विद्वान अपने अपने विचार से सही हैं। १९६१ की जनगणना के अनुसार राजस्थानी बोलने वालो की सख्या एक करोड उनञ्चास लाख है।

सीमाएँ—राजस्थानी के पूर्व मे मध्यदेशीय भाषाएँ पश्चिम मे सिन्धी उत्तर म लहन्दा एव पजाबी तथा दक्षिण में मराठी एव मध्यदेशीय भाषाओं का कुछ भाग आता है। राजस्थानी भाषा जोधपुर, बीकानेर, शेखावाटी

सिरोही जयपुर आदि प्रदेशों में बोली जाती है। वैसे राजस्थानी को करौली, भरतपुर, अलवर, गुड़गाँव एवं उधर मालवा तक ले जाया जाता है जो कि उचित नहीं है।

**बोलियाँ एवं साहित्य**—राजस्थानी भाषा का सर्वप्रथम सर्वेक्षण जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने किया था। उन्होंने राजस्थान की बोलियों को निम्न प्रकार से विभाजित किया—

(१) पश्चिमी राजस्थानी—जोधपुर की खड़ी राजस्थानी अथवा शुद्ध पश्चिमी मारवाड़ी, ढक्की थली बीकानेरी आदि।

(२) उत्तर पूर्वी राजस्थानी—अहीरवाटी और मेवाती।

(३) मध्यपूर्व राजस्थानी—ढूंढाड़ी एवं हाड़ौती।

(४) दक्षिण पूर्व राजस्थानी—मालवी।

(५) दक्षिण राजस्थानी—नीमाड़ी।

यद्यपि राजस्थानी विद्वान् अभी तक इसी वर्गीकरण को स्वीकार कर चल रहे हैं तथापि राजस्थानी के अन्तर्गत केवल संख्या एक और तीन को ही लिया जा सकता है। शेष २ ४ ५ का उद्‌गम मध्यदेशीय अपभ्रंश होने के कारण राजस्थानी शीर्षक के अन्तर्गत रखना ठीक नहीं है। राजस्थानी का प्रारम्भिक साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध होता है। जैसे—ढोलामारु रा दूहा वेलि किसन रुकिमणी री तथा चारणों एवं भाटों द्वारा लिखे गए रासो एवं बेल ग्रन्थ तथा गद्य में लिखित वार्ताएं आदि। राजस्थानी में जितना साहित्य आदिकाल और मध्यकाल में लिखा गया उतना आजकल नहीं लिखा जा रहा है फिर भी श्री नानूराम संस्कर्ता श्री सत्यप्रकाश जोशी श्री श्रीगोपाल नथमल जोशी श्री मुरलीधर व्यास, श्री नारायणसिंह भाटी तथा श्री रामेश्वरदयाल श्रीमाली का नाम उल्लेखनीय है।

**भाषागत विशेषताएँ**—राजस्थानी में 'अ' के स्थान पर 'इ' तथा ▮ के स्थान पर 'अ' पाया जाता है। अब>इब मनुष्य>मिनख। पूर्वी राजस्थानी में अल्पप्राण अघोष के स्थान पर महाप्राण अघोष मिलता है, यथा—कहाँ गया है>खाँ गियो है या छै। ण और ल राजस्थानी की विशिष्ट ध्वनियाँ हैं। ड ढ ध्वनियों के प्रति विशेष मोह लक्षित होता है। महाप्राण सघोष ध्वनियों तथा 'ह' का उच्चारण विकृत हो गया है। ह अनेक स्थलों पर अपना स्थान परित्याग कर चुका है। ऐ और औ के स्थान पर ए तथा ओ मिलते हैं। श के स्थान पर स तथा छ दोनों ध्वनियाँ मिलती हैं। स के स्थान पर ▮ मिलता है।

**रूप तत्व**—आधुनिक राजस्थानी में दो लिङ्ग और दो वचन ही मिलते हैं। कुछ विद्वान् नपुंसक लिङ्ग का अस्तित्व भी राजस्थानी में मानते हैं। उत्तम

अनुस्वार के चिह्न का जो कारण श्री टसिटरी ने दिया है, वह अत्यन्त दुर्बल है। हाँ, कर्म कारक मे नपुंसक लिङ्ग मे परसर्ग का प्रयोग नही होता। यह कारण अवश्य महत्त्वपूर्ण है, यथा—माली नै बुलाओ, (स्त्री०) बलीतो लाओ मे (नपु०)। यहाँ 'बलीता' का प्रयोग परसर्ग रहित है। फिर भी यह लिङ्ग राजस्थानी मे स्पष्ट नही है। कारक ऋजु और तिर्यक रूप मे ही मिलते हैं। कर्म कारक मे 'न' तथा सम्बन्ध कारक मे 'रा रो री' आदि परसर्ग इसकी विशेषताएँ हैं। वर्तमान काल मे 'है हा हूँ' और भूतकाल मे हो हा ही सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। भविष्यत काल प्राकृत निङन्त प्रत्यय स्स' को ही लेकर बनता है। पूर्वी राजस्थानी म सा लो ली' का प्रयोग भी भविष्यत काल के लिए किया जाता है। वचन परिवर्तन म बहुवचन मे 'आ' का प्रयोग होता है। स्त्रीलिङ्ग म याँ भी मिलता है। स्त्रीलिङ्ग बनाने मे 'ई और अण' दोनो प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है।

**बिहारी**

यह पूर्वी भाषा समुदाय मे आती है और समस्त बिहार प्रदेश मे बोली जाती है। इसका उद्गम अर्ध मागधी प्राकृत से विकसित अपभ्रंश से माना जाता है। मध्यप्रदेशीय अपभ्रंश का प्रभाव अत्यधिक मात्रा म पाया जाता है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इसके बोलने वालो की सख्या चार करोड़ पैंतालीस लाख है।

**सीमाएँ**—पश्चिम मे बिहारी, उत्तर प्रदेश के गोरखपुर तथा बनारस के जिला मे बोली जाती है। दक्षिण मे यह छोटे नागपुर के आस पास बोली जाती है। उत्तर म नेपाल के आस पास से लेकर दक्षिण में उडीसा की सीमाओ का स्पर्श करती है। इसके उत्तर म नेपाली, तिब्बती तथा बर्मी भाषाएँ बोली जाती हैं। पूर्व म बगला भाषा बोली जाती है तथा दक्षिण मे उड़िया भाषा का क्षेत्र है। पश्चिम मे पूर्वी हिन्दी बोली जाती है।

**बोलियाँ और साहित्य**—बिहारी की तीन प्रमुख बोलियाँ हैं १ भोजपुरी २ मगही, ३ मैथिली। तीनो ही बोलियाँ स्वतन्त्र रूप से साहित्य का माध्यम रही हैं। मगही मे अत्यन्त कम साहित्य लिखा गया है। भोजपुरी और मैथिली मे पुराना साहित्य पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। मैथिल कोकिल विद्यापति की प्रसिद्ध पदावली इसी भाषा म है। कुछ विद्वान भोजपुरी को बिहारी की उपभाषा स्वीकार करने मे हिचकिचाते हैं किन्तु डॉ उदयनारायण तिवारी ने पुष्ट भाषा वैज्ञानिक प्रमाणो द्वारा इन तीनो भाषाओ की आन्तरिक एकता सिद्ध कर इन्हे बिहारी की ही बोलियाँ बताया है। आजकल बिहार म साहित्य एव राजकाज की भाषा के रूप मे खडी बोली हिन्दी को ही स्वीकार कर लिया गया है। अत इन बोलियो में नवीन साहित्य का प्राय अभाव सा ही है।

असमी

यह असम प्रदेश की भाषा है। असम में अनेक आदिवासी कबीले हैं। वे अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं। ईसाई मिशनरियों का अधिक प्रभाव उस क्षेत्र में होने के कारण आंग्ल भाषा का प्रभाव भी देखा जा सकता है। असमी और बंगला का घनिष्ट सम्बन्ध है। कहा जाता है कि शिक्षित असमी और बंगाली सरलता से एक दूसरे की भाषा समझ सकते हैं। इसका उद्गम गौडी और औड्र के बीच की किसी अपभ्रंश से माना जाता है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या अड़सठ लाख है।

सीमाएँ—यह भाषा दक्षिणी असम, लखीमपुर से गालपारा प्रदेश तक बोली जाती है। इसके पूर्व में बर्मी भाषा पश्चिम में बंगला भाषा उत्तर में पहाड़ी भाषाएं तथा तिब्बत बर्मी परिवार की भाषाएं एवं दक्षिण में बंगला भाषा बोली जाती हैं। साहित्य अत्यन्त कम है। आजकल इसमें साहित्य लिखा जाने लगा है। हेम बरुआ और चन्द्रकुमार अग्रवाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भाषागत विशेषताएँ—असमी में च, छ का स और 'स' के स्थान पर ह या ख पाया जाता है। संयुक्त व्यञ्जनों में द्वित्व का आभास होता है। य व का ज ब' तथा 'ण' को न बंगला के समान ही होते हैं। 'ट ड का उच्चारण त, द की तरह सुनाई देता है। ड़ के स्थान पर र तथा ज का 'ज़ उच्चारण सुनाई देता है।

रूपगत विशेषताएँ—असमी में दो लिङ्ग और दो वचन होते हैं। बंगला की अपेक्षा अधिक संयोगात्मक है। परसर्गों में कर्म में 'क' करण में 'ए, एरे' सम्प्रदान में ल लवे सम्बन्ध में 'अर, अरे और अधिकरण में अत अते रूप होते हैं। लिङ्ग और वचन के अनुसार क्रियाओं में कोई अन्तर नहीं आता। भूतकाल में ल प्रत्यय का तथा भविष्यत काल में प्राय ब प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान काल में उ तथा वा का प्रयोग किया जाता है।

उड़िया

तमिल ओद शब्द (कृषि करना) के नाम पर हिन्दी आड+रा= ओडीम=उड़ीसा नाम से यह प्रदेश विख्यात है। इसके प्राचीन नाम कलिङ्ग तथा उत्कल भी मिलते हैं। सम्भवतः इन्हीं आधारों पर औड्र और उत्कली अपभ्रंशों का यह नाम पड़ा है। उड़िया का असमी की तरह बंगला से घनिष्ट सम्बन्ध है। कुछ विद्वान् तो प्रारम्भ में इनका एक ही रूप रहा होगा ऐसा स्वीकार कर चलते हैं। इसका उद्गम औड्र अपभ्रंश से माना जाता है। १९६१ की जनगणना के आधार पर इसके बोलने वालों की संख्या एक करोड़ सत्तावन लाख है।

**सीमाएँ**—वर्तमान समस्त उड़ीसा प्रदेश इसके अंतर्गत आता है। इसके पूर्व मे बंगला भाषा का तथा पश्चिम म मध्यदेशीय भाषा का क्षेत्र आता है। उत्तर मे बिहारी भाषा बोली जाती है तथा दक्षिण म तेलगु का प्रभाव-क्षेत्र आता है। उडीसा बहुत दिनो तक मराठो एव तेलगो के अधीन रहा। अत उडिया मे मराठी एव तेलगु भाषाओ का बहुत अधिक प्रभाव पाया जाता है।

**बोलियाँ और साहित्य**—उडिया म प्राय एक ही भाषा का सर्वत्र प्रयोग किया जाता है। इसमे केवल एक मजी बोली है जो मराठी तेलगु और उडिया का मिश्रित रूप है। ग्यारहवी तथा बारहवी शताब्दी के कुछ शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिससे लगता है कि उस समय उडिया भाषा विकसित हो गई थी। प्राचीन काल का कृष्ण साहित्य और लोकगीत उडीसा मे अत्यंत लोकप्रिय हैं। आधुनिक युग मे उडिया मे साहित्य लिखा जा रहा है। श्री रघुनाथ राय, नन्दकिशोर बल कुन्तल कुमारी देवी नीलकण्ठ दास आदि लेखकों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

**भाषागत विशेषताएँ**—अधिकाश ध्व यात्मक विशेषताए बगला स मिलती जुलती हैं। ऋ के स्थान पर रु ग्र प के स्थान पर स' तथा ण ल' 'च ट प आदि ध्वनियो का कुछ महाप्राणवत उच्चारण सुनाई देता है।

**रूपगत विशेषताएँ**—इसम भी दो वचन और दो लिङ्ग हैं। लिङ्ग का प्रयोग स्वाभाविक एव सरल है। बहुवचन बनाने क लिए एक वचन के साथ मन लोक, गण आदि शब्द जोडे जाते हैं। कुछ विभक्ति प्रत्यय अभी भी अवशिष्ट है। करण, अपादान और अधिकरण म क्रमश 'ए उ और ए विभक्ति प्रत्ययो का प्रयोग किया जाता है। परसर्गों मे कम व सम्प्रदान म 'कु और के करण म रे, अपादान म रु नु सम्बध म र तथा न और अधिकरण म रे तथा ने का प्रयोग किया जाता है। र का विभिन्न रूपो म परसर्गों के लिए प्रयोग उडिया की लक्षणीय विशेषता है। उत्तम पुरुष सवनाम के रूप सरल एव स्पष्ट हैं। भूतकाल म 'ल तथा भविष्यत काल मे ब प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान काल का विधान राजस्थानी एव ब्रजभाषा के अनुरूप है। कुछ स्थलो पर 'उ का प्रयाग द्रष्टव्य है।

**पश्चिमी हिन्दी**

यह भाषा एक बहुत बडे भूभाग पर बोली जाती है। इसी की एक विभाषा खडी बोली को सविधान म राष्ट्रभाषा का गौरवमय स्थान दिया गया है। अभी इसे व्यावहारिक रूप देना अवशिष्ट है। कुछ निहित स्वार्थी व्यक्ति अवरोध स्वरूप आगे आए हुए हैं जो शरीर से भारतीय और मस्तिष्क से अभी भी अग्रेजी एव अग्रेजी के दास हैं। इस भाषा का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से माना जाता है। उदू, अग्रेजी आदि भाषाओ का इसकी शब्दावली पर तथा

साहित्य पर पड़ा प्रभाव द्रष्टव्य है। इसके बोलने वालो की सख्या १९६१ की जनगणना के अनुसार चार करोड बावन लाख के लगभग है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक प्रदेश एव भिन्न भाषा भाषी साधारण रूप मे इसे समझ और बोल सकता है।

**सीमाएँ**—पश्चिमी हिन्दी उत्तर प्रदेश का सम्पूण पश्चिमी क्षेत्र तथा भोजपुरी से मुक्त पूर्वी भाग, समस्त हरियाणा प्रान्त म मेवाती एव अहीर वाटी क्षेत्र को छोडकर जो अभी विवादग्रस्त क्षेत्र है, बोली जाती है। इसके अतिरिक्त भारत के अ य प्रदेशो म बस मुसलमान और हि दू पश्चिमी हिन्दी का प्रयोग करते हैं। डा चाटुर्ज्या के अनुसार हिन्दीतर भाषा भाषी प्रान्तो म १०% लोग हि दी बोल लिख पढ और समझ सकते हैं। इसके अतिरिक्त विदेशी लोग भी भारतीयो के साथ वार्तालाप के लिए खडी बोली हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं। वैसे इसकी सीमाए इस प्रकार अकित की जा सकती हैं— पश्चिम म राजस्थानी और पजाबी से लेकर पूव मे बघेली और अवधी की सीमा तक एव उत्तर म पहाडी भाषाओ की सीमा से लेकर दक्षिण म मराठी भाषा की सीमा तक पहुँच जाती है।

**बोलियाँ एव साहित्य**—पश्चिमी हिन्दी की अनेक बोलिया एव विभाषाए हैं। मुख्यत बागरु या हरियाणवी, खडी बोली, ब्रजभाषा बुन्देली या बुन्देल खण्डी और कन्नौजी आदि हैं। इन बोलियो को दो भागो म बाँटा जा सकता है—१ हरियाणवी और खडी बोली—आकार बहुला २ ब्रजभाषा बुन्देली और कन्नौजी ओकार बहुला। इनमे मुख्यत ब्रजभाषा और खडी बोली मे विपुल साहित्य मिलता है। विद्वानो का मत है कि इस भाषा का प्रारम्भ सातवी शताब्दी से ही उपलब्ध है जिसे वे पुरानी हिन्दी कहते हैं। चन्द बरदायी से लेकर आजतक हिन्दी साहित्य ने वाङमय के सभी क्षेत्रो मे आश्चयजनक उन्नति की है। कबीर सूरदास आदि कवि तो समस्त भारत के लिए श्रद्धेय हैं।

**भाषागत विशषताएँ**—पश्चिमी हिन्दी मे प्राय अपभ्रशगत सभी ध्वनियाँ उपलब्ध हैं। स्वरो म आ ध्वनि का नवीन विकास आग्ल भाषा के कुछ शब्दो के सही उच्चारण करने के हेतु हुआ। ऐ' का उच्चारण तदभव शब्दो क लिए विशेष प्रकार से किया जाता है, यथा—जसा ऐसा>ऐसा। इनका उच्चारण अल मे प्रयुक्त ऐ से भिन्न हैं। ब्रज इत्यादि भाषाओ म ह्रस्व 'ए और ह्रस्व ओ भी मिलते हैं। महाप्राणो (सघोष) तथा ह का उच्चारण अविकृत रहता है खडी बोली आदि वग म 'श, ष, स आदि तीनो ध्वनियाँ मिलती हैं जबकि ब्रजभाषा वाले वग म तीनो के स्थान पर केवल स ही मिलता है। स' का 'ह' हो जाने के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं विशेषकर सख्या वाचक शब्दो मे। खडी बोली वग म ड की जगह 'ड' और ब्रजभाषा

वर्ग मे 'ड' की जगह 'र' उच्चारण किया जाता है। इसी प्रकार ओकारान्त भाषाओं मे विशेषकर ब्रजभाषा में 'ण' की जगह 'न' बोला जाता है। कुछ विद्वानो के मतानुसार महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राणीकृत उच्चारण भी पश्चिमी हिन्दी की विशेषता है। तत्सम शब्दावली का आधिक्य होने के कारण संस्कृत उच्चारणों को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है।

रूप तत्त्व—पश्चिमी हिन्दी में दो लिङ्ग और दो वचन पाये जाते हैं। खड़ी बोली वर्ग में बहुवचन के लिए मुख्यतः 'ए' 'आ' या तथा 'यों' प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। ब्रजभाषा वर्ग में 'ऍ' और 'अन' का प्रयोग किया जाता है। कहीं-कहीं इन का प्रयोग भी दिखाई देता है। स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए इन ई, आ, तथा 'इया' प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। कारक ऋजु और तिर्यक अवस्थाओं मे मिलते हैं। पश्चिमी हिन्दी के परसर्ग अत्यन्त सरल हैं—कर्ता ने, कर्म व सम्प्रदान 'को' सम्बन्ध का, के की आदि परसर्ग विशिष्ट हैं। स्वरान्त विशेषण विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार तो बदलते हैं किन्तु वचन के कारण उन पर सर्वत्र प्रभाव नहीं पड़ता। ब्रजभाषा के 'हौं' को छोड़कर समस्त प्रदेश में प्रायः समान शब्द रूपों का प्रयोग होता है। क्रिया में सहायक क्रियाओं से विशेष काम लिया जाता है। वर्तमान काल में 'हैं हूँ है' के साथ भूतकाल में 'था थे थी' तथा हतो एवं भविष्यत् काल में 'गा गे गी' लगाए जाते हैं। पूर्वकालिक क्रिया में 'इ' और क्रियार्थक संज्ञा में 'अन' 'अण' प्रत्यय लगाए जाते है। सभी कालों की निष्पत्ति प्रायः कृदन्त रूपों से की जाती है। सर्वनामों के प्रयोग में क्रिया में परिवर्तन नहीं देखा जाता। जैसे—वह गया, मैं गया, तू गया। संक्षेप में कह सकते हैं कि पश्चिमी हिन्दी का व्याकरण अन्य नभाआ की भाषाओं की तुलना में अत्यन्त सरल एवं संक्षिप्त है। डा० चाटुर्ज्या के अनुसार हिन्दी का व्याकरण एक पोस्ट कार्ड पर सरलता से आ सकता है।

**पूर्वी हिन्दी**

मध्यदेश की भाषा को विद्वानों ने दो भागों मे विभाजित किया है—१ पश्चिमी हिन्दी २ पूर्वी हिन्दी। विद्वान पूर्वी हिन्दी को कतिपय कारणों से पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत न रखकर उसे उसके समानान्तर रखते है। इसका कारण सम्भवतः भिन्न उद्गम स्थल तथा अन्य भाषा वैज्ञानिक अन्तर ही हो सकता है। पूर्वी हिन्दी का उद्गम अर्ध मागधी अपभ्रंश से माना जाता है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या चार करोड़ के लगभग है।

सीमाएँ—पूर्वी हिन्दी उत्तर प्रदेश, बघेलखण्ड, छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश तक फैली हुई है। हरदोई तथा फर्रुखाबाद के कुछ भाग को छोड़कर समस्त अवध प्रदेश पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत आता है। बनारस तथा हमीरपुर

के कुछ भागों में भी यह बोली जाती है। इसके पूर्व में बिहारी पश्चिम में पश्चिमी हिन्दी, उत्तर में पहाड़ी भाषाएं तथा दक्षिण में उड़िया बोली जाती है।

**बोलियाँ और साहित्य**—पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत तीन बोलियाँ आती हैं—अवधी बघेली और छत्तीसगढ़ी। इनमें अवधी सामान्यतः साहित्य के लिए प्रयुक्त की जाती है। कुछ विद्वान बघेली को स्वतन्त्र बोली स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। डा० ग्रियर्सन ने इसे पृथक बोली माना है। डा० उदयनारायण तिवारी ने इसे पृथक नहीं माना है। इसमें पर्याप्त मात्रा में साहित्य मिलता है। सूफी सन्तों का हिन्दी साहित्य प्राय सम्पूर्ण अवधी में ही उपलब्ध होता है। तुलसीदास बाबा रामचरणदास और महाराजा रघुराजसिंह का राम भक्ति साहित्य साहित्यिक अवधी में लिखा गया है जिसमें तत्सम शब्दावली की बहुलता है। आजकल अवधी में साहित्य नहीं के बराबर लिखा जाता है। यहाँ के लोगों ने खड़ी बोली हिन्दी को साहित्यिक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया है।

**भाषागत विशेषताएँ**—अपभ्रंशगत ण, ड़ ध्वनियों को छोड़कर प्राय सभी ध्वनियाँ अवधी में मिलती हैं। 'ए और ओ' का ह्रस्व उच्चारण यहाँ मिलता है। 'ण' के स्थान पर न तथा ड के स्थान पर र मिलता है। ण को सुरक्षित रखा गया है। श ष के स्थान पर सर्वत्र स मिलता है। हिन्दी ल के स्थान पर भी प्राय र देखने को मिलता है। य का उच्चारण ज तथा ए की तरह और व का उच्चारण ब तथा उ की तरह किया जाता है। ऐ और औ का उच्चारण अइ और अउ की तरह किया जाता है। महाप्राण सघोष ध्वनियों और 'ह' का उच्चारण शुद्ध एवं स्पष्ट होता है। श के स्थान पर 'स' मिलता है। क्ष के लिए 'छ' और 'स' दोनों का प्रयोग किया जाता है।

**रूपगत विशेषताएँ**—दो वचन और दो लिङ्ग मिलते हैं। वचन बनाते समय बहुवचन में ए लगाया जाता है। कुछ भागों में अन का प्रयोग भी देखने में आता है। कारक ऋजु और तिर्यक रूप में मिलते हैं। कर्ता में परसर्ग का प्रयोग नहीं किया जाता। कर्म में का के तथा सम्बन्ध में कर और अधिकरण में माँ परसर्ग का प्रयोग किया जाता है। अवधी में अभी भी विभक्ति प्रत्यय शेष बच हुए हैं। सर्वनामों में अवधी में मेरे तेरे के स्थान पर मोर तोर का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार हमारे का तिर्यक रूप 'हमारे' होता है। वर्तमान काल की सहायक क्रिया के रूप में है के स्थान पर अहै बाटै बाट मिलते हैं। भूतकाल में कहीं-कहीं इ लगता है तथा अपूर्ण वर्तमान कालीन के साथ इसि प्रत्यय लगाया जाता है। भविष्यत् काल में 'ह' और 'ब' दोनों प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। विशेषण और क्रिया का लिङ्ग भेद शिथिल है।

### नेपाली

नेपाल के शासक वर्ग की भाषा नेपाली या गोरखाली नाम से प्रसिद्ध है। गोरखा राजपूत जब वहाँ पहुँचे तो अपने साथ अपनी भाषा भी ले गए। इसमें बहुत अधिक साहित्य तो अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है, पर भानुभट्ट की रामायण नेपाली काव्य ग्रंथ है। आजकल इसे विकसित करने की ओर शासकों का भी ध्यान गया है। आजकल के लेखकों में देवकोटा, थापा पाण्डेय रुद्रराज बालकृष्ण तथा भीमनिधि तिवारी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नेपाली में ब्रजभाषा की ध्वनियाँ पाई जाती हैं। सानुनासिकता अधिक पाई जाती है। 'ण' त 'ल' का शुद्ध एवं स्पष्ट उच्चारण किया जाता है। कुमायूनी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

### पहाड़ी हिन्दी

पहाड़ी हिन्दी की दो प्रमुख भाषाएँ हैं—१ कुमायूनी २ गढ़वाली। कुमायूनी नैनीताल अल्मोड़ा और पिथौरागढ़ के जिलों में तथा गढ़वाली गढ़वाल, टिहरी, चमोली के जिले तथा उत्तर काशी के दक्षिणी भाग में बोली जाती है। इन दोनों भाषाओं पर ही अनार्य भाषाओं का गम्भीर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। सूक्ष्म भाषा वैज्ञानिक विश्लेषण के पश्चात विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कुमायूनी राजस्थानी मारवाड़ी के और गढ़वाली पूर्वी राजस्थानी के समीप है। अतः डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन के विरुद्ध इसे स्वतन्त्र न मान कर राजस्थानी के अन्तर्गत ही गिना है। राजस्थानी की दो प्रमुख ध्वनियाँ ण ल इसमें मिलती हैं। पुल्लिङ्ग शब्द भी ओकारान्त ही मिलते हैं। 'में' परसर्ग का करण कारक में प्रयोग राजस्थानी का ही प्रभाव है। इसके साथ ही भविष्यत का 'ल' प्रत्यय और वर्तमान काल की 'छ' सहायक क्रिया राजस्थानी से ही परिवार की सूचना देती है। इसके अतिरिक्त 'ने' के स्थान पर 'ले' और 'को' के स्थान पर 'कणि' का प्रयोग इसकी अपनी विशेषता है। गढ़वाली में सम्बन्ध कारक में 'रो, रा री' का प्रयोग होता है। का के की 'आ, ई' इत्यादि भी मिलते हैं। करण कारक में से, ती ते के अतिरिक्त 'चैं' 'चुल' 'विट' के प्रयोग भी मिलते हैं। दोनों ही भाषाओं में केवल लोक गीत ही मिलते हैं।

### कश्मीरी

कश्मीर भारतीय संस्कृत के पण्डितों का गढ़ रहा है। कश्मीरी भाषा का उद्भव दरद भाषाओं से माना जाता है। लोगों का विश्वास है कि कश्मीरी का उद्भव पैशाची अपभ्रंश से हुआ है। 'गुणाढय की वृहत् कथा' सम्भवतः पुरानी कश्मीरी में ही लिखी गई हो। साहित्य नाम मात्र का ही मिलता है। मुसलमानों का आधिक्य होने के कारण यहाँ पर उर्दू भाषा का ही अधिकतर

प्रयोग किया जाता है। श्री ग्रियर्सन ने लल्ल कवि कृत 'लल्ला वाक्यानि' का इन्हें से प्रकाशन करवाया था। यह कश्मीरी भाषा में है। विद्वानों का विश्वास है कि प्राचीन समय में कश्मीरी में साहित्य लिखा तो गया था, पर वह विलुप्त हो गया। आजकल भी इस भाषा के विकास पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

### सिंहली

डा हरदेव बाहरी ने सिंहली भाषा को भी भारतीय आर्य परिवार की भाषा बताया है। आपके अनुसार तमिल और पालि के घुल मिलकर जिस भाषा का विकास हुआ वह सिंहली प्राकृत थी। इसका साहित्य दसवीं शताब्दी से मिलता है। अभी इस भाषा पर पूर्ण अनुसन्धान करने की आवश्यकता है कि यह भाषा मूलत द्रविड परिवार की है अथवा आर्य परिवार की।

## हिन्दी और इसकी विभाषाएँ

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है हिन्दी शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है एक सकुचित अर्थ में और दूसरा विस्तृत अर्थ में। सकुचित अर्थ में हिन्दी से अभिप्राय केवल खड़ी बोली हिन्दी या नागरी हिन्दी से है किन्तु जब विस्तृत अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है तब इससे अभिप्राय डा ग्रियर्सन के शब्दों में उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक के प्रदेश की साहित्यिक भाषा से है जिसकी अनेक विभाषाएँ तथा बोलियाँ हैं। सुविधा की दृष्टि से इसे पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी वर्गों में विभाजित करते हैं। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत १ खड़ी बोली २ ब्रजभाषा ३ बुन्देली ४ बांगरू ५ कन्नौजी आदि विभाषाएं एवं बोलियां आती हैं। पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत १ अवधी, २ बघेली ३ छत्तीसगढ़ी आदि आती हैं। कतिपय विद्वानों के मतानुसार राजस्थानी एवं बिहारी की भोजपुरी, मगही तथा मैथिली भी हिन्दी की विभाषाएँ हैं। उपर्युक्त विभाषाओं एवं बोलियों में खड़ी बोली, ब्रजभाषा तथा अवधी में विपुल साहित्य है। अत इनका भाषा वैज्ञानिक महत्व भी निर्विवाद है। खड़ी बोली का परिचय हम अग्रिम पृष्ठों में विस्तार से दे रहे हैं। अत यहाँ पर शेष विभाषाओं पर विचार करेंगे।

### ब्रजभाषा

यह ब्रज प्रदेश की भाषा है। ब्रज शब्द संस्कृत व्रज शब्द का तद्भव रूप है जिसकी व्युत्पत्ति व्रज धातु के गमन अर्थ से निष्पन्न होती है। वैदिक साहित्य में इस शब्द का गायों का गमन अर्थात् चरागाह या बाड़े के अर्थ में प्रयोग हुआ है यथा— गाव उष्णामिव व्रज।[2] हरिवंश पुराण में इसका

---

[2] ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन पृष्ठ ७८।

प्रयोग प्रदेश विशेष के अर्थ में हुआ है, यथा— तद व्रजस्थानमधिरम्य 'शुशुभे माननावृत्ताम ।[3] आजकल मथुरा प्रदेश के आस पास के प्रदेशों को ब्रज मण्डल कहा जाता है।

सीमाएँ—व्रजभाषा भाषी क्षेत्र के उत्तर में खड़ी बोली तथा दक्षिण में बुन्देली बोली जाती है। इसके पूर्व में अवधी भाषा बोली जाती है तथा पश्चिम में राजस्थान की दो बोलियाँ मेवाती और जयपुरी का क्षेत्र है। व्रजभाषाभाषी क्षेत्र में मथुरा, अलीगढ़, आगरा बुलन्दशहर एटा, मनपुरी, बदायूं तथा बरेली के जिले आते हैं। हरियाणा के गुड़गांव जिले का पूर्वी भाग तथा राजस्थान के धौलपुर भरतपुर करौली एवं जयपुर जिले का पूर्वी भाग और मध्यप्रदेश के ग्वालियर जिले का पश्चिमी भाग भी व्रजभाषा क्षेत्र मे आते हैं। व्रजभाषा अनुमानतः डेढ़ करोड़ जनता के द्वारा बोली जाती है।

बोलियाँ और साहित्य—व्रजभाषा की लगभग पांच प्रमुख बोलियाँ हैं। नैनीताल की भुक्सा, एटा मैनपुरी, बदायूं तथा बरेली की अन्तर्वेदी धौलपुर और पूर्वी जयपुर की डांगी गुड़गांव एवं भरतपुर की मिश्रित तथा करौली की जादोवाटी आदि प्रमुख हैं।

व्रजभाषा साहित्य का इतिहास अत्यन्त विस्तृत है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से इसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(१) प्राचीन काल—१४०० ई० से पूर्व का साहित्य।

(२) मध्यकाल—१४०० ई० से १८०० ई० तक।

(३) आधुनिक काल—१८०० ई० से आजतक।

प्राचीन काल में कुछ विद्वानों के अनुसार बीसलदेव रासो सबसे प्राचीन कृति है जिसे कवि नरपति नाल्ह ने लिखी है। डा धीरेन्द्र वर्मा इसे कतिपय भाषा वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर राजस्थानी की कृति बताते हैं। द्वितीय पृथ्वीराज रासो है पर उसकी प्रामाणिकता अभी तक संदिग्ध है। यही स्थिति जयमयंक और जस चन्द्रिका तथा आल्ह खण्ड की है। संस्कृत पुस्तकों में कुछ व्रजभाषा के नमूने मिले हैं जिनका उल्लेख प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने पुरानी हिन्दी नामक पुस्तिका में किया है। इसी समय का गुरु गोरखनाथ लिखित गद्य भी व्रजभाषा में उपलब्ध होता है किन्तु उसे भी पूर्ण रूप से प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

मध्यकाल में पन्द्रहवी शताब्दी के बाद से लेकर अठारहवी शताब्दी के अन्त तक का व्रजभाषा का इतिहास अत्यन्त समृद्ध है। पुष्टिमार्ग के दो महान कवि सूरदास और नन्ददास इसी समय में हुए हैं। गद्य के क्षेत्र में चौरासी

---

3 व्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन पृष्ठ ७८।

वल्लभाचार्य की वार्ता गोसाई गोकुलनाथ कृत ब्रजभाषा का सर्वप्रथम प्रामाणिक गद्य कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त अष्टछाप के शेष कवियों का भी कम महत्त्व नहीं है। स्वामी हितहरिवंश, तुलसीदास, नाभादास, नरोत्तमदास आदि ने ब्रजभाषा में रचनाएँ की हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में जो समय रीतिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है उसमें प्रायः समस्त कवियों ने ब्रजभाषा में ही साहित्य साधना की है। बिहारी, देव, भूषण, चिंतामणि, भिखारीदास आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आधुनिक काल में ब्रजभाषा में साहित्य साधना तो होती है, पर कोई उल्लेखनीय कृति या कृतिकार अब तक उत्पन्न नहीं हो पाया है।

ब्रजभाषा का भाषावैज्ञानिक विवेचन—

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) ब्रजभाषा में अपभ्रंश भाषा में प्राप्त सभी स्वर उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त ऐ और औ ध्वनियाँ भी मिलती हैं। इन सभी ध्वनियों के सानुनासिक और निरनुनासिक दोनों रूप ब्रजभाषा में मिलते हैं।

(२) प्रायः सभी अपभ्रंश कालीन व्यञ्जन ब्रजभाषा में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त रह, न्ह, म्ह तथा ल्ह ध्वनियाँ और भी हैं। तीन सकारों—'श, ष, स'—में से केवल स मिलता है।

(३) ए और ओ के ह्रस्व रूपों का प्रयोग भी ब्रजभाषा में हुआ है। ऋ के स्थान पर रि अथवा इर मिलते हैं।

(४) आदि के मध्यस्थ 'अ' के स्थान पर कभी कभी इ मिलता है, यथा— तस्य>तिस्स>तिसु

कपाट>कवाड>किवाड

कायस्थ>×>काइथ

(५) ब्रजभाषा में 'व' के स्थान पर म का आदेश मिलता है।

पावगे>पामैगे, आवतु>आम्तु।[4]

(६) आधुनिक ब्रजभाषा में ण के स्थान पर न मिलता है। यदि ण लिखते भी हैं तो उसका उच्चारण न जैसा ही होता है।

प्रवीण>प्रवीन (घ क १) वेणु>बेन (घ क ४)

तरुणी>तरुनि (वि स ८१) चरण>चरन (वि स ११३)

(७) हिन्दी में शब्द के अंत में जहाँ ड़, ढ़ ध्वनियाँ मिलती हैं, वहाँ ब्रजभाषा में र ध्वनि मिलती है।

पड़ा>परयो (वि स ६५), उघड़ी>उघरी (घ क १७)

---

4 ब्रजभाषा—डा धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ४२।

(८) ब्रजभाषा में 'ल' के स्थान पर 'र' का आदेश पाया जाता है—

उलझना>उरझत (वि स १६२), जलती>जरति (वि स १८४)

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) ब्रजभाषा में दो लिङ्ग—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग—तथा दो वचन—एक वचन और बहुवचन—मिलते हैं।

(२) खड़ी बोली हिन्दी की आकारान्त संज्ञाओं के स्थान पर ब्रजभाषा में ओकारान्त संज्ञाएँ मिलती हैं।

लड़का>लड़को, तिनका>तिनको (मू म ७) काला>कारो (सू)

(३) ब्रजभाषा में कर्ता बहुवचन में 'न, नि', कर्म एक वचन और बहुवचन में 'हि हिं' करण एक वचन में 'हिं', सम्बन्ध एक वचन में 'ह' तथा अधिकरण में 'हिं ह, ए' आदि विभक्ति प्रत्यय अवशिष्ट हैं।

दृगनि (वि स ८१), पुजनि (च क ४२), श्रवनन (भ्रमर गीतसार ७२) कैमासहिं (रा वार्ता ५), तिन्हहिं (छि वा १४१) ताहिं (भ्र गी सा १७) तिनहिं (वि स ३४)।

(४) ब्रजभाषा में कर्ता के लिए 'ने', कर्म—'कौं कूँ', करण—सौं सन, तई त, सम्प्रदान—कहँ ताईं हेत लगि कारण आदि, अपादान—हुँती, तैं सैं, सम्बन्ध—कउ का के की, अधिकरण—माँहि, माँझि में माँ आदि अनुसर्गों का प्रयोग किया जाता है।

(५) ब्रजभाषा में प्रेरणार्थक क्रिया बनाने के लिए 'अ, आ, आउ व' आदि प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है— चलइयौ, चलाइ, चलाइहै चलाउँगो चलवाइ चलवाओ।'[5]

(६) वर्तमानकालिक कृदन्त में 'त त' प्रत्यय लगाए जाते हैं तथा भूतकालिक कृदन्त में ओ, यो, ए प्रत्यय लगाए जाते हैं।

(७) ब्रजभाषा में क्रियार्थक संज्ञा के लिए 'ब तथा न' प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है।

**बुन्देली**

बुन्देली समस्त बुन्देलखण्ड की भाषा है। इसीलिए कुछ विद्वान् इसे बुन्देलखण्डी भी कहते हैं। डा उदयनारायण तिवारी के अनुसार इण्डिया गजेटियर में बुन्देलखण्ड की जो सीमाएँ निर्धारित की गई हैं वे भाषा की दृष्टि से ठीक नहीं उतरतीं। उक्त सीमा में आबद्ध कुछ स्थानों में बुन्देली नहीं बोली जाती और कुछ स्थान ऐसे हैं जहाँ बुन्देली बोली जाती है किन्तु उन्हें बुन्देलखण्ड में सम्मिलित नहीं किया गया।

सीमाएँ—बुन्देली के पूर्व में पूर्वी हिन्दी की बघेली बोली बोली जाती है।

---

[5] डा धीरेन्द्र वर्मा—ब्रजभाषा पृष्ठ ६२।

इसके उत्तर पश्चिम मे पश्चिमी हिन्दी की ब्रजभाषा और कन्नौजी बोली जाती हैं। इसके दक्षिण म मराठी और दक्षिण-पश्चिम मे राजस्थानी भाषा का क्षेत्र है। बुन्देली भाषा भाषी जनो की संख्या लगभग एक करोड है।

**बोलियाँ और साहित्य**—बुन्देली की कोई विशिष्ट बोलियाँ नहीं हैं। न्यूनाधिक अन्तर के साथ सारे प्रदेश मे प्राय एक ही भाषा का समान रूप से प्रयोग किया जाता है फिर भी स्थानीय प्रभावो से युक्त बोलियाँ इस प्रकार हैं—पँवारी बोली ग्वालियर के उत्तर पूर्व, दतिया तथा उसके पडोस मे बोली जाती है। पँवार राजपूतो की प्रधानता के कारण इसे पवारी कहते हैं। लोधान्ती अथवा राठोडी, हमीरपुर के राठ परगने तथा जालौन के आस पास म बोली जाती है। बुन्देली की खटोला बुन्देलखण्ड क आस-पास बोली जाती है। ब्रजभाषा का साहित्य मे प्राधान्य हो जाने के कारण बुन्देली म साहित्य नहीं लिखा गया। बुन्देलखण्ड के प्रतिभाशाली कवियो ने ब्रज अथवा अवधी म ही साहित्य सृजन किया है, यथा—तुलसी, केशव मतिराम ठाकुर पद्माकर आदि। विद्वानो का विश्वास है कि आल्हखण्ड मूलत बुन्देली म ही लिखा गया होगा किन्तु वर्तमान समय म उसका अत्यन्त विकृत रूप उपलब्ध होता है। केशव की रामचन्द्रिका म बुन्देली का प्रभाव यत्र तत्र दृष्टिगत होता है। लाल कवि के छत्रप्रकाश म बुन्देली का पर्याप्त मात्रा म प्रभाव देखने को मिलता है। वसे बुन्देली भाषा का प्रभाव महाराष्ट्र प्रदेश तक भली भाँति चिह्नित किया जा सकता है।

**ध्वन्यात्मक विशेषताएँ**—(१) ब्रजभाषा म पाये जाने वाले सभी स्वर बुन्देली म मिलते हैं। जब प्यार सूचक 'या' 'वा' प्रत्यय शब्द म जोडा जाता है तब आद्य 'ए' का 'इ' और 'ओ' का 'उ' हो जाता है, यथा—बटी>बिटिया छोरा>छुरवा।

(२) ब्रजभाषा के ऐ तथा औ क्रमश ए तथा ओ म परिणित हो जाते हैं।

(३) व्यञ्जनो क क्षेत्र म ब्रजभाषा की ड़ ध्वनि बुन्देली म नहीं मिलती इसक स्थान पर 'र' मिलता है, यथा—

पडो>परो, दौड>दोर झगडो>झगरो, छोडो>छोरा।

(४) डा तिवारी के अनुसार बुन्देली म जब 'आ' के बाद 'ह' आता है तो ह का लोप हो जाता है तथा अवशिष्ट 'अ' 'उ' म बदल जाता है यथा—चाहत>चाउत। अन्य स्थानो पर ह का लोप पाया जाता है, यथा—रहिन्ने>रइन्ने, बहुत>भउत, रहनी है>रजना है।

(५) शब्द के आदि म स्थित य को ज का आदेश हो जाता है, यथा—य>जे।

(६) पद के आदि म आने वाला 'य' 'ब' म परिणित हो जाता है।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) बुन्देली में ब्रजभाषा की इकरान्त और उकारान्त सनाओ का अभाव है, तथा—घरु>घर, सौति>सौत।

(२) ब्रजभाषा मे ओकारान्त सना शब्द वाकारान्त और इकारान्त सना शब्द याकारान्त मिलते हैं, यथा—

घोडो>घुरवा बेटी>बिटिया। कही कही इवा' अन्त शब्द भी मिलते हैं, यथा—बिल्ली>बिलइवा, चिडिया>चिरइया।

(३) बुन्देली म तियक बहुवचन मे ब्रजभाषा की तरह इन, इनि के स्थान पर केवल 'न का प्रयोग मिलता है, यथा—घोडे>घोरन, चाकर>चाकरन लोरो>लोरन्।

(४) बुन्देली में कर्ता के लिए 'ने, नें, कम मे को, खो सम्प्रदान मे को, खो, अपादान मे से सें सो, सम्बन्ध मे का के की खा' तथा अधिकरण मे म, मं' आदि अनुसर्गों का प्रयोग किया जाता है।

(५) उत्तम पुरुष सवनाम मे मैं के साथ साथ हा का प्रयोग भी किया जाता है तथा 'अपना के स्थान पर अपनो एव आप के स्थान पर सम्प्रदान म अपन खा का प्रयोग मिलता है।

(६) वतमान कालिक सहायक क्रिया हू के लिए आऊँ, आव तथा हैं क लिए आंय का एव है के लिए आय का प्रयोग किया जाता है।

(७) भूतकालिक सहायक क्रिया 'था' के लिए 'हतो, तो', 'थी के लिए हती, ती, थे' के लिए हते, ते तथा थी के लिए 'हतीं' तीं का प्रयोग किया जाता है।

(८) भविष्यत कालिक सहायक क्रिया गा के लिए 'हो गे' के लिए हू (उत्तम पुरुष) मध्यम पुरुष म 'गा के लिए हे, गे के लिए हो तथा अन्य पुरुष मे गा के लिए हे' और गे के लिए 'हू' का प्रयोग किया जाता है। इसक अतिरिक्त भविष्यत काल म गो गे, गी और गीं' के प्रयोग भी मिलते हैं।

(९) पूवकालिक क्रियाओ का निर्माण क्रिया (मूलधातु) के साथ क लगाकर किया जाता है, यथा—करके मारके, चलके।

(१०) अकमक भूतकालिक क्रियाओ के साथ भी बुन्देली मे न अनुसग का प्रयोग किया जाता है जबकि खडी बोली हिन्दी म एसी स्थिति मे ने का प्रयोग नहीं होता, यथा—वह चाहता था>वा ने चाउत-तो, वह बैठा>वा ने बठा।

(११) क्रियार्थक सना के लिए दो प्रत्ययो बौ, न का प्रयोग किया जाता है यथा—मारबो, मारन आदि।

कोष—हिन्दी के अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका बुन्देली म भिन्न अर्थों मे

प्रयोग किया जाता है, यथा—दादा पितामह (हिन्दी) पिता (बुन्देली), बुवा—पिता की बहन (हिन्दी)—मौसी (बुन्देली)।

**कन्नौजी**

का पकुब्ज किसी समय प्रदेश विशेष का ही नाम था। अब कन्नौज केवल एक सीमित स्थान का ही सूचक है। डा धीरेन्द्र वर्मा डा ग्रियर्सन के इस मत से सहमत नही हैं कि कन्नौजी ब्रजभाषा से कोई भिन्न भाषा है। अत उन्होंने ब्रजभाषा ग्रन्थ मे कन्नौजी का विवेचन ब्रजभाषा के ही अन्तर्गत किया है।

**सीमाएँ**—कन्नौजी के पूर्व म कानपुर दक्षिण म यमुना नदी उत्तर म गंगा पार हरदोई, शाहजहापुर तथा पीलीभीत और पश्चिम मे मथुरा मण्डल तक इसका क्षेत्र है। कन्नौजी के उत्तर पश्चिम म ब्रजभाषा तथा दक्षिण म बुन्देली बोली जाती है और पूर्व म अवधी भाषा का क्षेत्र है। इसके बोलने वालो की संख्या लगभग साठ-पसठ लाख है।

**बोलियाँ और साहित्य**—कन्नौजी का क्षेत्र सीमित होने के कारण अधिक बोलियो के लिए इसमे अवकाश नही है फिर भी तिरहारी इसकी प्रमुख बोली है। इसम साहित्य नाम मात्र को भी नही है। हाँ, लोक साहित्य का प्रकाशन अवश्य अभी-अभी किया गया है।

**ध्वन्यात्मक विशेषताएँ**—(१) ब्रजभाषा और कन्नौजी की वर्णमाला म कोई अन्तर नही है। ब्रजभाषा के सभी स्वर और व्यञ्जन इसम उपलब्ध है।

(२) ब्रजभाषा की तुलना कन्नौजी म ऐ औ की अपेक्षा ए ओ का प्रयोग अधिक मिलता है, यथा—बडो गओ, चलो।

(३) कन्नौजी म स्वर मध्यस्थ ह का लोप हो जाता है यथा—कहिहौं>कहौं।

(४) कन्नौजी म ब्रजभाषा की 'य व श्रुतियो का अभाव पाया जाता है, यथा—गयो (ब्रज) गओ (कन्नौजी) भवो/भयो (ब०) भओ।

**रूपात्मक विशेषताएँ**—(१) कन्नौजी म दो लिङ्ग तथा दो वचन होते हैं। इसमे आकारान्त शब्द बहुवचन म तिर्यक रूप मे एकारान्त न होकर आकारान्त ही रहते हैं यथा—लरिका लरिका को (बहु० व०)।

(२) कन्नौजी म कर्ता म ने कर्म सम्प्रदान म को, कौ करण अपादान म से सती सन तैं करि करिके सम्बन्ध म 'को के की तथा अधिकरण म माँ मैं मों, पर लौं आदि परसर्गों का प्रयोग किया जाता है।

(३) वर्तमानकालिक सहायक क्रिया हिन्दी की तरह हूँ है है आदि ही हैं।

(४) भूतकालिक सहायक क्रिया के रूप म था थे, थी के साथ साथ 'हतो हती हते, हतीं का प्रयोग भी मिलता है।

(५) भविष्यत्‌ कालिक सहायक क्रियाओं में गा, गे गी के साथ साथ 'है युक्त क्रियाओं का प्रयोग भी कन्नौजी में किया जाता है।

(६) पूर्वकालिक क्रिया की निष्पन्नता के' का धातु के साथ प्रयोग कर की जाती है यथा—मारके/मारिके।

**बाँगरू अथवा हरियाणवी**

यह बाँगर प्रदेश की बोली है। इस क्षेत्र में बाँगर' शब्द का प्रचलन अधिक नहीं है। इस प्रदेश के लिए हरियाणा शब्द अधिक लोक प्रिय है। राजनैतिक दृष्टि से हरियाणा में गुड़गाँव तथा महेन्द्रगढ़ जिला भी सम्मिलित है पर भाषा की दृष्टि से ये दोनों जिले राजस्थानी भाषा की मेवाती और अहीरवाटी' के अन्तर्गत आते हैं।

सीमाएँ—बाँगरू के अन्तर्गत दिल्ली प्रदेश, रोहतक और करनाल के पूरे जिले, जींद हिसार का पूर्वी भाग, नाभा और पटियाला के दक्षिण भाग आते हैं। इसके उत्तर में अम्बाला दक्षिण में गुड़गाँव पश्चिम में पटियाला और पूर्व में यमुना नदी का दोआब आता है। इस प्रकार इसके उत्तर पश्चिम में पंजाबी भाषा पूर्व में खड़ी बोली और दक्षिण पश्चिम में मेवाती एवं राजस्थानी (मारवाड़ी) आदि भाषाएं बोली जाती हैं। इस भाषा के बोलने वालों की जनसंख्या लगभग ४०–४५ लाख है।

बोलियाँ और साहित्य—हरियाणवी/बाँगरू क्षेत्र सीमित होने के कारण इसमें अधिक बोलियाँ नहीं हैं। रोहतक के आस पास की बोली को जाटू' या हरियाणवी कहते हैं। चरखी दादरी के आस-पास की बोली में अहीरवाटी का मिश्रण देखने को मिलता है। वास्तव में हरियाणा प्रदेश की बोलियाँ जाति गत विशेषताओं से अधिक प्रभावित हैं। (१) जाटों की बोली—जो बाँगरू की प्रमुख बोली कही जा सकती है। (२) अहीरों की बोली—जो जाटू और अहीरवाटी का अच्छा मिश्रण कही जा सकती है, यथा—रोहतक के पास पास का व्यक्ति 'कहाँ' के लिए 'कड़ शब्द' का प्रयोग करेगा अहीर कित और ब्राह्मण, वैश्य प्राय कठ शब्द का जो राजस्थानी मारवाड़ी शब्द है प्रयोग करेगा। झज्झर के आस पास के लोग किग्घे' शब्द का इसके लिए प्रयोग करते हैं। इसके साथ साथ चमारों की बोली इनसे भिन्न है। ये लोग ड के स्थान पर ल का प्रयोग करते हैं। तोड़ेगा क्या ? वाक्य जाट लोग कहेंगे तोड़गा के अहीर तोड़ागो के और चमार आदि जातियाँ तोलागा के' आदि कहेंगे। अतः 'हरियाणवी' का समाज शास्त्रीय अथवा जातीय परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करना परमावश्यक है। मजेदार बात तो यह है कि रेवाड़ी महेन्द्रगढ़ और नारनौल तीनों स्थानों की बोलियों में एक तात्त्विक अन्तर है जिसका अध्ययन भाषा वैज्ञानिकों के लिए बड़ा मनोरञ्जक हो सकता है।

हरियाणवी में उत्कृष्ट साहित्य का नितान्त अभाव है पर इसके लोक गीत एवं लोक कथाएँ अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। श्री रणधावा ने हरियाणा के लोक गीतों का एक अच्छा संकलन प्रकाशित किया है तथा श्री शंकरलाल यादव का लोक गीतों पर लिखा गया शोध ग्रन्थ उल्लेखनीय रचना है। आधुनिक लोक गीतकारों में श्री रामानन्द, प० लखमीचन्द तथा भीष्म आर्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लोक गीत का एक उदाहरण लीजिये जिसमें एक सैनिक का अपनी पत्नी के प्रति कैसा मार्मिक उद्गार है—

'छुट्टी के दिन पूरे हो गे, सिंहापुर न जाणा होगा।
मेरे नाम की चूड़ी करदे मेरा न कम आणा होगा॥

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) बाँगरू में प्रायः वे सब ध्वनियाँ वर्तमान हैं जो खड़ी बोली हिन्दी में पायी जाती हैं।

(२) खड़ी बोली हिन्दी के अन्त्य 'न' को 'ण' उच्चारण करने की प्रवृत्ति बाँगरू में उपलब्ध होती है, यथा—अपना>अपणा, आना>आणा, जाना>जाणा।

(३) बाँगरू में 'ल' का उच्चारण 'ळ' की तरह होता है पर जब 'ल' द्वित्व होकर आता है तो इसका उच्चारण 'ल्ल' ही होता है। बाँगरू की एक बात और विचारणीय है कि 'ल' को सर्वत्र 'ळ' नहीं होता, यथा—'बोलना' में 'ल' को 'ळ' का उच्चारण किया जाता है, यथा—'बोळणा' पर 'चलना' का 'चळणा' उच्चारण बाँगरू में नहीं होता। इसी प्रकार 'पालना' का 'पाळणा' हो जाता है पर 'हालना' का 'हालणा' ही उच्चरित किया जाता है।

(४) 'ड' का बाँगरू में अधिकांशतः 'ड़' उच्चारण किया जाता है, यथा—बड़ा>बड्डा, पड़ना>पड़णा आदि। स्वार्थिक 'ड' प्रत्यय (राजस्थानी) बाँगरू में मिलता है। तद्धित में 'ड' प्रत्यय का प्रयोग बाँगरू में मिलता है, यथा—बडड्योडो, बडयोडो। इसी प्रत्यय का प्रयोग कृदन्त रूप में भी मिलता है यथा—कह्योडा/डा, धडयोडा।

(५) बाँगरू में हिन्दी क्रियाओं के 'त' के स्थान पर पंजाबी के अनुकरण पर 'द' मिलता है। भिवानी के आस पास के गाँवों में इसका विशेष प्रयोग देखा जाता है, यथा—खाता>खाँदा, जाता<जाँदा, पर कहता का कहँदा नहीं होता।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) हरियाणवी/बाँगरू में संज्ञा शब्द ब्रजभाषा की तरह ओकारान्त न होकर आकारान्त ही होते हैं, यथा—घोडा, लडका, पैसा आदि।

(२) बाँगरू में तिर्यक बहुवचन के रूपों में खड़ी बोली हिन्दी के 'ओकारान्त' रूपों का अनुसरण न करके राजस्थानी आकारान्त रूपों का ही

अनुकरण दृष्टिगत होता है, यथा—(एकवचन) घोड़ा>घोड़ों (बहुवचन) जैसा घोड़ों ने मारो, न कि घोड़ा को मारो।

(एकवचन) मिन्न>मिन्नां, (बहुवचन), जैसे कई मिन्नां से कोनी मिल्या।

(३) बाँगरू में कर्त्ता में ने, न' कर्म में ने, नै, को, करण में 'स सेती, स', सम्प्रदान में 'स खातिर', अपादान में ती, तै, स (ये परसर्ग करण में भी प्रयुक्त होते हैं) सम्बन्ध में 'का, के की को तथा अधिकरण में 'मैं, में, मां, मांह, पर' आदि परसर्गों का प्रयोग किया जाता है।

(४) वर्तमानकालिक सहायक क्रिया है के स्थान पर सै, 'हो' के स्थान पर 'सो 'हूँ के स्थान पर 'स सां तथा हूँ' के स्थान पर 'सूं के प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(५) भूतकालिक सहायक क्रिया में खड़ी बोली के थो, था थी थे थीं आदि का ही प्रयोग किया जाता है।

(६) भविष्यत् कालिक क्रिया के रूप भी हिन्दी की तरह गा गे गी से सम्पन्न होते हैं।

(७) क्रियार्थक संज्ञा की निष्पन्नता 'अण' प्रत्यय की सहायता से ही की जाती है, यथा—मरणा>मरण, रोणा>रोण चलणा>चलण।

**पूर्वी हिन्दी**

पश्चिमी हिन्दी और बिहारी के बीच के भू भाग में जो बोलियाँ बोली जाती हैं उन्हें पूर्वी हिन्दी शीर्षक के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। पूर्वी हिन्दी के उत्तर में पहाड़ी भाषाएँ, पश्चिम में बुन्देली एवं कन्नौजी, पूर्व में बिहारी एवं नागपुर की बोलियाँ तथा दक्षिण में महाराष्ट्री भाषाएँ बोली जाती हैं। इस प्रकार पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश का भू भाग, बघेलखण्ड बुन्देल का कुछ भाग छोटा नागपुर तथा मध्यप्रदेश के कुछ भाग आते हैं। मध्यप्रदेश के जबलपुर मण्डला तथा छत्तीसगढ़ के जिले पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत आते हैं। पूर्वी हिन्दी की तीन प्रमुख बोलियाँ हैं—(१) अवधी (२) बघेली तथा (३) छत्तीसगढ़ी। डॉ उदयनारायण तिवारी के अनुसार भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अवधी और बघेली में कोई विशेष अन्तर नहीं है। डॉ ग्रियर्सन ने केवल जनता की भावना के आधार पर ही इसे पृथक् बोली के रूप में स्वीकार किया है। छत्तीसगढ़ी को आपने महाराष्ट्री के प्रभाव के कारण अवश्य पृथक् बोली स्वीकार किया है।[6] इन तीनों विभाषाओं में अवधी ही एक सुसम्पन्न विभाषा है।

---

[6] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ २६४।

**अवधी**

अवधी से अवध नगर की भाषा का तात्पर्य कदापि नहीं लेना चाहिए। अयोध्या का अपभ्रंश अवध है। यह नगर इस भाषा क्षेत्र का केन्द्र स्थल होने के कारण इसे अवधी कहते हैं। कुछ विद्वान् इसे कोसली तथा कुछ बैसवाड़ी भी कहते हैं। अधिकांश विद्वानों के मत से इस भाषा का अवधी नाम ही अधिक उपयुक्त है।

**सीमाएँ**—अवधी के उत्तर में पहाड़ी भाषाएँ, दक्षिण में महाराष्ट्री, पूर्व में बिहारी की उपभाषा भोजपुरी तथा पश्चिम में बुन्देली और कन्नौजी बोलियाँ बोली जाती हैं। इस प्रकार हरदोई जिले को छोड़ कर समस्त अवध का क्षेत्र अर्थात् लखीमपुर खीरी, बहराइच, गोंडा, बाराबंकी, लखनऊ, सीतापुर, उन्नाव, फैजाबाद, सुलतानपुर, रायबरेली के इलाके आते हैं। जौनपुर और मिर्जापुर के पश्चिमी भाग तथा फतेहपुर और इलाहाबाद में भी अवधी बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग दो करोड़ है।

**बोलियाँ और साहित्य**—डा० बाबूराम सक्सेना ने अवधी की तीन विभाषाएँ बताई हैं—(१) पश्चिमी, (२) केन्द्रीय और (३) पूर्वी। खीरी, सीतापुर, लखनऊ, उन्नाव, फतेहपुर की अवधी को पश्चिमी विभाषा कहेंगे। बहराइच, बाराबंकी तथा रायबरेली की अवधी को केन्द्रीय विभाषा कहते हैं। गोंडा, फैजाबाद, सुलतानपुर, इलाहाबाद, जौनपुर तथा मिर्जापुर की अवधी को पूर्वी विभाषा कहेंगे।

जहाँ तक अवधी के साहित्य का सम्बन्ध है वह प्रचुर मात्रा में है। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की दो शाखाएँ—प्रेममार्गी शाखा और राम भक्ति शाखा का समस्त साहित्य इसी भाषा में लिखा गया है। प्रेममार्गी शाखा के कुतबन, मंझन, जायसी और उसमान और नूर मुहम्मद उत्कृष्ट कोटि के कलाकार हैं। इनमें भी जायसी कृत पद्मावत महाकाव्य हिन्दी साहित्य के महाकाव्यों में अपना तृतीय स्थान रखता है। रामभक्ति शाखा में हिन्दी साहित्य के *कवि शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास का नाम* विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लोक विश्रुत तथा भारतीय जनता के गले का हार 'रामचरित मानस' तुलसीदासजी द्वारा इसी भाषा में लिखा गया है। बात यह है कि इस भाषा में साहित्य सृजना आँधी की तरह प्रारम्भ हुई और तूफान की तरह बन्द हो गई। आज कल पुनः अवधी में साहित्य लिखने की ओर कुछ लोग उन्मुख हुए हैं जिनमें वंशीधर और रमई काका के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

**ध्वन्यात्मक विशेषताएँ**—(१) अवधी में प्रायः वे सभी स्वर ध्वनियाँ पाई जाती हैं जो खड़ी बोली में हैं परन्तु अवधी में ए ओ का ह्रस्व रूप भी

मिलता है जो खड़ी बोली मे नही है, यथा— एतना कहत नीति रस भूला। (रामचरित मानस, अयो का २२६/३)

केहि सोहाति रथ वाजि गजाली। (मानस अ का २२८/४)

(२) 'ऐ और औ' को 'अइ तथा अउ' लिखने एव उच्चारण करने की प्रवृत्ति अवधी भाषा मे लक्षित होती है, यथा—जइसे अउरत, सराहइ (मा अ १६/२), परउ (मा अ २१), सकउ (मा अ २१)।

(३) अवधी मे 'य और व' श्रुतियों का अभाव मिलता है, यथा— जिआवत (मा अ २०/१) (हिन्दी जिवाना), छुअत (मा अ २८/२), छुवत (हि), करिअ (मा अ ३६/३), करिये (हि), गनिअ (मा अ का ४१/१), गिनिये (हि)।

(४) अवधी में ण के स्थान पर 'न' पाया जाता है। यद्यपि तत्सम शब्दावली मे 'ण लिखा जाता है तो भी उसका उच्चारण अवधी मे 'न की तरह ही किया जाता है, यथा—चरण>चरन (मा अ ४३/१), मणि>मनि (मा अ का ४३/१), प्राण>प्रान (मा अ का ४५/१)।

(५) अवधी मे 'ड के स्थान पर प्राय 'र' मिलता है। कुछ विद्वानो के मत में अवधी म 'ड ढ के स्थान पर 'ड़, ढ़ ध्वनिया मिलती हैं। उघड़ते हैं>उघरहिं (मा बा ५/४), जोड़ कर>जोरि (मा बा ७ ग), जुड़ती> जुरइ (मा बा ७/४), थोड़े म>थोरेमहु (मा बा ११/३), पर रामचरित मानस मे मैंने देखा है कि 'ड ध्वनि का प्रयोग भी हुआ है वहाँ 'ड को र नहीं हुआ, यथा—

बड' (मा बा ८), छाडि (मा बा ७/२), बडे (मा बा ५/३) जड (मा बा ११/४) उडाही (मानस बा ११/६)।

(६) 'व ध्वनि अवधी मे ब' की तरह उच्चरित होती है तथा व' उ और ओ' मे भी परिवर्तित हो जाता है, यथा—

विधि>बिधि (मा बा ५/२), वारि>बारि (मा बा ६),
विचार>बिचार (मा बा ६), वेश>बेष (मा बा ६/३),
विदित>बिदित (मा बा ६/४), वस्तु>बस्तु (मा बा ७),
प्रभाव>प्रभाउ (मा बा १२/१) चाव>चाउ (मा बा १४/४)।

(७) अवधी मे 'य के स्थान पर 'ज का आदेश होता है तथा स्वर रूप म इ' मे परिवर्तित हो जाती है, यथा—

सुयश>सुजस (मा अ ३१२) अद्य>अज्ज>आजु (मा अ ३१२/१), युग>जुग (मा अ ३१५/३), काय>काज (मा अ ३१७/३)।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) अवधी मे प्राय दो लिङ्ग और दो वचनो का प्रयोग किया जाता है। एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए ऐं प्रत्यय

लगाया जाता है। तिर्यक रूप एक वचन में 'हि' और 'इ' प्रत्यय जोड़े जाते हैं और बहुवचन बनाने के लिए 'न, न्ह नि, न्हि' आदि प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है।

(२) अवधी में पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए 'नि' इनि तथा आइनि प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। कहीं कहीं इया प्रत्यय का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है यथा—मौसा>मउसिया।

(३) अवधी में कर्ता 'परसर्ग रहित सविभक्तिक या निर्विभक्तिक रहता है कर्म के लिए 'का के, कां तथा कहु करण अपादान के लिए सउँ सों तें सेंति हुत, सम्प्रदान के लिए बदे, बदे सम्बन्ध के लिए के कर, केर के का तथा अधिकरण के लिए म में पर मह, महं माँझा माँह आदि परसर्गों का प्रयोग किया जाता है।

(४) वर्तमानकालिक सहायक क्रिया के लिए आटै बाट है तथा अहै आदि शब्दों का प्रयोग अवधी में किया जाता है।

(५) भूतकालिक सहायक क्रिया के लिए भए रहे आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

(६) भविष्यत काल के लिए मूल धातु के साथ हिन्दी 'गा गे गी' के स्थान पर बूँ ब बे बो तथा ह' प्रत्यय के विभिन्न विकृत रूपों का प्रयोग किया जाता है।

(७) पूर्वकालिक क्रिया के लिए कै, के का प्रयोग मूल क्रिया के साथ किया जाता है यथा—देख कै देखके।

(८) क्रियार्थक संज्ञा के लिए मूल धातु के साथ ब प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है, यथा—देखब, कहब चलब आदि।

(९) प्रेरणार्थक क्रिया आव प्रत्यय की सहायता से निष्पन्न की जाती है, यथा—सुनावहिं, चलावहिं डरावहिं आदि। आए और ए प्रत्ययों का प्रयोग भी अवधी में लक्षित किया जा सकता है।

**बघेली**

बघेलखण्ड में बोली जाने के कारण इसका नाम बघेली या बघेलखण्डी पड़ा। सोलकी राजा व्याघ्रदेव के नाम पर इस क्षेत्र का नाम बघेलखण्ड पड़ा। विद्वान लोग भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इसे पृथक बोली न मान कर अवधी की ही दक्षिणी उपशाखा कहते हैं। बघेलखण्ड के बाहर भी बघेली बोली जाती है।

सीमाएं—इसके उत्तर में मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की सीमा दक्षिण में बालाघाट पश्चिम में दमोह और बाँदा की पूर्वी सीमा तथा पूर्व में मिर्जापुर, बिलासपुर और छोटा नागपुर की पश्चिमी सीमाएँ आती हैं। इस प्रकार बघेली के उत्तर दक्षिण में अवधी भाषा, और भोजपुरी, पूर्व में छत्तीसगढ़ी,

दक्षिण मे मराठी तथा पश्चिम मे बुन्देलखण्डी बोली जाती है। इसके बोलने वालो की संख्या लगभग ७० लाख है।

**बोलियाँ और साहित्य**—बघेली की दो प्रकार की बोलियाँ देखने मे आती हैं। एक तो शुद्ध बघेली जो सम्पूर्ण बघेलखण्ड मे बोली जाती है और दूसरी मिश्रित बघेली जो समीपस्थ बोलियो से मिलाकर सीमान्त क्षेत्रो में बोली जाती है। पश्चिम मे फतेहपुर, बाँदा तथा हमीरपुर मे मिश्रित बघेली बोली जाती है। इसमे बुन्देली का मिश्रण हुआ है। दक्षिण की मिश्रित बोली को मण्डला जिले की विभिन्न जातियाँ बोलती हैं इसमे मराठी और बुन्देली का मिश्रण हुआ है। जालौन के आस पास की बोली का नाम निबट्ठा है, इसमे बुन्देली की प्रधानता होने के कारण कुछ लोग इसे बुन्देली की बोली मानते हैं। इसमे ललित साहित्य का अभाव है।

**ध्वन्यात्मक विशेषताएँ**—(१) अवधी मे जहाँ 'व का ब' उच्चारण मिलता है वहा 'व' ध्वनि की सुरक्षा भी अनेक स्थानो पर दृष्टिगत होती है, परन्तु बघेली मे उक्त ध्वनि सुरक्षा का प्राय अभाव ही पाया जाता है, यथा—पावा>पाबा आवा>आबा आदि।

(२) बघेली मे आद्य स्वर का लोप देखने मे आता है, यथा—घोड़ा> घ्वाड तुमरे>त्वारे, मोर>म्वार। उक्त नियम की निष्पन्नता यो भी की जा सकती है कि बघेली मे उ ओ, को वा का आदेश हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरणो मे यह नियम अधिक अच्छी तरह घटित होता है।

शेष कार्य अवधी की तरह ही सम्पन्न होता है।

**रूपात्मक विशेषताएँ**—(१) बघेली मे वचन और लिङ्ग की प्रक्रिया अवधी की तरह ही होती है।

(२) परसर्गों के क्षेत्र मे अवधी के परसर्गों के साथ-साथ कर्म सम्प्रदान में 'कहा और का, करण, अपादान म 'से और तार सम्बन्ध म कर' और अधिकरण म 'म' अनुसर्गों का अतिरिक्त प्रयोग लक्षणीय है।

(३) सर्वनामो मे 'म्वा, त्वा, वहि यहि आदि प्रयोग भी बघेली की अपनी विशेषताएँ हैं।

(४) विशेषणो मे भी मूल शब्द के साथ 'हा प्रत्यय जोड देने की प्रवृत्ति बघेली में पायी जाती है, यथा—निकहा।

(५) हिन्दी क्या' के स्थान पर बघेली मे काह का प्रयोग किया जाता है।

(६) भूतकालिक सहायक क्रिया म रहा और रहेन के साथ-साथ बुन्देली ता और तें भी मिलते हैं।

(७) क्रियार्थक संज्ञा में ब प्रत्यय के साथ-साथ मैं' प्रत्यय का प्रयोग भी बघेली मे मिलता है, यथा—चराम का।

(८) भविष्यत कालिक क्रिया में 'ब' प्रत्यय के साथ 'ह' प्रत्यय वाले प्रयोगों की प्रधानता है, यथा—जइहौं कइहौं।

(९) बघेली में अवधी 'होब' को 'भ', 'जाब' को 'ग' का आदेश हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'देब' के स्थान पर दीन्ह, लेब के स्थान पर 'लीन्ह' और 'करब' के स्थान पर कीन्ह जैसे प्रयोग मिलते हैं।

छत्तीसगढ़ी

मध्यप्रदेश के निश्चित भूखण्ड को छत्तीसगढ कहा जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस क्षेत्र में कभी छत्तीस गढ थे इसलिए इसे छत्तीस गढ कहा जाता है। कुछ का कहना है कि चेदि राजाओं के गढ यहाँ पर होने से इसे चेदीशगढ कहा जाता था। बाद में यह विकृत होकर छत्तीसगढ हो गया। दूसरा मत भाषा विज्ञान के अधिक समीप है। इस क्षेत्र की बोली को ही छत्तीसगढी कहते हैं। इसके अतिरिक्त इसे 'लरिया' और 'खल्टाही' भी कहते हैं। इसमें ललित साहित्य का सर्वथा अभाव है।

सीमाएँ—छत्तीसगढी के उत्तर में पलामू दक्षिण में बस्तर, पश्चिम में बघेलखण्ड और पूर्व में उडीसा प्रदेश आता है। इस प्रकार इसके उत्तर में भोजपुरी पूर्व में उडिया पश्चिम में बघेलखण्डी तथा दक्षिण में हलबी बोली जाती है। अतः छत्तीसगढी के अन्तर्गत, सरगुजा कोरिया बिलासपुर, रायगढ़ खरागढ रायपुर नदगाँव, बालाघाट का पूर्वीभाग सक्ति सारंगगढ के कुछ भाग, उदयपुर तथा जशपुर राज्य लिए जा सकते हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ८० लाख है।

भाषा-वैज्ञानिक विशेषताएँ—(१) छत्तीसगढी में महाप्राण ध्वनियों के प्रति विशेष आकर्षण की प्रवृत्ति लक्षित होती है, यथा—जन>झन जात>झाथ दौड>धौड कचहरी>कछेरी।

(२) स के स्थान पर छत्तीसगढी में छ का आदेश हुआ मिलता है, यथा—सीता>छीता सात>छात।

(३) कर्म सम्प्रदान में 'का ला, बर' करण अपादान में 'ले से' सम्बन्ध में 'के' अधिकरण में 'माँ' अनुसर्गों का प्रयोग किया जाता है।

(४) एकवचन से बहुवचन बनाने के लिए 'मन्' शब्द साथ जोड दिया जाता है। इसके लिए अन् प्रत्यय का प्रयोग भी होता है।

(५) क्रियार्थक-संज्ञा ब प्रत्यय से भी सम्पन्न होती है और 'अण' प्रत्यय से भी।

उपरिकथित ब्रज अवधी आदि हिन्दी की ही विभाषायें हैं और विस्तृत अर्थ में इन्हें मिलाकर हिन्दी भाषा कहा जाता है।

---

नवम अध्याय

# हिन्दी का उद्भव और विकास

मध्यदेश का महत्त्व—राष्ट्रभाषा की समस्या—संस्कृत, पालि, प्राकृत—मध्यदेश से सम्बद्ध—अपभ्रंश में पश्चिमी हिंदी के उपकरण—ध्वन्यात्मक उपकरण—रूपात्मक उपकरण—नाम—आख्यात—उपसर्ग—प्रत्यय—हिंदी शब्द निर्वचन—हिंदी के प्रयोग एवं प्रारम्भ की कहानी—हिंदी, उर्दू—समानता—विषमता।

## हिन्दी का विकास

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ॥'

(मनुस्मृति द्वितीयाध्याय)

(इस देश के ब्राह्मणो से सारे जगत् के लोग अपना अपना जीवन व्यतीत करने की रीति सीखे) भारत के ऐसे एक निस्पृह तपस्वी और महान राज नयिक के ये विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इससे पूर्व कि इसकी महत्ता पर विचार विमर्श करें यह आवश्यक है कि उस देश की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करले। मनु ने ही इस पुण्यभूमि की सीमाएँ इस प्रकार से दी हैं—

'हिमवत विन्ध्ययोमध्य यत प्राग् विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेश प्रकीर्तित ॥'

यही वह मध्य देश है जो शिक्षा और ज्ञान में भारत का अग्रणी रहा है। इस स्थान का भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। आर्य जन जब सप्तसिंधु प्रदेश से फलते फैलते आधुनिक बिहार तक पहुँच गए और इसी बीच वे अनेक अनार्य जातियों के सम्पर्क में आए तथा जलवायु के अनापेक्षित प्रभाव से ग्रस्त हुये तब आर्यों की महत्त्वपूर्ण भाषा छान्दस' का शुद्ध उच्चारण उनके लिए एक क्लिष्ट कार्य हो गया। दूसरे, कुछ सांस्कृतिक एव धार्मिक मत भेदो का भी प्रस्फुटन हुआ। परिणामत एक भाषा की समस्या आर्य परिवार के सामने आ उपस्थित हुई। यह पहला अवसर था कि आर्यों को एक बिलकुल नवीन समस्या का साम्मुख्य करना पडा। प्राच्य जन जो छान्दस का शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ थे तथा कुछ सीमा तक अपनी बोली के प्रति अभिमान का प्रदर्शन भी कर रहे थे (सम्भवत ग्लानि को छुपाने हेतु) छान्दस भाषा को स्वीकार करने को तत्पर नहीं थे। इसमें ब्राह्मणो की धार्मिक कट्टरता भी एक कारण हो सकती है, क्योंकि उपनिषदों में उन्हें व्रात्य कहकर सम्बोधित किया गया है। ये व्रात्य इसलिए थे कि वैदिक धर्म में दीक्षित नहीं हुए थे। इसलिए कुछ विद्वान् इन्हें आर्यों से भिन्न प्रजाति के जन मानते हैं। पर मैं ऐसा समझता हूँ कि ये आर्यों की वह शाखा थी जो आलस्यवश ब्राह्मणो द्वारा निर्धारित धार्मिक कृत्यों एव नियमो का पालन नहीं कर पा रही थी तथा अनार्यों के सम्पर्क ने उनकी इस प्रवृत्ति को बढ़ावा भी दिया था। खैर! जो कुछ भी हो पर एक सर्वमान्य भाषा की समस्या तो प्रस्तुत हो ही गई थी।

उस समय तक छान्दस भाषा लगभग तीन रूपो में विकसित हो चुकी थी जिनके उल्लेख एव प्रमाण प्राचीन वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध हो

जाते हैं —१ पश्चिमोत्तरीय बोली, छान्दस भाषा के नियमों के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही थी और विकास के चिह्नों से कम से कम प्रभावित थी। २ प्राच्या, छान्दस से पर्याप्त मात्रा में दूर जा चुकी थी। डॉ॰ चाटुर्ज्या का मत है कि प्राच्यों के लिए पश्चिमोत्तरीय प्रदेश की भाषा काफी दुर्बोध हो गई होगी। अनेक ध्वन्यात्मक परिवर्तनों की सूचना महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ में दी है। ३ मध्यदेशीया उक्त दोनों के बीच में एक चाली और पनप रही थी जो पश्चिमोत्तरी के समान छान्दस के समीप होते हुए भी कुछ विकास के चिह्नों से युक्त थी। छान्दस का 'त' प्राच्या में यदि 'ट' हो जाता है तो इसमें 'त' हुआ होगा। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि जब कभी भी किसी प्रदेश या राष्ट्र में एक से अधिक भाषाएँ प्रकाश में आती हैं तब जनसम्पर्क भाषा का स्थान कौनसी भाषा ले—ऐसा विवाद आता ही है और उनका समाधान भी स्वाभाविक रूप से हो जाया करता है। अतः उपरिकथित विवाद का हल इसी उदीच्य मध्यदेश की बोली से विकसित संस्कृत भाषा के प्रादुर्भाव के साथ ही हो गया।[1] गौतम बुद्ध जो अपने प्रवचनों को प्राच्या के अतिरिक्त किसी भी अन्य भाषा में लिपिबद्ध करने को प्रस्तुत नहीं थे, उनके अनुयायियों ने भी इस नवीन भाषा को सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस भाषा को सम्भवतः ग्रहण करने का एकमात्र कारण मध्यदेशीय विद्वानों के प्रति शेष भारत खण्ड के जनों का अमित विश्वास एवं श्रद्धा ही है अन्य कुछ नहीं। इसीलिए प्रारम्भ में मनु द्वारा प्रदत्त मध्य देश की प्रशस्ति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा गया है। क्योंकि उसमें पूर्ण सत्य को उद्घाटित किया गया है काल्पनिक गौरवगान नहीं। संस्कृत की स्वीकृति इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। डा॰ चाटुर्ज्या के इस विषय पर विचार अत्यन्त विचारणीय हैं—मध्य प्रदेश वास्तव में भारत का हृदय एवं जीवन संचालन का केन्द्र स्थान था। वहाँ के निवासियों के हाथ में एक तरह से अखिल भारतीय ब्राह्मणीय संस्कृति का प्राथमिक सूत्रपात था तथा हिन्दू जगत के पवित्रतम देश के रूप में मध्य देश की महत्ता सर्वत्र सर्वमान्य थी। परम्परा एवं इतिहास द्वारा वर्णित सार्वभौम साम्राज्यों के केन्द्र मध्यदेश एवं तन्निकटस्थ आर्यावर्त्त के अन्य क्षेत्रों में ही रहे हैं।[2]

भाषा प्रसार की दृष्टि से मध्य देश का प्रभुत्व आजतक विकास की ओर ही उन्मुख है। कारण चाहे कुछ भी रहा हो, पर मध्य देश की भाषा संस्कृत काल से लेकर आज तक अखिल भारतीय जन सम्पर्क की भाषा के गौरवमय पद से विभूषित होती रही है। समय अपनी अबाध गति से चलता रहा।

---

[1] डा॰ चाटुर्ज्या कृत भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी पृष्ठ १८५-८६।

[2] वही पृष्ठ १९१।

संस्कृत ने भारत में ही नहीं, भारत से बाहर जावा सुमात्रा, कम्बोडिया, चीन इण्डोनेशिया बर्मा तथा लंका तक प्रवेश प्राप्त कर लिया। वैयाकरणों ने भाषा की शुद्धता की सुरक्षा हेतु कठोर नियमों का विधान किया साहित्यकारों ने शब्दावली का अधिक परिमार्जन एवं परिष्करण कर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। वैज्ञानिकों ने पारिभाषिक शब्दावली से इसके कोष को अक्षय किया। इन सब से भाषा में नवीन शब्दावली का समावेश हुआ। वहां यह विद्वानों की एकमात्र निधि बनकर रह गई तथा जन साधारण के लिए दुर्बोध होती चली गई और नवीन जन भाषाएँ रंगमञ्च पर उपस्थित हुई। पुन भाषागत संघर्ष प्रारम्भ हुआ। जैनों और बौद्धों ने एक बार फिर प्राच्य भाषाओं को प्रश्रय दिया और उन्हें अखिल भारतीय भाषा बनाने का असफल प्रयास किया। अशोक के शासन काल तक ऐसा लगता है कि प्राच्य भाषाओं का प्रमुत्व रहा। अशोक के शिलालेखों की भाषाएँ उनके प्रभुत्व का संकेत देती हैं पर जब इनसे काम चलता न देख बौद्ध भिक्षुओं को भगवान् तथागत के प्रवचनों को पुन मध्यदेशीय भाषा पालि में अनूदित करना पड़ा। इस प्रकार मागधी भाषा को मध्यदेशीय भाषा के लिए अपना सिंहासन जो कुछ समय के लिए हस्तगत कर लिया था, छोड़ना पड़ा। मध्यदेशीय पालि भी संस्कृत की तरह भारत की ही नहीं, अपितु लगभग समस्त एशिया (जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म फैला) की धार्मिक भाषा स्वीकृत कर ली गई। यह भ्रम अब प्राय समाप्त हो गया है कि पालि मगध प्रदेश की भाषा थी। अब तक मध्य देश की पृष्ठभूमि इतनी सशक्त हो चुकी थी कि सांस्कृतिक क्षेत्र में उसे अपदस्थ करना सुकर कार्य न रह गया था। द्वितीय, कोई ऐसा चाहता भी न था क्योंकि अखिल भारतीय हिन्दू समाज की सांस्कृतिक धरोहर उस पुण्यभूमि में समायी हुई थी और है। यही कारण है कि पालि के पश्चात् इसी की पुत्री शौरसेनी प्राकृत पुन समस्त भारत की साहित्यिक भाषा बनी। जैन समाज, जो अभी तक अर्ध मागधी का दामन थामे बैठा था, इस ओर झुक गया और इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत अखिल भारतीय भाषा बन गई। शौरसेनी के पश्चात् महाराष्ट्री, जो इसी का एक पश्चकालीन रूप है जन सम्पर्क की भाषा बनी। आजकल सभी भाषाविद् इस बात पर एक मत हैं कि महाराष्ट्री दक्षिण की कोई प्राकृत विशेष नहीं, बल्कि शौरसेनी का ही विकसित रूप है और मध्यदेशीय भाषा है तथा दक्षिण में वह इसी प्रकार पोषित हुई जिस प्रकार नागरी हिन्दी। इसके बाद में भारत की राष्ट्रीय भाषा का पद जिस भाषा ने सुशोभित किया, वह है पश्चिमी अपभ्रंश या परिनिष्ठित अपभ्रंश, जो शौरसेनी प्राकृत का विकसित रूप है। क्या जन क्या बौद्ध क्या हिन्दू सभी ने इसे अपने धर्म साहित्य एवं संस्कृति की अभिव्यञ्जिका भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। इसी पश्चिमी

(३) सानुनासिकता की जो प्रवृत्ति अपभ्रंश काल में बढ़ गई थी उसका निर्वाह पश्चिमी हिन्दी में पाया जाता है। सरलीकरण की स्थिति में भी इसे अपना लिया जाता है—चन्द्र>चन्द>चाँद स्कन्ध>कन्ध>कांध> काँधा स्तम्भ>खम्भ>खाम आदि।

उपर्युक्त ध्वनि विचार की दृष्टि से कहा जा सकता है कि हिन्दी (पश्चिमी) अपभ्रंश की ही विशेषताओं का अनुकरण करती है। भाषा का सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए ध्वनियाँ ही नहीं भाषा का रूप गठन अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। रूप विचार की दृष्टि से यदि हम पश्चिमी हिन्दी पर विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके बीज अपभ्रंश में निहित हैं। रूप विचार दो वर्गों में विभाजित कर लिया जाता है—१ नाम २ क्रिया। नाम के अन्तर्गत विभक्ति—प्रत्यय का विचार आता है और क्रिया के अन्तर्गत तिङन्त प्रत्यय—विचार।

*रूपतत्त्व—(१) अपभ्रंश में शब्दों का निर्विभक्तिक प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। बिना किसी विभक्ति प्रत्यय और परसर्ग की सहायता से शब्द का प्रयोग हो अपना अर्थ व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता हो उस प्रयोग को निर्विभक्तिक प्रयोग कहा जाता है। पूर्ववर्ती अपभ्रंश में करण और सम्प्रदान में निर्विभक्तिक पद खोजने से मिल सकते हैं जबकि अन्य कारकों में सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं। परवर्ती अपभ्रंश में प्रायः सभी कारकों में निर्विभक्तिक प्रयोग मिल जाते हैं। पश्चिमी हिन्दी में विशेषकर खड़ी बोली हिन्दी में निर्विभक्तिक पदों का धड़ल्ले से प्रयोग किया जाता है।*

(१) कर्ता कारक एकवचन

(१) *बहुउ सगाण एहु (हेम-अपभ्रंश व्याकरण पृ० ६७)*

(२) *रूप वियोइणि हिया (प्रा पै २)*

(३) *ठाकुर ठक भए गेल (की लता २/१०)*

(४) *उधो ! मन नाहिं दस बीस (सू सा भ्रमरगीत सार २१०)*

(५) *राम आता है (खड़ी बोली)*

कर्ता-कारक बहुवचन

(१) *गुप्पुरिस कगुहे अणुहरिहिं (हेम अपभ्रंश व्याकरण पृ० २२)*

(२) *बहुतु पुन भल। (उक्तिव्यक्ति प्रकरण)*

(३) *दुज्जन बोलइ मन्द। (की ल १/५)*

(४) *धाइ ग बिरम मना। (प च १०६)*

(५) *भक्त पढ़ रहे हैं। (ख बो)*

(२) कर्म कारक एकवचन

(१) *मदि महल्लड मिग्गु महहि (हेम अपभ्रंश व्याकरण पृ० १५६)*

(२) केवट नाव घटाव। (उक्ति व्यक्ति)
(३) मञ्जरी वज्जइ चूआ। (प्रा पैं)
(४) महुअर बुज्झइ कुसुम रस। (की ल १/१७)
(५) जो जिय रावरो प्यार न पावतो। (घ क १०८)
(६) राम पुस्तक पढता है। (ख बो)

कर्म कारक बहुवचन

(१) जो गुण गोवइ अप्पणा। (हम अपभ्रंश व्याकरण पृ० १६)
(२) ब्रह्मण इ पर निवतेसु। (उ व्यक्ति)
(३) सक्कलय वाणी बुहअन भावइ। (की ल १/२०)
(४) कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलिहै। (घ क १०४)
(५) राम पुस्तकें पढता है। (ख बो)

३ करण कारक एकवचन

(१) पीण पओहर भार लोलइ मोतिअहार। (प्रा पैं)
(२) महुअर सद्द मानस मोहिआ। (की ल २/८२)
(३) रघुबीर कृपा त एकहिं बान निवारौं। (सू सा ६/१४३)

करण-कारक बहुवचन

(१) धम्म पराअण हियय विषयकम्म नहु दीन जम्पइ। (की ल १/२८)
(२) अब सोचन लोचन जात जर। (घ० कवित्त १३)

४ सम्प्रदान कारक एकवचन

(१) दिग्विजय छूट। (की ल ४/२०)
(२) तेहिं विभीषन राई (सू० सा० ६/१४०)

५ अपादान-कारक

(१) देवनि बंदि छुड़ाई (सू० सा० ६/१४०)

६ सम्बन्ध कारक एकवचन

(१) असुर कुल महणा (प्राकृत)
(२) सुरराय नअर नाअर रमनि। (की० ल० २/६)
(३) पिया विरह जुर भारी। (सूर)
(४) विरह व्यथा सहन नही होती। (ख० बो०)

७ अधिकरण कारक एकवचन

(१) मेअइ घूलि सब्ब दिस पसरइ। (प्राकृत)
(२) गावि खेत चरि (उ० व्यक्ति)
(३) वप्प वैर निज चित्त धरिअ। (की० ल० २/२५)
(४) मथुरा बाजति आज बधाई। (सूर)
(५) बठ शिला की शीतल छाँह (कामायनी चिन्ता सर्ग)

इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमी हिन्दी ने इस परम्परा का निर्वाह ही नहीं, विकास भी किया है। निर्विभक्तिक प्रयोगों के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में परसर्गों का स्वच्छन्दता से किया जाने वाला प्रयोग द्रष्टव्य है। पूववर्ती अपभ्रंश मे परसर्गों की सख्या अधिक नही थी, किन्तु परवर्ती अपभ्रंश मे यह सख्या पर्याप्त मात्रा म बढी हुई दिखाई देती है। द्वितीय लक्षणीय बात है विभक्ति प्रत्ययो के बिना ही केवल प्रातिपादिक के साथ परसर्गों का प्रयोग। डा नामवरसिंह के शब्दो मे 'परसग के पूव निर्विभक्तिक पद प्रयोग के उदाहरण खोजे हेरे ही मिल सकते हैं।' इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश भाषा मे परसर्गों के प्रयोग से पूव विभक्ति प्रत्यय लगाने की प्रथा का प्रचलन था। परवर्ती अपभ्रंश म इसमे शिथिलता आई और न भा आ मे आकर यह प्राय समाप्त ही हो गई। खडी बोली हिन्दी ने तो विभक्ति प्रत्ययो का पूणत परित्याग ही कर दिया। ब्रजभाषा और कन्नौजी मे ये कुछ मात्रा मे अवशिष्ट है। बांगरू मे भी विभक्ति प्रत्ययो के दशन नही होते। शब्द के अथ का ज्ञान परसर्गों की सहायता से प्राप्त हो जाता है। परसर्गों से पूव पश्चिमी हिन्दी मे बचे हुए कुछ विभक्ति प्रत्ययो पर विचार करेगे कि उनका उदगम कहा से हुआ है?

कर्ता कम एकवचन—उ

अपभ्रंश म सु और अम के आने पर शब्द के अन्तिम स्वर के स्थान पर उ का आदेश होता है। परवर्ती अपभ्रंश और उससे ब्रज और अवधी मे इसका प्रयोग मिलता है। बाद म सन्धि नियम के अनुसार ब्रज म ओ तथा औ हो जाते हैं किन्तु अवधी म अब तक उ का प्रयोग ही प्रचलित है

(१) चउ मुहु छमुहु झाइवि एक्कहि लाइवि णावइ दइवे घडिअउ।
(प्रा व्या प २०५)

(२) स्यामु हरित दुति होइ। (बि रत्नाकर पष्ठ १)

(३) मौका राम रजायसु नाहीं। (सू सागर ६/१३२)

खडी बोली म यह प्रयोग सम्भवत प्रारम्भ से ही प्रचलन में नही था। सूर सागर म एसे प्रयोगो की स्वल्पता ब्रजभाषा का भी इस प्रयोग के प्रति अनाकषण ही व्यक्त करती है। वैसे सूर सागर म सम्बन्ध कारक म इसके प्रयोग उपलब्ध होते हैं—रे कपि! कया पितुचर बिसारयो। (सू सा ६/१३४) ऐसा प्रयोग कीतिलता मे भी मिलता है—महामासु खडा।

'हि हिं'—ये दोनो प्रत्यय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश म प्रथम का प्रयोग अधिकरण कारक के एकवचन म और द्वितीय का करण तथा अधिकरण कारक के बहुवचनो म प्रयोग किया जाता था। ब्रज और अवधी भाषा म

इन दो कारकों मे तो इनका प्रयोग मिलता ही है इनके अतिरिक्त कम और सम्प्रदान मे भी इनका प्रयोग बहुलता से पाया जाता है।

अधिकरण एकवचन

(१) वह गिरिसु पहाउ जि वलिहि धम्मु। (प्राकृत व्या प, २०६)
(२) सज्जन चितइ मनहि मने मित्त करिज सबकोए। (की ल १/७)
(३) केवट यवया रही अधबीचहि कौन आपदा आई। (सू सा ६/१६)

करण बहुवचन

(१) गुणिहि ण सपइ कित्ति पर। (अपभ्रश व्या २६)
(२) व वहार मुल्लहि वणिक विक्कण। (की ल २/६०)
(३) तात कहो उनहि सो जाई। (सूर सागर, ६/५)

अधिकरण बहुवचन

(१) माई रहि जिव भारइ मग्गेहिं तिहि वि पयट्टइ।
(प्राकृत व्याकरण प २७)
(२) और पतित तुम जैस तारे तिनहिं मैं लिख राखो।
(सू सागर १/१३७)

इसके अतिरिक्त कम करण (एकवचन) सम्प्रदान अपादान तथा सम्बध कारक में 'हि विभक्ति के प्रयोग परवर्ती अपभ्रश तथा ब्रजभाषा मे पाये जाते हैं—

कम एकवचन

(१) भीर्षाहि ताड। (उक्ति व्यक्ति)
(२) सत्तुहि मित्र कए। (की लता, २/२७)
(३) कहो तौ कालहिँ खण्ड-खण्ड करि टूक-टूक करि काटौं।
(सू सा ६/१४८)

करण एकवचन

(१) बचाहि तिनकहि मारि उडाई। (पद्मावत)
(२) एकहि बान निवारौं। (सूर सा ६/१३७)

सम्प्रदान

(१) बरहिं कन्या दे। (उक्ति व्यक्ति)
(२) बिनु रघुनाथ मोहिं सब फीके। (सू सा ६/१६१) एकवचन
(३) देहौं तुमहि अवसि करि भाग। (सूर सागर, ६/३) बहुवचन

अपादान

(१) बापहि डर। (उक्ति व्यक्ति)

(२) दूरिहिं तैं दुतिया के ससि ज्यों, ब्योम बिमान मनहरि ताकत।
(सूर सागर १६६/१)

सम्बन्ध

(१) राम चरहि का पुण्य मेरा। (की ल ४/११)

(२) सब लिहि गरन जाई आशीषहि। (सूर सागर १/१६०)

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सूरसागर में कर्म कारक में भी 'हि' 'हिं' दोनों प्रत्ययों का प्रयोग देखने को मिलता है (जब मन मोर दृष्टि हरिहि करी सूरसागर १/५)। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि ब्रजभाषा में विशेषकर सूरसागर में 'हि' 'हिं' दोनों प्रत्ययों के प्रयोग बहुवचन में भी समान मात्रा में मिलते हैं। द्वितीय विभक्ति का जितना अधिक प्रयोग कर्म कारक में किया गया है उतना अन्य कारकों में नहीं। एक यह बात भी विचारणीय है कि ब्रजभाषा में सानुनासिक और निरनुनासिक का कोई अन्तर नहीं रखा गया। जहाँ एकवचन में 'हि' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है तो वहीं बहुवचन में 'हि' मिल जाता है। कहा नहीं जा सकता कि इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन ही हो गया था अथवा यह लिपिकारों एवं सम्पादकों के प्रमाद का परिणाम है। इन्हीं उपर्युक्त विभक्तियों के स्थानापन्न [illegible] जो भाषा वैज्ञानिक नियमों के अनुकूल ही विकसित हुए हैं ब्रजभाषा और अवधी में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन वैसे तो अवहट्ठ भाषा से ही प्रारम्भ हो गया था किन्तु अत्यन्त न्यून मात्रा में।

उपर्युक्त प्रत्ययों के अतिरिक्त 'न्ह' 'न्हि' विभक्तियाँ भी ब्रजभाषा में कम और अवधी में अधिक मात्रा में पाई जाती हैं। डॉ॰ नामवरसिंह ने पर्याप्त विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि इन प्रत्ययों का विकास प्राकृत 'णाम्' (षष्ठी) और करण कारक बहुवचन 'हि' के योग से हुआ है। यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। मेरे विचार में अवहट्ठ से ही बहुवचन में 'न, नि' का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था तथा इसके साथ 'हि' विभक्ति—प्रत्यय का प्रयोग भी प्रारम्भ हो गया था। अतः इन दोनों के मिश्रित रूप ही बाद में 'न्हि' और 'न्ह' के रूप में प्रयुक्त होने लगे होंगे। इसकी पुष्टि में यह प्रमाण दिया जा सकता है कि उपर्युक्त विभक्तियों का प्रयोग अपभ्रंश में उपलब्ध नहीं होता। यदि प्राकृत और अपभ्रंश के प्रत्ययों के मेल से इसका निर्माण हुआ होता तो निश्चय ही इसके और कुछ नहीं तो वैकल्पिक प्रयोग तो प्रारम्भ हो ही गए होते। अतः इस तर्क पर भी विशेष विचार की आवश्यकता है। इन विभक्तियों का प्रयोग अधिकतर कर्म, सम्प्रदान, करण, अधिकरण तथा सम्बन्ध कारकों में परसर्ग रहित और परसर्ग सहित दोनों रूपों में उपलब्ध होता है, किन्तु ब्रजभाषा में कम और अवधी में अधिक। खड़ी बोली में कुछ

सर्वनाम शब्दों को छोड़ कर, बिल्कुल नहीं। डॉ नामवरसिंह का तिर्यक में प्रयुक्त होने वाले 'न' की व्युत्पत्ति 'ह हिं' से बताना युक्तिसंगत नहीं है। मैं समझता हूँ 'न' का उद्भव 'ह' से पहले ही हो चुका था, क्योंकि 'टा' के स्थान पर तृतीया एकवचन में सज्ञाओ एवं सर्वनामों में अपभ्रंश में 'ण' का विधान किया गया है—आट्टोणानुस्वारौ। (हेम, ८/४/३४२)

(१) अग्गिण दड्ढा जइ वि घरा तो तें अग्गि कज्जु। (अपभ्रंश व्या २२) (२) जे जलइ जले जसणे। अएण वि किं ण पज्जत्त (अपभ्रंश व्या, प॰ ४६), (३) भणु कज्जे व्यवणेण (अपभ्र व्या, प॰ ५२) आदि उदाहरण इस बात के द्योतक हैं कि न केवल परवर्ती अपभ्रंश, बल्कि पूर्ववर्ती अपभ्रंश में 'ण' (ब्रज भाषा 'न') का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। एक बात अत्यन्त सतर्कता से विचारणीय है कि इस समय 'वचन व्यत्यय' अत्यधिक मात्रा में हुआ है जैसाकि 'हिं' विभक्ति के सन्दर्भ में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश की 'हु, हुं' तथा 'हें' विभक्तियाँ भी ब्रज और अवधी बोली में अपनी अंतिम सांस लेती हुई यत्र तत्र उपलब्ध हो जाती हैं। अधिकतर सर्वनामों एवं क्रिया विशेषणों में इनका प्रयोग देखने को मिलता है—

हुं, हुं—चतुर्थी और पंचमी के बहुवचन में अपभ्रंश में हुं का आदेश होता है। ब्रजभाषा में बहुवचन में तो इनका प्रयोग नहीं मिलता, पर कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण के एक वचनों में इनका प्रयोग मिला है। ये विभक्ति प्रत्यय कहीं पर 'हु' कहीं पर 'हुँ' पर अधिकांश 'हुँ' मिलता है। एकवचन का प्रयोग अवहट्ठ में ही आरम्भ हो गया था—विग्रह कमहुँ मल वड प्रयास (की ल २/१२८), मेरहु जेहु जरिट्ठ अछ (की ल २/४२)।

कर्म

(१) सूर प्रताप वदन न काहू। (सू सा १/१७०)

(२) कबहुक भोजन लहो। (सू सा १/१६१)

करण

(१) पावकहूँ न डरत। (सू सा १/५५)

(२) न डरती काहूँ। (सू सा १/५६)

सम्प्रदान

(१) विमुख भए अकृपा न निमिषहूँ। (सू सा १/८)

अपादान

(१) रंक कौन सुदामाहूँ त। (सूर सा १/३५)

सम्बन्ध

(१) श्याम गरीबनहूँ के गाहक। (सू सा १/१६)

अधिकरण

(१) तिहुँ पुर फिर आई। (सू सा १/६)

(२) स्वप्नहुँ मांहि नहिं हृदय ल्याऊँ। (सू सा १/१६६)

इनके अतिरिक्त 'हुँ' और हैं के भी कुछ उदाहरण मिले हैं जो ब्रजभाषा का सम्बन्ध पश्चिमी अपभ्रश के साथ व्यक्त करते हैं—

(१) काहैं सुधी बिसरी। (सू सा १/१६)

(२) जहँ जहँ विपत्ति परी तहँ टारी। (सू सा १/२०)

(३) परहुँ जमाई लौं घट्यौ। (बिहारी स)

अन्त में यह कहा जा सकता है कि ब्रज आदि भाषाओ म कुछ तो इन विभक्ति प्रत्ययो के रूप घिस गए और नए रूप म आ गए कुछ बिल्कुल घिस कर समाप्त ही हो गए और कुछ ने अपने आपको परसर्गों म समाविष्ट कर दिया।

## अपभ्रश के परसग और उनका हिन्दी मे प्रयोग

यद्यपि परसर्गों का अनुसन्धान बडा ही रोचक है किन्तु सस्कृत म अथतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व एकीभूत होकर चलते हैं। इसलिए सस्कृत सयोगात्मक भाषा है। धीरे धीरे शब्द घिसने लगे और सम्बन्धतत्त्व की शक्ति का ह्रास प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इसका भान सस्कृत के उत्तर काल से ही सम्भवत विद्वानो को होने लगा था इसीलिए उन्ह 'रामाय' के स्थान पर 'रामस्य कृते' तथा 'तस्मै' के स्थान पर 'तस्याथ' जैसे प्रयोग करने पडे होगे, तो भी इसका स्पष्ट अनुभव अपभ्रश काल म आ कर होता है, जब सभी (लगभग) कारको के लिए हेमचन्द्र को परसर्गों का विधान करना पडा। तत्पश्चात अवहट्ठ मे तो इसकी झडी ही लग गई और नव्य भारतीय आय भाषाओ म इनका प्रयोग अनिवाय हो गया। खडी बोली के तो सम्बन्ध सूत्र ही य परसग हैं। जसा कि हम पूव पृष्ठो म देख चुके हैं कि ब्रज और अवधी मे तो फिर भी कतिपय विभक्ति प्रत्यय अवशिष्ट हैं किन्तु खडी बोली मे सवनाम उत्तम एव मध्यम पुरुष की षष्ठी को छोड कर, इनके कहीं पर भी दशन नहीं होते। अत न भा आ के अध्ययन के साथ परसर्गों का अध्ययन परमावश्यक हो जाता है।

ब्रजभाषा और खडी बोली मे जिन परसर्गों की प्राप्ति होती है उनमे से कर्ता कारक के ने/न उपसग का प्रयोग अपभ्रश या अवहट्ठ मे दशन को नहीं मिला है किन्तु यह न भा आ के अत्यन्त महत्त्वपूण परसग हैं जो प्राय सभी आधुनिक भाषाओ म किसी न किसी रूप म उपलब्ध हो जाते हैं।

कम म प्रयुक्त 'को' कौ कूँ परसर्गों का प्रयोग भी अपभ्रश म नहीं हुआ पर सम्प्रदान के लिए प्रयुक्त 'कोहिं' के साथ इसका सम्बन्ध जोडा जा सकता है। यद्यपि विद्वान् इसका सम्बन्ध 'कक्ष' के साथ जोडते हैं।

करण के लिए पश्चिमी हिन्दी म मुख्यत दो परसग मिलते हैं—(१) से जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है) । (२) तें ते, त्यो आदि । इनमे से प्रथम 'अपभ्रंश' मे प्रयुक्त 'सहुँ का रूपान्तर हो सकता है और द्वितीय हेमचन्द्र द्वारा सम्प्रदान क लिए निर्धारित 'तण का । इनके अतिरिक्त के द्वारा का प्रयोग भी हिन्दी म मिलता है जो इसका अपना विकसित किया हुआ परसग है ।

सम्प्रदान मे 'को कौं कू' कम परसर्गों का प्रयोग होता है तथा साथ ही 'के लिए' तथा 'काज, लागि आदि' के प्रयोग भी मिलते हैं जो अपभ्रंश लग्गि और 'कज्ज' के रूपान्तर हैं।

अपादान म से का प्रयोग करण का ही है। हुँत' परसग का प्रयोग भी अवधी म मिलता हैं जो अपभ्रंश होन्तउ' का ही विकसित रूप है ।

सम्बन्ध कारक मे खडी बोली म का, के की' तथा ब्रजभाषा म इनके साथ साथ 'केर, कर क आदि के प्रयोग भी मिलते हैं। इन सबका उदगम अपभ्रंश 'केरअ, का' आदि से ही हुआ है ।

अधिकरण कारक मे खडी बोली मे मे तथा ब्रज-अवधी मे उसके साथ साथ अपभ्रंश परसग मज्झे, मज्झु मज्झ, माँझ आदि के प्रयोग भी मिलते हैं। अब हम केवल अपभ्रंश मे प्रयुक्त कारक परसर्गों और उनके रूपान्तरो को ब्रज तथा खडी ब्रोली म खोजने का प्रयत्न करेंगे ।

को, कौं, कू ये परसग जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है केहिं' के रूपान्तर लगते हैं

(१) हउँ झिज्झउ तउ केहिं (हेम अपभ्रंश व्याकरण पष्ठ १३७)
(२) तब हरि कौं उर ध्याए(हो) (सूर सा १/७) कम कारक
(३) सिव विरंचि मारन कौं धाम । (सू सा १/३) सम्प्रदान कारक
(४) रावन अरि को अनुज विभीषन । (सू सा १/३) स का (सम्भवत केर का रूपान्तर है)
(५) मैंने राम को पुस्तक दी । (खडी बोली)
(६) राम ने रावण को मारा । (खडी बोली)

से, सौं, तै, स, सो

'से' विभक्ति परसग का प्रयोग अपभ्रंश मे सहुँ' और अवहट्ठ म 'सञ' मिलता है जो खडी बोली मे से और ब्रजभाषा मे 'सौं' हो गया

(१) जइ पवसन्ते सहु न गयअ (हेम अपभ्रंश व्याकरण, पाठान्तर, पृष्ठ ११६)
(२) मानिनि जीवन मान सजो वीर पुरस अवतार । (की ल १/२४)
(३) भुजलता फँसा कर नरतर से । (कामायनी लज्जा), करण कारक
(४) आधो उदर अन्न सौं भरै । (सू सा ३/१३) करण कारक

(५) पवत सौं इहि देहु गिराइ। (सू सा ७/२) अपादान कारक

(६) वृक्ष से पत्ता गिरता है। अपादान कारक

त, ते

(१) ग्रहा वाण तैं गभ उबारयो। (सू सा १/१४६) करण कारक

(२) लच्छा गृह ■ काढि कै पाण्डव गह ल्यावै। (सू सा १/४) अपादान कारक

(३) साहित्यिक खडी बोली म इसके प्रयोग नही होते।

(४) वडड तणहो तणेण। (हेम अपभ्रश व्या)

का, के, की, को

ये परसग अपभ्रश केरअ का कर' आदि के रूपान्तर हैं तथा अपभ्रश मे इनका प्रयोग बहुलता से मिलता है

(१) जसु केरअ हुंकार डऐं (हेम अपभ्रश व्या पृ० १३२)

(२) लोचन केरा वल्लहा। (की ल)

(३) पद्म करे आकारे।

(४) घर घर केरे फरके खोलैं। (सू सा प० २८६६)

(५) दात दूधके। (सू सा १०/७६)

(६) भादों की रात। (सू सा १०/१२)

(७) केसरि को तिलक। (सू सा १०/२५)

(८) राम का बेटा राम की बेटी, राम के बटे।

मज्झे>माँझ, माह, मैं, मे

(१) जामँहि विसमी कज्ज गइ जीवहिं मज्झे एइ। (हेम अपभ्रश व्या पृ० २०२)

(२) युवराजा हु माँझ पवित्र।

(३) गाइन्हि माय भए ही ठाढे। (सू सा १०/२४६)

(४) पैठो उदार मँझारि। (सूर सा ६/१०४)

(५) छिनक माहि उर नखनि विदारयो। (सूर सा १/१४)

(६) कण्ठ मैं मनियां बिना पिरोयें धाग। (सू सा प० ३६७८)

(७) नगर म आज सभा होगी।

उपरि>उप्पर>ऊपर>पर

(१) सायरू उप्परि तणु धरइ। (हेम अपभ्रश व्या पृ० ११)

(२) आपनि पौढि अधर सेज्या पर। (सू सा १०/१०२१)

(३) कापी पुस्तक पर रखी है।

इस प्रकार सज्ञा के क्षेत्र मे—कारक रूप, सवनाम तथा विशेषण रूप सभी के प्रयोग अपभ्रश का अनुसरण करते हैं। कुछ स्थानों पर या

के यो प्रयोग मिलते हैं पर अधिकतर उनसे विकसित रूपों का ही प्रयोग किया जाता है। पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में ब्रज और खड़ी बोली ही मुख्य होने के कारण इनके ही उदाहरण प्रस्तुत किए गए है।

नाम अथवा सुबन्त के पश्चात पद रचना की दृष्टि से भाषा का महत्व पूर्ण तत्त्व क्रिया है। क्रिया का मूल रूप धातु कहलाता है। क्रिया व्यक्ति की स्थिति और समय को स्पष्ट करती है। संस्कृत में क्रियाओं के रूप दो प्रकार के प्रत्ययों के सहयोग से निर्मित होते थे—(१) तिङन्त प्रत्यय और (२) कृदन्त प्रत्यय। छान्दस और पूर्ववर्ती संस्कृत में तिङन्त प्रत्ययों का अत्यन्त महत्त्व था। क्रिया के सूक्ष्म से सूक्ष्म काल को एवं स्थिति की अभिव्यञ्जना का विधान इन भाषाओं में था। इनके सूचक दस लकारों की स्थापना की गई। साथ ही कुछ काम कृदन्तों से भी निकाला जाता था। संस्कृत के अन्तिम समय तक तिङन्तों का महत्त्व कम होने लगा था तथा कृदन्तों का महत्त्व बढ़ने लग गया था। छान्दस के दस लकार संस्कृत में नौ ही रह गये थे। अपभ्रंश तक आते आते कालों की सूचक यह संख्या पर्याप्त मात्रा में कम हो गई। कुछ काल कृदन्तज बने और कुछ सहायक क्रियाओं के सहयोग से निर्मित हुए। हिन्दी ने भी अपभ्रंश की इसी प्रक्रिया को अपनाया।

हिन्दी में जिस प्रकार तत्सम नाम शब्द उपलब्ध होते हैं उसी प्रकार तत्सम क्रिया शब्द नहीं मिलते। समस्त क्रिया शब्द तद्भव हैं और वे प्राकृतों की मंजिल पार कर के आए हैं। यदि कुछ क्रिया शब्दों के तत्सम रूपों के दर्शन होते भी है तो वे क्रियार्थक संज्ञा के रूप होते हैं और उनके साथ सहायक क्रिया का प्रयोग किया जाता है, यथा—योग करो दर्शन दो हरण करता है आदि आदि।

## अपभ्रंश में तिङन्त उद्भूत काल और उनका हिन्दी में विकास

### (१) सामान्य वर्तमान काल

| | संस्कृत | | अपभ्रंश | | हिन्दी (ब्रज अवधी) | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| | एक व | बहु व | एक व | बहु व | एक व | बहु व |
| अन्य पु | करोति | कुर्वन्ति | करइ | करहिं | करइ/करै/कर, | करहिं/करैं |
| मध्य पु | करोसि | कुरुथ | करहि | करहु | करहि/करै | करहु/करौ |
| उत्तम पु | करोमि | कुर्म | करउँ | करहुँ | करउँ/करूँ | करहुँ/कर |

अन्य पुरुष बहुवचन

(१) न मल्ल-जुज्झु ससि राहू करहिं। (प्राकृत व्या, पृ० २१७)

(२) चौहट्ट वट्ट पलट्टि हेरहिं। (की ल २/८८)

(३) कौसिल्या आदिक महतारी आरति करहिं। (सू सा ६/२६)

(४) निसि चौस नाग। (सू सा १/१८६)

मध्यम पुरुष एकवचन

(१) बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास । (प्रा व्या प २१७)

(२) जाणहि । (प्राकृत पगलम १/१३२)

(३) तनिक दधि कारन जसोदा इतौ कहा रिसाहि । (सू सा ३५०)

(४) कत जनम बादि ही हारैं । (सू सा १/६३)

उत्तम पुरुष बहुवचन

(१) खग्ग विसाहिउ जहि लहहुँ । (प्रा व्या प २१८)

(२) यहै हम तुम सौ कहै । (सू सा ३/६)

खडी बोली मे सामान्य वतमान काल के रूप शतृ प्रत्यया त वतमानिक कृदन्त के रूपों से विकसित हुए हैं । ब्रजभाषा और खडी बोली म यह मुख्य अन्तर है कि ब्रजभाषा मे तिङ प्रत्ययान्त और कृदन्त प्रत्ययान्त दोना रूप मिलते हैं जबकि ब्रजभाषा मे केवल 'कृत प्रत्यया त रूप ही उपलब्ध होत हैं ।

शत प्रत्ययान्त सामान्य वतमान काल

ये अपभ्रश मे धातु के अन्त मे अत लगाकर बनाए जात हैं और फिर कभी अकेले और कभी सहायक क्रिया की सहायता से सामान्य वतमान काल का काम लिया जाता है । यही प्रवत्ति अवधी ब्रज और खडी बोली म प्राप्त होती है

(१) ज अच्छइ त माणिअइ होसइ करतु म अच्छि । (प्रा व्या २१६)

(२) कहु होअ अइसनो आस, कइसे लागत आँवर बतास ।
(की ल २/१५०)

(३) पूछे त तुम वदन दुरावत । (सूर सा १०/२७६)

(४) कैसे बिखरती हैं मणिराजि । (कामायनी आशा सग)

तिङन्त प्रत्यय से व्युत्पन्न भविष्यत काल

अपभ्रश म तिङन्त प्रत्ययो से दो प्रकार के रूप बनत हैं । एक तो स्य के विकसित स युक्त रूप और द्वितीय स के स्थान पर ह युक्त रूप

| | सस्कृत | अपभ्रश | | हिन्दी |
|---|---|---|---|---|
| अन्य पु | करिष्यति/करिष्यन्ति | करिसहि/करिसहि | एक व | करसी/करिहइ/करिहै |
| | | करिहइ करिहहि | बहु व | करसी/करिहहि/करिहैं |
| मध्य पु | करिष्यसि/करिष्यथ | करिसहि/करिसहु | एक व | करसी/करिसहि/ |
| | | करिहहि/करिहहु | | करिहहि/करिहै |
| | | | बहु व | करस्यो/करिसहु/ |
| | | | | करिहहु/करिहौ |
| उत्तम पु | करिष्यामि/करिष्याम | करिसउ/करिसहुँ | एक व | करस्यू/करिसहुँ/ |
| | | करिहउ/करिहौं | | करिहउँ/करिहहुँ |
| | | | बहु व | करसौं/करिसहुँ/ |
| | | | | करिहहुँ/करिहैं |

(१) ज अच्छइ त माणिअइ होसइ करतु म अच्छि। (प्राकृत व्या २११)
(२) होणा होसइ एक्क पइ वीर पुरिष उच्छाह। (का ल २/८६)
(३) बरस चतुरदस भवन न बसिहैं। (सूर सा ६/४३) उत्तम पु बहु व
(४) तू हूँ जो हरि हित तप करिहै। (सूर सा ४/६) मध्यम पु एक व
(५) हरि करिहै कलकि अवतार। (सूर सा १२/३) अन्य पु एक व

खड़ी बोली म हिन्दी म भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय के साथ 'गा गे गी सहायक क्रिया लगा कर सामान्य भविष्यत काल के रूप निष्पन्न किए जाते हैं। गा ग, गी' की व्युत्पत्ति अभी तक सन्देह का विषय बनी हुई है। फिर भी विद्वान इसका विकास हो और 'गा दो भिन्न क्रियाओं से बताते है। इसका सन्तोषजनक हल अभी प्राप्त नही हुआ है। इस प्रकार के प्रयोग न तो अपभ्रश म ही और न अवहट्ठ मे ही प्राप्त होते हैं। यह केवल पश्चिमी हिन्दी की ही विशेषता है

(१) जो कुछ हो मैं न सम्हाल सकूगा इस मधुर भार को जीवन के।
(कामायनी)

(२) मैं निज प्राण तजागौं। (सूर सा० ९/१४६)

**सामान्य भूत**

हिन्दी म सामान्य भूत की निष्पत्ति सस्कृत के 'क्त प्रत्यय से युक्त धातु के तद्भव रूप से होती है। यथा गत >गअ>गया, आदि

(१) अम्बणु लाइवि जे गया। (हेम ४/३७६)
(२) पुरुष हुअउँ बलिराय जासु कर वम्न पसारिअ। (की ल १/४०)
(३) आया घोष बडो व्यापारी। (भ्रमरगीतसार)
(४) राम गया। (खडी बोली)

उक्त प्रक्रिया की तरह अवधी म विशेष रूप से और ब्रजभाषा मे साधारण तौर से तव्यत' प्रत्ययान्त शब्द भी देख जाते हैं जो भविष्यत काल के सूचक होते हैं। इस प्रकार के प्रयोगों को अपभ्रश म देखा गया है

(१) मह्नु करिएव्वउँ किं। (हेमचन्द्र ४/४३८)
(२) जइ साहसहु न सिद्धि हो अप्प करिन्वहुँ नाह। (की ल ३/६०)
(३) रामचन्द्र के पुत्र विना मैं भूजब क्यो यह खेत। (सूर सा ९/३६)

इसके अतिरिक्त पूर्वकालिक क्रियाओं एव क्रियार्थक सज्ञाओ के क्षेत्र म भी पश्चिमी हिन्दी ने अपभ्रश का ही अनुसरण किया है। अपभ्रश पूर्वकालिक क्रिया के लिए इ इउ इवि अवि एप्पि एप्पिणु एवि और एविणु' प्रत्ययो का विधान मिलता है जिनमें से खडी बोली म व वाला रूप मिलता है उसके साथ 'कर शब्द का प्रयोग किया जाता है। ब्रजभाषा म इ अत

वाले रूप का अत्यधिक मात्रा म प्रयोग किया गया है, 'अ' वाले रूप भी मिलते हैं

(१) राम भोजन करके तथा पुस्तक लेकर पाठशाला गया।

(२) वीरहिं वालि उठे हलधर। (सूर सा १/७)

क्रियाथक सनाओ म 'आ अ, अन्त और न अन्त शब्दो के प्रयोग खड़ी बोली ब्रजभाषा म मिलते हैं

(१) आज चलना उचित नही है।

(२) उसने प्रात गमन किया।

(३) दोष देन कौं नीको। (सूर सा १/१८६)

(४) लैंबो को पछु भाभी दीन्हो। (सूर सा पद ४२५५)

इस तरह स्थूल रूप से पश्चिमी हिन्दी और अपभ्रंश की मुख्य मुख्य विधाओ की तुलना के पश्चात यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पश्चिमी हिन्दी का उदभव पश्चिमी अपभ्रंश से हुआ है, जो मध्यदेश की साहित्यिक एव अखिल भारतीय भाषा थी।

यह निश्चय हो जाने के पश्चात कि पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी का उदभव परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश से हुआ है जो लगभग २०० वर्षों तक सक्रान्ति काल की भाषा के रूप मे भारतीय जनो की संस्कृति एव साहित्य की एकमात्र भाषा के रूप म काय करती रही। लगभग चौदहवी एव पन्द्रहवी शताब्दी की न य भारतीय आय भाषाए अपने पूण उत्कर्ष के साथ प्रकाश म आइ। मध्यदेश एव पश्चिमी प्रदेशो मे ब्रजभाषा नाम से पश्चिमी हिन्दी की एक शाखा साहित्य की भाषा के रूप मे स्वीकार की गई। अब हमे यह देखना है कि इस भाषा अथवा इस प्रदेश की भाषाओ के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग कब किस प्रकार एव किन परिस्थितियो म प्रारम्भ हुआ ?

## 'हिन्दी' शब्द का निवचन

हिन्दी शब्द की निरुक्ति क्या है ? इस बात पर सभी विद्वान एक मत हैं कि हिन्दी शब्द फारस और ईरान के निवासियो की देन है। भारत का सवप्रथम नाम सिन्धु प्रदेश था। वेदो म सप्तसिन्धु प्रदेश की महिमा का गान इस बात का प्रमाण है कि वे इसी प्रदेश को अपना राष्ट्र स्वीकार करते थे। इसी शब्द का प्रयोग हम जेन्द अवस्ता म भी उपलब्ध होता है। उस नाम मे विशेषता यह है कि वहाँ पर 'स' के स्थान पर ह पाया जाता है। भाषा वज्ञानिको का अभिमत है कि भारत म जिन शब्दो म आदि एव मध्य म 'स मिलता है फारसी मे उन्ही शब्दो म वहाँ पर ह होता है। अत नियम बना कि 'स' को फारसी म ह' आदेश हो जाता है। इसी नियम के अधीन

भारतीय 'सिंधु' शब्द फारसी में हिन्दू हो गया और हिन्द भी हुआ। 'हिन्द' मे रहने वाले को वहां पर 'हिन्दी' कहा जाने लगा और इस प्रकार सर्वप्रथम इस शब्द का उद्भव ईरान अथवा फारस मे हुआ और मुसलमान आक्रमण कारी इस शब्द को लेकर लगभग सातवी अथवा आठवी शताब्दी मे भारत पहुँचे। प्रमाण मे तक उपस्थित किया जाता है कि ग्रीक म इसका पर्याप्तवाची 'इन्दिके, इन्दिका' मिलता है तथा निवासियो के लिए 'इन्दोई' मिलता है जो लटिन मे जाकर 'इण्डिया' और इण्डयन शब्द बने। यह विकास भारतीय आर्य परिवार के लिए ज्ञात किए गए विकास के नियमो के अधीन सही उतरता है। अत 'हिन्दी' शब्द 'सिन्धी का ही फारसी रूपान्तर है जो यहां के निवासियों के लिए प्रयोग म लाया जाता था। इस अर्थ मे इसका प्रयोग अमीर खुसरो और इकबाल ने किया है। हाब्सन जाब्सन कोष मे अमीर खुसरो का एक प्रसङ्ग दिया है, जिसमे लिखा है—बादशाह ने हिन्दुओ को तो हाथी से कुचलवा डाला, किन्तु मुसलमान, जो हिन्दू थे सुरक्षित रहे, (हाब्सन जाब्सन कोष पृष्ठ ३१५)[4] इस प्रकार भारत म उत्पन्न मुसलमानो के लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार इकबाल की यह पक्ति— हिन्दी हैं हम वतन है हिंदोस्तां हमारा —अत्यन्त लोकप्रिय है। इसमे भी हिन्दी' शब्द का प्रयोग यहां के निवासियो के लिए ही किया गया है भाषा के लिए नहीं।

डा रामविलास शर्मा ने 'भाषा और समाज पुस्तक म एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि स का 'ह' फारसी की देन मानना अनुपयुक्त है। इसके लिए उन्होंने तीन महत्वपूर्ण तर्क उपस्थित किए हैं—

(१) फारसी मे 'स' से युक्त, आरम्भ एव मध्य मे अनेक शब्द मिलते हैं और आपने ऐसे शब्दो की एक लम्बी सूची भी दी है, तब फिर 'सिन्ध' मे स का उच्चारण ही उनके लिए दुर्बोध क्यो हुआ ?

(२) स' के 'ह मे परिवर्तन हो जाने के अनेक उदाहरण वदिक भाषा से लेकर आज तक की भारतीय भाषाओ मे मिलते हैं। अत इसका उदगम फारस से क्या माना जाता है यहीं से क्या नही ?

(३) आपका तृतीय तर्क निश्चय ही महत्वपूर्ण है और भाषा वज्ञानिकों को इस पर सहानुभूति के साथ विचार करना चाहिए। वह है— ह का स' म परिवर्तन प्राचीन है अथवा स का 'ह' मे परिवर्तन। आपने लिखा है— असम शब्द अहम का रूपान्तर है—जिसकी सम्भावना अधिक है—या असम का

---

4 "हिन्दी भाषा का उदगम और विकास' डॉ उदयनाराण तिवारी के आधार पर पृ० १८६।

वाले रूप का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग किया गया है 'अ' वाले रूप भी मिलते हैं

(१) राम भोजन करने तथा पुस्तक लेकर पाठशाला गया।

(२) बीर्चाह् बालि उठे हलधर। (सूर सा १/७)

क्रियार्थक संज्ञाओं में आ, अ अंत और व अंत शब्दों के प्रयोग खड़ी बोली ब्रजभाषा में मिलते हैं

(१) आज चलना उचित नहीं है।

(२) उसने प्रातः गमन किया।

(३) दोष देन कों नीको। (सूर सा १/१८६)

(४) लवो को कछु भाभी दीन्हो। (सूर सा पद ४२५५)

इस तरह स्थूल रूप से पश्चिमी हिन्दी और अपभ्रंश की मुख्य मुख्य विधाओं की तुलना के पश्चात यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पश्चिमी हिन्दी का उद्भव पश्चिमी अपभ्रंश से हुआ है जो मध्यदेश की साहित्यिक एवं अखिल भारतीय भाषा थी।

यह निश्चय हो जाने के पश्चात कि पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी का उद्भव परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश से हुआ है जो लगभग २०० वर्षों तक संक्रांति काल की भाषा के रूप में भारतीय जनों की संस्कृति एवं साहित्य की एकमात्र भाषा के रूप में कार्य करती रही। लगभग चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं शताब्दी की नव्य भारतीय आर्य भाषाएँ अपने पूर्ण उत्कर्ष के साथ प्रकाश में आई। मध्यदेश एवं पश्चिमी प्रदेशों में ब्रजभाषा नाम से पश्चिमी हिन्दी की एक शाखा साहित्य की भाषा के रूप में स्वीकार की गई। अब हमें यह देखना है कि इस भाषा अथवा इस प्रदेश की भाषाओं के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग कब, किस प्रकार एवं किन परिस्थितियों में प्रारम्भ हुआ?

## 'हिन्दी' शब्द का निर्वचन

हिन्दी शब्द की निरुक्ति क्या है? इस बात पर सभी विद्वान एक मत हैं कि हिन्दी शब्द फारस और ईरान के निवासियों की देन है। भारत का सर्वप्रथम नाम सिन्धु प्रदेश था। वेदों में सप्तसिन्धु प्रदेश की महिमा का गान इस बात का प्रमाण है कि वे इसी प्रदेश को अपना राष्ट्र स्वीकार करते थे। इसी शब्द का प्रयोग हमें जेन्द अवस्ता में भी उपलब्ध होता है। उस नाम में विशेषता यह है कि वहाँ पर 'स' के स्थान पर 'ह' पाया जाता है। भाषा वैज्ञानिकों का अभिमत है कि भारत में जिन शब्दों में आदि एवं मध्य में 'स' मिलता है फारसी में उन्हीं शब्दों में वहाँ पर 'ह' होता है। अतः नियम बना कि 'स' को फारसी में ह आदेश हो जाता है। इसी नियम के अधीन

भारतीय 'सिंधु' शब्द फारसी मे 'हिंदू' हो गया और हिंद भी हुआ। 'हिंद' मे रहने वाले को वहाँ पर 'हिंदी' कहा जाने लगा और इस प्रकार सवप्रथम इस शब्द का उदभव ईरान अथवा फ़ारस मे हुआ और मुसलमान आक्रमण-कारी इस शब्द को लेकर लगभग सातवी अथवा आठवी शताब्दी मे भारत पहुँचे। प्रमाण मे तक उपस्थित किया जाता है कि ग्रीक मे इसका पर्यायवाची 'इंदिके, इंदिका' मिलता है तथा निवासियो के लिए 'इंदोई' मिलता है जो लटिन म जाकर 'इण्डिया' और 'इण्डयन' शब्द बने। यह विकास भारतीय आय परिवार के लिए ज्ञात किए गए विकास के नियमो के अधीन सही उतरता है। अत हिंदी' शब्द सिंधी का ही फारसी रूपान्तर है जो यहा के निवासियों क लिए प्रयोग मे लाया जाता था। इस अथ मे इसका प्रयोग अमीर खुसरो और इकबाल' न किया है। हाब्सन-जाब्सन कोष मे अमीर खुसरो का एक प्रसङ्ग दिया है जिसमे लिखा है—बादशाह ने हिंदुओ का तो हाथी से कुचलवा डाला, किंतु मुसलमान, जो हिंदू थे, सुरक्षित रहे, (हाब्सन जाब्सन कोष, पृष्ठ ३१५)[4] इस प्रकार भारत म उत्पन्न मुसलमानो के लिए 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'इकबाल' की यह पक्ति—"हिंदी हैं हम वतन है हिंदोस्तां हमारा'—अत्यन्त लोकप्रिय है। इसमे भी 'हिंदी शब्द का प्रयोग यहाँ के निवासियो के लिए ही किया गया है, भाषा के लिए नही।

डा रामविलास शर्मा ने 'भाषा और समाज पुस्तक म एक महत्त्वपूण प्रश्न उठाया है कि स का ह' फारसी की देन मानना अनुपयुक्त है। इसके लिए उन्होंने तीन महत्त्वपूण तक उपस्थित किए हैं—

(१) फारसी मे स से युक्त आरम्भ एव मध्य मे अनेक शब्द मिलते हैं और आपने ऐसे शब्दो की एक लम्बी सूची भी दी है तब फिर 'सिंध' के स का उच्चारण ही उनके लिए दुर्बोध क्यों हुआ ?

(२) स के ह में परिवतन हो जाने के अनक उदाहरण वदिक भाषा से लेकर आज तक की भारतीय भाषाओ में मिलते हैं। अत इसका उदगम फारस से क्यो माना जाता है यहीं से क्या नहीं ?

(३) आपका तृतीय तक निश्चय ही महत्त्वपूण है और भाषा वैज्ञानिको को इस पर सहानुभूति के साथ विचार करना चाहिए। वह है—ह का 'स' म परिवतन प्राचीन है अथवा स का ह म परिवतन। आपने लिखा है—असम' शब्द अहम का रूपान्तर है—जिसकी सम्भावना अधिक है—या असम का

---

4 'हिंदी भाषा का उदगम और विकास' डॉ उदयनारायण तिवारी के आधार पर पृ० १८६।

रूपांतर अहम ।[5] एक अन्य स्थान पर लिखते हैं—'ह ध्वनि का जैसा व्यापक प्रभाव भारत म—वदिक काल से लेकर अब तक—बना हुआ है वैसा योरप के किसी क्षेत्र म नहीं है। यह महाप्राणता भारतीय भाषाओं की अपनी विशेषता है।'[6]

उपर्युक्त तीनो कारणो का यदि विवेचन करें तो निष्कष निकलता है कि इनम प्रथम दो कारण अधिक सबल नहीं हैं क्योंकि सिन्धु का हिन्दु' उच्चारण यह नहीं कहता कि अमुक भाषा म 'स' ध्वनि है ही नहीं। भारत की उन भाषाओं का, जिनम स का विकार 'ह मिलता है विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि उनम ॥ ध्वनि भी विद्यमान है और स ह' भी हुआ है। हिन्दी को ही लीजिये। इसम जहाँ दस' मिलता है वहाँ 'दसला और 'दहला दोनो शब्द मिलते हैं इसी प्रकार राजस्थानी म यदि सडक हडक' हो जाती है तो किसो कहीं नहीं होता और सगला और 'सै शब्द विद्यमान हैं। दूसरे तक के सम्बन्ध में यह कहना है कि भारतीय भाषाओं म यदि प्राचीनकाल से स' का विनिमय मिलता है तो इसका यह तात्पय कदापि नहीं होगा कि वह विनिमय सिन्धु शब्द म भी हो ही। अनक शब्द ऐसे हैं जिनमें हुआ है और अनक शब्द एसे हैं जिनम नहीं हुआ। तृतीय तक निश्चय ही विचारणीय है। पर डा साहब इसके प्रति अधिक उत्सुक दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके दो कारण हो सकते हैं—डाक्टर साहब के मस्तिष्क का यह विचार है कि आय भारत म बाहर से आए और दूसरा यह कि योरोपियन भाषाएं कुछ मात्रा म छान्दस की अग्रजा हैं। यदि इन दोना विचारो से अप्रभावित रह कर विचार किया जाए तो सम्भवत समस्या का समाधान हो सकता है। अस्मद श द का विकसित रूप अहम है अथवा 'अहम शब्द मूल है निश्चय ही विचारणीय है। साथ ही इस बात पर विचार करना असगत नहीं होगा—कि हिन्दू शब्द ईरान स यहाँ पर आया अथवा ईरान मे यहाँ से गया और आजकल के विदेश म गए नवयुवको की तरह वहीं पर बस गया। पाणिनि की अष्टाध्यायी का भी इस परिप्रेक्ष्य म पुन अध्ययन करना अपेक्षित है। मैं इसके लिए यह तक प्रस्तुत करता हू कि आधुनिक राजस्थानी गुजराती आदि भाषाओं का यदि हम अध्ययन करें तो प्रतीत होता है कि 'ह का उच्चारण शुद्ध न होकर विसगवत होता जा रहा है। डा चाटुर्ज्या ने राजस्थनी भाषा पुस्तिका म काफी विस्तार से इस बात की चर्चा की है। इसी विसग का मिलान कीजिय। पाणिनि के विसजनीयस्य ॥ सूत्र से विसर्गों का स' म परिवतन हो जाता है। मेरी दष्टि म वदो की

---

[5] भाषा और समाज—डा० रामविलास शर्मा।

[6] वही—डा० रामविलास शर्मा।

रचना से भी बहुत पहले आय इस प्रदेश के लिए 'हिंदू' शब्द का प्रयोग करते रहे होंगे और कालान्तर मे उच्चारण की शिथिलता के कारण विसर्गों की मंजिल को पार करता हुआ यह ह स मे परिवर्तित हो गया होगा। हमारे लिए यह शब्द प्राचीन होने के कारण विस्मृत हो गया और ईरान म सुरक्षित रहा हो जिसे वे अलग होते समय अपने साथ ले गए थे। पुन आक्रमण के समय ये लोग इस शब्द के साथ अपनी मातृभूमि म प्रविष्ट हुए और यह शब्द भारतीय होते हुए भी विदेशी सिद्ध हुआ। हाँ यह तो हुई सैद्धान्तिक बात, व्यावहारिक रूप म हम यह स्वीकार करने म किञ्चित भी नही सजाना चाहिये कि इस युग मे हिन्दी शब्द का जो प्रयोग जिस अथ मे हम कर रहे हैं वह मुसलमान आक्रान्ताओं की देन है और उसे प्रसिद्ध करने में अंग्रेज मिशनरियो का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है।

## हिंदी के प्रारम्भ एव प्रयोग की कहानी

भाषाविदो का मत है कि नव्य भारतीय आय भाषाओ का वतमान स्वरूप लगभग पन्द्रहवी सोलहवी शताब्दी मे प्रकाश म आया। इससे पूव ये जन भाषाओ के रूप मे पनप रही थी। अमीर खुसरो पहला व्यक्ति था, जिसने हिन्दी के महत्त्व को जाना तथा स्वीकार किया। उन्होंने मुसलमान लेखक मसउद इब्न सा द का उल्लेख किया है जिसके पास अरबी फारसी के दीवानो के साथ हिन्दी म रचित दीवान (कविता सग्रह) भी थे। लेकिन उन दीवानो की भाषा का स्वरूप क्या रहा होगा कुछ कहा नही जा सकता, पर हिन्दी का यह प्राचीनतम उल्लेख है। उसकी मृत्यु ११२५ से ११३० ई० के बीच हुई। अमीर खुसरो ने स्वय और कबीर, नानक आदि कवियो ने अन्य भाषाओ के मिश्रण के साथ खडी बोली मे रचनाएँ की हैं, पर तत्काल ही हिन्दू समाज का ध्यान इस भाषा पर से उठ गया। एक ऐसी धार्मिक उत्क्रान्ति आई कि लगभग समस्त भारत उससे प्रभावित हो गया। कृष्ण भक्ति की मधुरिमा ने द्वापर म चाहे गोपियो को मोहित न किया हो पर इस युग में उसके यशोगान ने पूव म बगाल से लेकर पश्चिम म गुजरात तक और उत्तर मे पजाब से लेकर दक्षिण म महाराष्ट्र तक के लोगो को विमोहित कर डाला। कृष्ण भक्त कवियो ने भगवान श्रीकृष्ण की जन्मभूमि 'मथुरा' की भाषा को अपने आराध्य के सकीतन की माध्यम भाषा बनाया। इस प्रकार ब्रजभाषा का प्रभाव चारो ओर फलने लगा। यद्यपि इसके समानान्तर अवधी भी उठ खडी हुई पर वह अधिक आग न बढ सकी। ब्रज के प्रभाव का सबसे महत्त्वपूण प्रमाण यह है कि भारत के शहशाह अकबर ने स्वय उसमें काव्य रचना की। रहीम खानखाना अकबर के दरबार का एक बड़ा अधिकारी ब्रजभाषा का महत्त्वपूर्ण कवि माना जाता है। डा चाटुर्ज्या के मतानुसार ब्रजभाषा सही अर्थों मे

शाही भाषा कही जा सकती है। इधर हिंदू लोग और उत्तर भारत के अनेक मुसलमान ब्रजभाषा का साजोश्रृंगार कर रहे थे, उधर दक्षिण में उत्तर भारत से गए मुसलमान लोग जो अपने साथ दिल्ली और उसके आसपास तथा पंजाब की बोली को ले गए थे उसका पालन कर रहे थे। वास्तव में मुसलमान जब भारत में आए तब वे पंजाब के रास्ते से दिल्ली आए थे। अतः इनके दो प्रमुख केन्द्र थे—पंजाब में लाहौर और इधर दिल्ली। यहाँ के निवासियों से बातचीत के लिए उनको यहाँ की भाषा सीखना अनिवार्य था। अतः उन्होंने फारसी मिश्रित लाहौरी और विशेषतः दिल्ली की भाषा का प्रयोग परस्पर में वार्तालाप के लिए करना आरम्भ किया। इसी मिश्रित भाषा को लेकर वे दक्षिण में पहुँचे। अब उनके सामने दो कठिनाइयाँ आई—(१) वह फारसी पढ़ नहीं सकते थे क्योंकि वे अपने देश से दूर आ गए थे। (२) दक्षिण के लोगों में अपने आपको आत्मसात नहीं करना चाहते थे। अतः इन दोनों कठिनाइयों का समाधान अपने साथ लाई भाषा के साथ अपने आपको चिपकाए रखने में ही दिखाई दिया। अतः फारसी लिपि में लिखित बहुत कम फारसी शब्दों से युक्त पश्चिमी हिन्दी की यह शाखा उन लोगों के विचार विनिमय का साधन ही नहीं साहित्य की भाषा भी बन गई। गोलकुण्डा इस भाषा का साहित्यिक केन्द्र बना तथा मुल्ला वजही ही इसके सबसे बड़े पहले कवि हुए। उनका काव्यकाल सत्तरहवीं शताब्दी का मध्यकाल रहा है। १६०९ में कुतब मुश्तरी और १६३४ में सब रस नाम ग्रन्थ का निर्माण उन्होंने किया। वे लोग इसे 'हिन्दवी या हिन्दुई' कहते थे तथा दक्षिण के लोग उसे मुसलमानी भाषा। क्योंकि दक्षिण में इस भाषा का प्रयोग केवल वहाँ के मुसलमान ही अधिकतर करते थे। उनके साथ-साथ कुली कुत्ब शाह का नाम भी उल्लेखनीय है। कहने का तात्पर्य यह है कि १७वीं शताब्दी के अन्त तक देशी छन्दों एवं भारतीय संस्कृति के अनुरूप इस भारतीय भाषा में हिन्दी साहित्य की मुसलमान बिना किसी लाग लपेट के उसी प्रकार सेवा कर रहे थे, जिस प्रकार सूफी कवि अवधी भाषा की। उन्हीं दिनों शाह बुरहान भी साहित्य साधना में रहते थे और उन्होंने अकेले ९ ग्रन्थों की रचना की और अपनी भाषा को गूजरी कहा पर डा॰ चाटुर्ज्या का मत है कि वह खड़ी बोली हिन्दी ही थी तथा गूजरों के प्रभाव स्वरूप यह नाम इसे दे दिया गया था।

औरंगजेब के शासनकाल में जब लगातार दक्षिण पर आक्रमण किया गया, तब दक्षिण वालों ने सैनिकों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा को उर्दू कहा। या यों कहिए कि उत्तर भारतीयों ने उन सैनिकों से अपनी भाषा के पार्थक्य को प्रदर्शित करने के लिए उसे उर्दू नाम दिया।

'उर्दू' एक तुर्की शब्द है जिसका अर्थ होता है राजा का किला या सैनिकों

का शिविर या सेना के सबसे बडे आदमी का तम्बू। इस प्रकार इस अर्थ के साथ साथ उर्दू शिविर के लोगो की भाषा का भी अर्थ द्योतन कराने लगी।

१८वी शताब्दी के अन्त मे उत्तर के मुसलमानो की बोलचाल की भाषा वहाँ पर पहुँची तो वहा पर बोलियों का सघर्ष प्रारम्भ हुआ। उनकी भाषा को दक्खिनी हिन्दी तथा उत्तर वालो की बोली को शिमाली उर्दू कहा गया। उत्तर वालों को वहा के साहित्यिक उत्कर्ष ने अत्यन्त प्रभावित किया और यही कारण है कि जब उत्तरी बोली अथवा शिमाली उर्दू के प्रथम कवि 'वली' दक्षिण जाकर दिल्ली लौटे तो उनका अत्यन्त स्वागत किया गया। उस समय तक फारसी युक्त दिल्ली की भाषा राज-दरबार की भाषा का स्थान ग्रहण कर चुकी थी। इसके प्रथम कवि वली की रचनाओ का यदि अवलोकन किया जाए तो ज्ञात होगा कि उसमे फारसी के शब्द अत्यन्त कम मात्रा मे कही-कही बिखरे हुए से मिलते हैं। इसीलिए इनकी भाषा को रेख्ता या रेख्ती नाम दिया गया।

वली के दिल्ली मे बस जाने के बाद दिल्ली उर्दू साहित्य का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। 'सौदा' और 'मीर' जैसे उच्च कवियो ने अपनी प्रतिभा का योगदान उसमे दिया। कुछ समय बाद लखनऊ और रामपुर भी उसके केन्द्र बने और उर्दू दिन दुगुनी रात चौगुनी उन्नति करने लगी। उसके अनेक परिणाम निकले। फारसी लिपि मे होने तथा राजघरानो द्वारा अपना लिए जाने के कारण 'उर्दू' मुसलमानो की धार्मिक और सास्कृतिक भावनाओ की सूचिका भाषा बन गई। फलत दक्षिण के मुसलमानो की तरह इसमे भारतीय वातावरण की अवतारणा के स्थान पर फारस और अरब के वातावरण का चित्रण किया जाने लगा। सापेक्षित रूप मे फारसी और अरबी के शब्दों की बहुलता दृष्टिगत होने लगी। ग़ालिब जसे शायरो की शायरी 'उर्दू' के स्थान पर फारसी का सा रूप धारण करने लगी। फिर भी यह कहा जा सकता है कि अब तक इस भाषा ने साम्प्रदायिक एव ईर्ष्यालु रूप धारण नही किया था। इधर हिन्दू लोग इसे यामनी या जामनी भाषा (लिपि के कारण) समझकर अपना नही रहे थे और ब्रज का मोह छोडने को भी तत्पर नहीं थे। उधर 'उर्दू' फारसी साहित्य के आधार पर समृद्ध होती जा रही थी। इसके लखनऊ केन्द्र ने अवधी भाषा के सिंहासन को हिला दिया था।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे हिन्दुओ का ध्यान भी अपनी इस आकारान्त भाषा की ओर गया और मुशी सदासुखलाल ने सुखसागर का १८०३ ई० के लगभग प्रणयन किया और इस प्रकार दक्खिनी हिन्दी का दूसरा रूप साहित्य के रगमञ्च पर उपस्थित हुआ। यद्यपि स १७९८ का रामप्रसाद निरजनी कृत योगवासिष्ठ का भाषानुवाद मिलता है, किन्तु हिन्दी गद्य का प्रारम्भ

मुं० सदासुखलाल से ही माना जाता है। जान गिलक्राइस्ट ने फोर्ट विलियम कालेज में उर्दू और हिन्दी के दो विभाग स्थापित किए और हिन्दी के लिए सदल मिश्र और लल्लूलाल को नियुक्त किया था। तत्पश्चात् राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह रंगमञ्च पर उपस्थित हुए। यह समय था जब हिन्दी और 'उर्दू' का विवाद प्रारम्भ हुआ। राजा लक्ष्मणसिंह को लिखना पड़ा— हिन्दी और 'उर्दू' दो बोली न्यारी न्यारी हैं यह कथन भाषा वैज्ञानिक तथ्य को नहीं अपितु तात्कालिक धार्मिक भावना को ही अधिक मात्रा में व्यक्त करता है।

## हिन्दी उर्दू विवाद

जैसा कि पहले कहा गया है कि प्रारम्भ में दक्खिनी हिन्दी की लिपि और लेखक शाह इस्लाम से सम्बद्ध थे पर उनके द्वारा व्यक्त भावनाएँ पूर्णतः भारतीय थीं। जब अंग्रेज यहाँ पर आए और सन् १८५७ में उन्हें भयंकर विरोध का सामना करना पड़ा तो कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों की पैनी दृष्टि से यह छुपा न रह सका कि भारत में शासन करने के लिए हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य परमावश्यक है। अतः उन्होंने प्रारम्भ में ही हिन्दी और उर्दू को दो सम्प्रदायों की भाषा करार दे दिया और शिक्षा के क्षेत्र में उर्दू को स्थान दे दिया और हिन्दी को अविकसित एवं गंवारू कहकर टाल दिया। इससे हिन्दुओं की भावनाएँ अत्यन्त पीड़ित हुई और वे संस्कृत शब्दावली का आश्रय लेकर नागरी हिन्दी की समृद्धि हेतु जी जान से जुट गए। परिणामतः हिन्दी संस्कृत बहुला और उर्दू, अरबी फारसी बहुला भाषाएं हो गई। इस प्रकार एक ही भाषा दो शैलियों वाली होने के कारण दो भाषाओं के रूप में सामने आई।

भारतीय कांग्रेस की स्थापना १८८५ ई० में हुई थी किन्तु उस समय उसका उद्देश्य सामान्य था। धीरे धीरे यह संस्था भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की ओर अग्रसर हुई। इस संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के लिए भारत की भावनात्मक एकता की नितान्त आवश्यकता थी। भाषा उसमें अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अतः महात्मा गांधी के द्वारा कांग्रेस की बागडोर अपने हाथों में सम्भाल लिए जाने के पश्चात् उन्होंने श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को लिखा था— 'मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न तो स्वराज्य का प्रश्न है।' फलतः महात्मा गांधी का हिन्दी साहित्य सम्मेलन में प्रवेश हुआ और उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' का गठन हुआ तथा हिन्दीतर भाषा भाषी प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार कार्य जोरों से प्रारम्भ हो गया। सन् १९२६ में कांग्रेस का कानपुर अधिवेशन हुआ जिसमें श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन का यह प्रस्ताव कि 'कांग्रेस की समस्त कार्य विधि हिन्दुस्तानी में सम्पन्न हो' पारित किया गया। इस प्रकार हिन्दी और उर्दू के धार्मिक विवाद में हिन्दुस्तानी

भाषा का नवीन समावेश हुआ। १९३६ ई० में जब उपरिकथित समिति का गठन किया गया तो मुसलमानों ने 'अंजुमन तरक्किए उर्दू' की स्थापना दिल्ली में की। कहने का तात्पर्य यह है कि विवाद बढ़ता ही गया तो गाँधी जी को हिन्दुस्तानी की नवीन परिभाषा एवम् बनाए रखने के लिए निश्चित करनी पड़ी। बाबर के द्वारा जिस अर्थ में हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया गया था, अब वह उस अर्थ में नहीं रह गई थी। इसका परिणाम यह भी हुआ कि बंगाल की बंगला में मुसलमान लोग अधिक से अधिक फारसी और अरबी के शब्दों का प्रयोग करने लगे थे। स्थिति यह हुई कि हिन्दी और उर्दू एक राजनीतिक प्रश्न बन गया। स्वयं कांग्रेस में इससे सम्बन्धित कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। कुछ व्यक्तियों में यहाँ तक गिरावट आई कि एक एक शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की जाने लगी। डा० चाटुर्ज्या ने घटना उद्धृत की है जो इस प्रकार है 'राष्ट्रीय भारतीय कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित एक प्रचलित शिक्षा पद्धति के विषय में 'विद्या मन्दिर' शब्द का प्रयोग साम्प्रदायिक मनोभावना का अच्छा उदाहरण है। कट्टरता वादी मुसलमानों द्वारा इसका विरोध किया गया क्योंकि वे इसके स्थान पर बैत उल इल्म चाहते थे। फिर बीच का सुझाव 'पढ़ाई घर' लाया गया। आगे अपना मन्तव्य देते हुए डाक्टर साहब ने लिखा है कि 'पढ़ाई घर' शब्द से व्यक्त होने वाले विचार इतने मामूली तथा साधारण श्रेणी के होते हैं कि उनसे किसी को सन्तोष नहीं होता।'[7] इस प्रकार का भानुमती का कुनबा भाषा के विकास के लिए श्रेयस्कर नहीं होगा।

उपर्युक्त समस्त विवाद के पीछे पाकिस्तानी मनोभावनाएँ तो कार्य निरत थीं ही साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से आंग्ल भाषा को इस विवाद से सर्वाधिक लाभ पहुँच रहा था। यह इसी विवाद का परिणाम है कि आज भी यह शाम नाक भाषा हमारे सिर पर सवार है तथा इसके हामी केवल उँगलियों पर गिने जाने लायक भी नहीं हैं। अब समय आ गया है कि हिन्दी और उर्दू आपस में गले से मिल जाएँ और राष्ट्र को एक बहुत बड़ी परेशानी से बचा लें।

---

[7] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १७६।

दशम अध्याय

# हिन्दी ध्वनियाँ स्वरूप और विकास

ध्वनि से तात्पर्य—ध्वनि और स्फोट—ध्वनि की उचित परिभाषा—हिन्दी की स्वर और व्यञ्जन ध्वनियाँ—स्वर ध्वनियों के वर्गीकरण की प्रणालियाँ—स्वर ध्वनियों का स्वरूप—व्यञ्जन ध्वनियों के वर्गीकरण की प्रणालियाँ—व्यञ्जन ध्वनियों का स्वरूप—स्वर ध्वनियों की उत्पत्ति—व्यञ्जन ध्वनियों की उत्पत्ति।

## ध्वनि

ध्वनि सिद्धांत को लेकर प्राचीन भारतीय वाङ्मय में अत्यंत सूक्ष्म दृष्टिकोण से विचार विमर्श हुआ है। यद्यपि इस सिद्धांत के अग्रज वैयाकरण ही रहे हैं[1] तथापि काव्य शास्त्रियों एवं दार्शनिकों का भी कम योगदान इसमें नहीं रहा है। इनमें अन्तर केवल विषय के दृष्टिकोण का ही है। काव्य शास्त्री इसका सम्बन्ध व्यङ्ग्य के साथ जोड़ते हैं और वैयाकरण अर्थ के साथ। वैयाकरणों के अनुसार 'शब्द भाषा का शरीर है तो अर्थ उसकी आत्मा है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वतः सिद्ध हो जाता है। शब्द और अर्थ का उक्त सम्बन्ध स्थापित हो जाने के पश्चात् वैयाकरणों के समक्ष यह समस्या उत्पन्न हुई कि शब्द से अर्थ का बोध तो होता है, परन्तु बोध का माध्यम क्या है? फलतः 'स्फोटवाद' का आविर्भाव हुआ। स्फोट का निर्वचन इस प्रकार किया गया—'स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ का प्रस्फुटन होता है वह स्फोट है। पर्याप्त विचार विमर्श के पश्चात् वैयाकरण इस निर्णय पर पहुँचे कि वे वर्ण जो स्फोट को उत्पन्न करते हैं, ध्वनि हैं। भर्तृहरि ने स्फोट के तीन भेद करते हुए 'शब्दज' स्फोट को ध्वनि बताया है—

> यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
> स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः ॥[2]

अर्थात्—वाग् यन्त्रों के संयोग और वियोग से जो शब्दज शब्द का स्फोट होता है वह ध्वनि है। इस प्रकार स्फोटज शब्द तीन प्रकार के हो जाते हैं—(१) संयोगज शब्द, (२) वियोगज शब्द और (३) शब्दज शब्द। शब्द का प्रारम्भिक रूप या तो संयोगज होता है अथवा वियोगज किन्तु इनका जो अन्य रूप हमें सुनाई देता है वह वही का वही न होकर उससे निःसृत होता है, अतः शब्दज शब्द अर्थात् शब्द से उत्पन्न शब्द कहलाता है। यहाँ पर प्रयुक्त 'शब्द

---

1 'प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन् मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्य वाचक—संमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्व-साम्याद् ध्वनिरित्युक्तम्' इत्यादि।

(ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत तेरहवीं कारिका—भाष्य)

2 डॉ॰ अम्बाप्रसाद सुमन कृत हिन्दी भाषा, पृष्ठ १४।

शब्द का स्पष्टीकरण परमावश्यक है क्योंकि व्याकरण में यह दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—एक तो वर्णों के संघात के लिए और दूसरा ध्वनि के लिए। दार्शनिक विवेचन के समय इसका प्रयोग प्रायः ध्वनि के अर्थ में ही होता है। पतञ्जलि ने शब्द का प्रयोग ध्वनि के लिए किया है, यथा— प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।[3] स्वयं भर्तृहरि ने 'शब्दज शब्दो ध्वनि' कह कर शब्द तथा ध्वनि की एकार्थकता का बोध कराया है। पतञ्जलि ने कुछ आगे चलकर ध्वनि को और स्पष्ट करते हुए लिखा है स्फोट शब्द। 'ध्वनि शब्दगुण।[4] जब हम स्फोटवाद के अन्तस्तल में प्रविष्ट होते हैं तो यह अन्तर केवल स्थूल या बाह्य मात्र रह जाता है क्योंकि जब अर्थ प्रतीति के प्रश्न को लेकर पुनः चिन्ताशील मनीषियों की मनीषा कार्य निरत होती है और भिन्न भिन्न रूपों को लेकर विद्वत्समाज के समक्ष उपस्थित होती है तब किन्हीं विद्वानों ने अर्थ बोधन की शक्ति वर्ण में स्वीकार की है किन्हीं ने शब्द में और किन्हीं ने वाक्य में। फलतः स्फोट के आठ भेद हो जाते हैं— (१) वर्णगत स्फोट (२) पदगत स्फोट (३) वाक्यगत स्फोट (४) अखण्ड पदगत स्फोट (५) अखण्ड वाक्यगत स्फोट (६) वर्णगत जाति स्फोट (७) पदगत जाति-स्फोट (८) वाक्यगत जाति स्फोट।

उपर्युक्त विभाजन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन सभी में स्फोट तो वर्तमान रहता है पर उनमें मात्रा की न्यूनाधिकता रहती है। स्फोट की पूर्णता अर्थ की पूर्णता पर निर्भर करती है। वर्ण, स्फोट की लघुतम ईकाई का एक सिरा है तो वाक्य उसकी पूर्णता की इकाई का दूसरा छोर है। अन्य सब बीच के सोपान कहे जा सकते हैं और इस प्रकार वैयाकरण व्यष्टि (वर्ण) से समष्टि (वाक्य) की ओर अग्रसर होता है तथा भाषा शास्त्री समष्टि से व्यष्टि की ओर।

पाणिनि ने अध्यात्म का आश्रय लेते हुए वायु की विकृति को ध्वनि का रूप दिया है। पाणिनि के अनुसार आत्मा अपने भावों को व्यक्त करने के लिए बुद्धि का संयोग प्राप्त करती है और मन को अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करती है। प्रेरणा प्राप्त मन शरीरस्थ अग्नि को उद्दीप्त करता है और अग्नि उद्दीप्ति के कारण वायु उत्प्रेरित हो उठता है। वह फेफड़ों को स्पंदित करती हुई बहिर्गमनशीला हो उठती है और मूर्धा पर आघात करती है। इस प्रक्रिया में मुख विवर के अवयवों में वायु की स्थिति के अनुसार हलचल होने लगती है (जिसे वैयाकरणों ने प्रयत्न की संज्ञा से अभिहित

---

3 पतञ्जलि महाभाष्यम १/१/१।

4 वही, १/१/६।

किया है) और इस प्रकार वर्णों का जन्म होता है[5] और श्रोता उसे सुन लेता है। वह श्रवण ही ध्वनि है और उसका अवबोध ही स्फोट है। आधुनिक भाषा शास्त्री आत्मा तथा अन्तःकरणों की उपेक्षा करते हुए केवल वायु विकृति को ही ध्वनि की सज्ञा देते हैं। डॉ बाबूराम सक्सेना ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार करते है—"मनुष्य जीवन भर निरन्तर श्वास लेता है और बाहर फेंकता रहता है जिस श्वास को हम बाहर फेंकते हैं उसी की विचित्र विकृति से ध्वनियों की सृष्टि होती है।'[6] इसी प्रकार प्रसिद्ध ध्वनि वेत्ता श्री के एल पाठक लिखते हैं—'मनुष्य के फेफड़ों से निसृत होने वाली वायु से ध्वनियों की सर्जना होती है। वास्तव में इस वायु की सहायता से हँसना छींकना खाँसना और सीटी बजाना आदि अनेक प्रकार की ध्वनियाँ निर्मित होती हैं।"[7] प्राय सभी आधुनिक भाषाविद इसी प्रकार ध्वनि की परिभाषा करते हैं, परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा दोष यह रह जाता है कि श्वास तो हम प्रतिक्षण लेते रहते हैं, किन्तु प्रतिक्षण ठीक उसी प्रकार की जिस प्रकार की ध्वनियाँ हमारी विवेच्य हैं उत्पन्न नहीं होती। अतः आत्मा मन बुद्धि आदि में से किसी न किसी प्रवृत्ति का अस्तित्व तो हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा जिससे इच्छित ध्वनियों की अभिव्यक्ति की समस्या समाधित हो सके। हाँ स्थूल में यह कहा जा सकता है कि मुख विवर से निष्कासित होती हुई वायु की विकृति (सकारण) ही ध्वनि है।

अन्त में दोनों मतों को दृष्टिगत रखते हुए ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि जब वायु का सकारण सचरण फेफड़ों में होता हुआ स्वरतन्त्रियों के माध्यम से मुख विवर के मार्ग से बाहर निकलता है तब ध्वनि की सृष्टि होती है जो भाषा के क्षेत्र में अपेक्षित है। इसका लघुतम रूप मूल ध्वनि या वर्ण कहलाता है और पूर्णतम रूप वाक्य की संज्ञा प्राप्त करता है। प्रस्तुत अध्याय में हम हिन्दी भाषा की लघुतम ध्वनि अर्थात् वर्ण पर विचार करेंगे।

---

[5] आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मन कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्र जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुत।
वर्णाञ्जनयते तेषा विभाग पञ्चधा स्मृत॥

पाणिनीय शिक्षा ६ ७ ६।

[6] डा बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषा विज्ञान पृष्ठ ८३।

[7] डा अम्बाप्रसाद सुमन—हिन्दी भाषा पृष्ठ १३।

वण या अक्षर का प्रत्येक भापा मे दो रूपो मे रखा जाता है—(१) स्वर और (२) व्यञ्जन। आज तक इनका विभेदक तत्त्व उच्चारण की स्थिति को ही स्वीकार किया जाता था, किन्तु अब इस पर विद्वानो का मतभेद पाया जाता है। पहले 'स्वर' उन ध्वनिया को कहा जाता था, जो बिना किसी अन्य ध्वनि की सहायता के उच्चरित हो सकें और 'व्यञ्जन वे होते थे जिनका उच्चारण स्वर की सहायता से ही सम्भव हो सके। आजकल विभिन्न प्रयोगो एव यन्त्रो की सहायता से प्राय सिद्ध सा ही हो गया है कि व्यञ्जनो को भी स्वर की सहायता के बिना उच्चरित किया जा सकता है। डा बाबूराम सक्सेना ने इसके कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये है। आपके अनुसार *स्वरो के उच्चारण करने मे वायु अबाध गति से बाहर निकल जाती है किन्तु व्यञ्जनो का उच्चारण करते समय वायु की गति म पूण अथवा किञ्चित बाधा अवश्य उत्पन्न होती है। अत वायु की गति की अबाधता को ही स्वर और व्यञ्जनो का स्थूल विभेदक तत्त्व कहा जा सकता है। आप स्वर की परिभाषा इस प्रकार करते है— स्वर वह सघोप ध्वनि है जिसके उच्चारण मे श्वास नलिका से आती हुई श्वास धारा प्रवाह *अबाध गति से* निकल जाती है और मुख विवर म ऐसा कोई सकोच नही होता कि किञ्चित मात्र भी सघप या स्पश हो। स्वर के अतिरिक्त शेष ध्वनियाँ व्यञ्जन हैं। व्यञ्जन वह सघोप या अघोप ध्वनि है जिसके मुख विवर स निकलने म पूण रूप से अथवा कुछ मात्रा मे बाधा उत्पन्न होती है।'[6] मेरी दृष्टि म उक्त परिभाषाएँ अधिक उपयुक्त एव विज्ञान सम्मत है।

हिन्दी भापा मे अधोलिखित ध्वनिया मिलती हैं—

स्वर —ह्रस्व—अ इ, उ।
दीघ—आ, आ, ई, ऊ, ए ऐ, ऐ, ओ, ओ, औ।
स्वर=१३

व्यञ्जन—क ख ग घ ङ क ख ग ।=८
च छ ज झ, ञ । =५
ट ठ ड ढ, ण ड ढ। =७
त् थ द ध् न न्ह । =६
प फ, ब, भ म् म्ह फ। =७
य र, ल व, व ल्ह् रह । =७
श, स ह । =३
व्यञ्जन=४३

---

[6] डा बाबूराम सक्सेना—सामान्य भापा विज्ञान, पृष्ठ ४६।

सूचना—हिन्दी स्वरों म सस्कृत तत्सम श न्दो को लिखने के लिए ऋ का प्रयोग तो किया जाता है किन्तु इसका उच्चारण रि' की तरह से किया जाता है। अत इसे स्वरो म सम्मिलित नही किया गया है। इसी प्रकार व्यन्जना मे भी 'ळ का प्रयोग केवल अनुस्वार के लिए ताल य स्पश व्यन्जनो के साथ तत्सम शब्दावली म मिलता अवश्य है, किन्तु इसका उच्चारण भी न की तरह से होने लगा है। ष का प्रयोग तत्मम शब्दो म स्वतन्त्र रूप से मिलता है, पर इसका उच्चारण भी श की तरह से ही सुनाई देता है। अत इन दोना को व्यन्जनो मे नही रखा गया। कुछ स्वर यथा 'आ और व्यञ्जन, जसे—'क, ख ग, ज, फ' विदेशी भाषाओ स हिन्दी ने अपना लिए हैं। अत अपभ्रश के स्वर तथा व्यञ्जना के साथ इन्हे भी सम्मिलित कर लिया गया है।

भाषाविद स्वर ध्वनियो का वर्गीकरण तीन दृष्टियो स करते हैं। प्राचीन वयाकरण उच्चारण काल की दष्टि से भी स्वरो का विभाजन करते थे जो आजकल इतना प्रचलन म नहीं रह गया है। हम स्वरो को चार दष्टियो से वर्गीकृत करने मे विश्वास रखते हैं—(१) उच्चारण के समय की दष्टि स (२) जिह्वा की स्थिति की दृष्टि से, (३) मुख-द्वार की स्थिति की दष्टि स, (४) ओष्ठो की स्थिति की दृष्टि से।

(१) **उच्चारण के समय की दृष्टि से**—वयाकरणो का विश्वास है कि कुछ स्वरो के उच्चारण म एक मात्रा का समय लगता है कुछ मे दो मात्रा का समय और कुछ के उच्चारण म तीन मात्रा का समय लगता है। प्रथम को ह्रस्व' द्वितीय को दीर्घ' और तृतीय को प्लुत' कहा जाता है।[१] स्वरो का विवरण दते समय हमन उन्हे इसी क्रम से रखा है। हिन्दी मे प्लुत स्वर ध्वनियाँ नही पाई जाती।

(२) **जिह्वा की स्थिति की दृष्टि से**—जब वायु किसी स्वर ध्वनि का सजन करने हेतु मुख विवर म प्रवेश करती है तब जिह्वा की सामान्य स्थिति म कुछ विशिष्टता दखी जाती है। कुछ स्वरो के उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्रभाग कुछ के उच्चारण मे मध्यभाग' और कुछ के उच्चारण म पश्चभाग' ऊपर को उठ जाता है। जिस स्वर के उच्चारण मे जिह्वा का जो भाग ऊपर उठता है उसी के आधार पर उन्हे अग्र मध्य और पश्च स्वरो की सज्ञा से अभिहित करते हैं।

(क) **अग्रस्वर**—अग्र स्वर वे स्वर होते हैं जिनके उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्रभाग ऊपर उठ जाता है, यथा इ ई ए ऐ ऐॅ।

---

[१] ऊकालोऽज्झस्वदीर्घ प्लुत । पाणिनि अष्टाध्यायी १।२।२७।

(ख) मध्यस्वर—ये वे स्वर होते हैं, जिनके उच्चारण में जिह्वा का मध्यभाग ऊपर को उठता है, यथा अ॑।

(ग) पश्चस्वर—ये वे स्वर हैं जिनके उच्चारण में जिह्वा का पिछला भाग ऊपर को उठता है, यथा—आ ऑ, उ, ऊ, ओ, औ, ॵ।

(३) मुख द्वार की स्थिति की दृष्टि से—जब स्वरों का उच्चारण करते हैं तो जिह्वा की सामान्य स्थिति में विशिष्टता तो आती ही है साथ ही उसके उठने की माप का प्रभाव मुख द्वार पर भी पड़ता है। किन्हीं स्वर ध्वनियों के उच्चारण में मुख द्वार कम खुलता है तथा किन्हीं के उच्चारण के समय अधिक खुलता है। इस आधार पर स्वरों को चार भागों में विभाजित किया जाता है, यथा—(१) विवत, (२) अर्धविवत (३) संवृत और (४) अर्धसंवृत।

(क) विवृत स्वर—वे स्वर हैं जिनका उच्चारण करते समय जिह्वा का उतिष्ठ भाग पूर्णतः नीचाई की स्थिति में रहता है। फलतः मुख विवर खुला रहता है और अत्यन्त विस्तीर्ण अवस्था में आ जाता है। ऐसी स्थिति में उच्चरित स्वर विवृत स्वर कहलाते हैं यथा—आँ।

(ख) अर्ध विवृत स्वर—ये वे स्वर होते हैं जिनका उच्चारण करते समय जिह्वा की इतनी ऊँचाई हो जाती है कि सम्पूर्ण मुख खुला न आधा खुला रहता है। डा० अम्बाप्रसाद सुमन ने इस इस प्रकार उपस्थित किया है कि अर्धविवृत स्वरों का उच्चारण करते समय जिह्वा विवृतावस्था और संवृतावस्था की कुल दूरी के ⅓ भाग तक ही उठती है।[10]

(ग) संवृत स्वर—ये वे स्वर होते हैं जिनका उच्चारण करते समय जिह्वा इतनी ऊँचाई तक ऊपर उठ जाती है कि मुख विवर अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है अर्थात मुख विवर बन्द हो जाता है यथा ई, ऊ।

(घ) अर्ध संवृतस्वर—ये वे स्वर होते हैं जिनका उच्चारण करते समय जिह्वा आधे से भी अधिक ऊँची उठ जाती है और मुख द्वार आधा बन्द हो जाता है यथा—ए ओ आदि।

(४) ओष्ठों की स्थिति की दृष्टि से—जब स्वरों का उच्चारण किया जाता है तब जिह्वा की तरह ओष्ठों की सामान्य स्थिति में भी कुछ विशिष्टता आ जाती है। अन्तर केवल इतना है कि प्रत्येक स्वर के उच्चारण करते समय जिह्वा की स्थिति में तो अवश्य कुछ न कुछ परिवर्तन आयेगा ही पर ओष्ठों के साथ ऐसी बात नहीं है। कुछ ऐसे स्वर भी हैं जिनका उच्चारण करते समय ओष्ठ यथा स्थिति में ही रहते हैं। इस दृष्टि से स्वरों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है यथा—(१) विस्तृताकार स्वर, (२) वर्तुलाकार स्वर तथा (३) उदासीन स्वर।

---

10 डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन—हिन्दी भाषा (अतीत और वर्तमान) पृष्ठ ३०।

(क) विस्तृताकार स्वर—इन स्वरों का उच्चारण करते समय दोनों होंठ मुखद्वार के दोनों ओर फैल जाते हैं और वायु अबाधगति से निसृत होती हुई इन स्वर ध्वनियों का सर्जन कर देती है, यथा—इ ई, ए ऐ।

(ख) वर्तुलाकार स्वर—इन स्वरों का उच्चारण करते समय दोनों होंठ मुखद्वार के सामने गोलाकार स्थिति में आ उपस्थित होते हैं, यथा—उ, ऊ, ओ औ ऑ।

(ग) उदासीन स्वर—इन स्वरों का उच्चारण करते समय दोनों होंठ यथास्थिति रहते हैं, न फैलते हैं और न ही गोलाकार रूप ही धारण करते हैं यथा—अ।

भारतीय मनीषियों ने स्वरों की इन स्थितियों का पता बहुत पहले ही लगा लिया था। महर्षि पाणिनि ने इन स्थितियों को 'प्रयत्न' की संज्ञा दी है। तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (अष्टाध्यायी १/१/६)। इस पर वृत्ति करते हुए कौमुदीकार ने लिखा है 'यत्नो द्विधा आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्य पञ्चधा। स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृत—विवृतसंवृत भेदात् विवृत स्वराणाम्। ह्रस्वस्य अवर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रिया दशायां तु विवृतमेव।'[11] इससे स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा में 'अ' को छोड़कर प्रायः सभी स्वर विवृत उच्चरित होते थे किन्तु आधुनिक भारतीय भाषाओं में स्वरों की ऐसी स्थिति नहीं है। इनमें से कुछ संवृत हो गए हैं और कुछ अर्धविवृत और अर्धसंवृत। हिन्दी का 'अ' अब न विवृत है और न संवृत बल्कि अर्धविवृत है। अतः उच्चारणगत शैथिल्य एवं त्वरा ही ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो भाषा को विकसित कर उसे नये रूप में उपस्थित कर देती हैं।

हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) भाषा की स्वर ध्वनियों का स्वरूप (उपर्युक्त विवेचन के आधार पर) निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

'अ'—यह अर्ध विवृत, मध्य, उदासीन, ह्रस्व स्वर है। इसका उच्चारण करते समय मुख द्वार आधे से अधिक खुला रहता है तथा जिह्वा का मध्य भाग कुछ उठता है और होंठ यथारूप बने रहते हैं। हिन्दी भाषा में आदि—मध्य तथा अन्त—सभी स्थानों पर इसका प्रयोग मिलता है, यथा—रमण करण (करने के लिए) आदि। 'अ' का एक रूप और मिलता है जहाँ वह मूल 'अ' की अपेक्षा लघूच्चरित होता है, यथा—स्वरभक्ति के कारण आगम किए हुए सभी अकार। शब्द के मध्य में तथा पदान्त में 'अ' का उच्चारण आज कल नहीं के बराबर किया जाता है, किन्तु पदान्त में यदि संयुक्त व्यञ्जन के

---

[11] वरदराजाचार्य कृत लघुसिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ २५ हिन्दी टीका—भीमसेन शास्त्री।

साथ होता है तो इसका उच्चारण शुद्ध रूप में ही किया जाता है, यथा—साहित्य, धातुज आदि ।

'आ'—यह विवृत, पश्च वर्तुलाकार दीर्घ स्वर है । इसका उच्चारण करते समय मुख विवर पूर्णत खुला रहता है । जिह्वा का पश्च भाग कुछ मात्रा में ऊपर उठता है तथा होठ गोलाकार से हो जाते हैं । प्राचीन वैयाकरण इसे अ का दीर्घ रूप मानते हैं ।[12] आधुनिक भाषाविदों के अनुसार आ अ का दीर्घ रूप नहीं है बल्कि या कहते हैं कि इसका ह्रस्व रूप हिन्दी भाषा में नहीं है ।[13]

'ऑ'—अंग्रेजी शब्दों का उच्चारण करने के लिए यह ध्वनि हिन्दी में आई है, यथा—कॉलिज डाक्टर आदि । इसका प्रयत्न स्थान ओ और आ के बीच का है अर्थात इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का पिछला भाग आ की अपेक्षा कुछ ऊँचा और ओ की अपेक्षा कुछ नीचा उठता है ।

'इ'—यह संवृत, अग्र विस्तृताकार ह्रस्व स्वर है । इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्र भाग उठ कर लगभग कठोर तालु के समीप पहुँच जाता है और मुख विवर प्राय बन्द सा हो जाता है तथा होठ मुख-द्वार के दोनों ओर फैल जाते हैं । उक्त स्वर का प्रयोग शब्दों के आदि मध्य अन्त सभी स्थितियों में मिलता है, यथा—पिया, बहिन आदि । इसका स्थान ई' से कुछ नीचा रहता है ।

ई'—यह संवृत, अग्र विस्तृताकार, दीर्घ स्वर है । इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्र भाग कठोर तालु के बहुत समीप पहुँच जाता है । इ की अपेक्षा इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्र भाग कुछ अधिक ऊँचा उठा हुआ होता है । इसका प्रयोग भी शब्द के आदि मध्य और अन्त में उपलब्ध होता है, यथा—ईख, बत्तीस पोथी आदि ।

'उ'—यह संवृत पश्च वर्तुलाकार ह्रस्व स्वर है । इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का पिछला भाग कोमल तालु के लगभग समीप पहुँच जाता है पर ऊ के स्थान से कुछ नीचा रह जाता है । अत मुख विवर बन्द सा हो जाता है । होठ मुख-द्वार के पास गोलाकार से हो जाते हैं तथा उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है । इसका प्रयोग शब्द के आदि मध्य और अन्त सभी स्थानों पर होता है ।

'ऊ'—यह संवृत पश्च वर्तुलाकार दीर्घ स्वर है । इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का पिछला भाग कोमल तालु के बहुत समीप पहुँच जाता है

---

[12] वही पृष्ठ ७६ (अक सवर्णे दीर्घ ६/१/६८) इत्यादि ।

[13] डा उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृष्ठ ३१६ २० ।

और मुख विवर को बन्द कर देता है होठ पूर्णतया गोलाकार हो जाते हैं। इसके उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है। अत दीर्घ स्वर है। इसका प्रयोग आदि, मध्य तथा अन्त सभी स्थानों पर मिलता है।

'ए'—यह अर्ध संवृत, अग्र, विस्तृताकार, दीर्घ स्वर है। इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्रभाग, संवृतावस्था और विवृतावस्था की कुल दूरी के ⅔ भाग तक ऊँचा उठ जाता है और इसी अनुपात से मुख विवर लगभग आधे से कुछ अधिक बन्द हो जाता है। दोनों होठ मुख-द्वार के दोनों ओर फल जाते हैं। इसके उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है। अत दीर्घ स्वर है। अवधी तथा ब्रज आदि भाषाओं में इसका ह्रस्व रूप तथा फुसफुसाहट वाला रूप भी मिलते हैं किन्तु खड़ी बोली हिन्दी में इन दोनों रूपों का प्राय अभाव ही है।

'ऐ'—संस्कृत व्याकरण के अनुसार यह विवृत अग्र, विस्तृताकार, दीर्घ स्वर है। इसे सन्ध्यक्षर कहा जाता है। अत इसका उच्चारण स्थान कण्ठ और तालु दोनों निश्चित किये गये हैं, परन्तु हिन्दी में यह लगभग अग्रस्वर है। इसका उच्चारण संस्कृत तत्सम शब्दावली के उच्चारण के लिए किया जाता है और किया जाना चाहिए। कुछ लोग शैल, कैलाश आदि की ऐ का उच्चारण भी 'ऐसा और कैसा' की ऐ ध्वनि के समान सा करते, हैं जो कि उचित नहीं है।

ऍ'—यह हिन्दी भाषा में विकसित मूल ध्वनि है। संस्कृत के सन्ध्यक्षर ऐ से इसका भेद दिखलाने के लिए नीचे एक चिह्न लगा दिया गया है। समस्त तद्भव शब्दावली में इसका उच्चारण मूल स्वर की भाँति ही किया जाता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश बिहार और महाराष्ट्र के लोग अभी भी इसका उच्चारण न्यूनाधिक रूप में सन्ध्यक्षर जैसा करने का यत्न करते हैं जो कि उचित नहीं है। यह अर्धविवृत अग्र, विस्तृताकार दीर्घ स्वर है। इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्र भाग संवृतावस्था और विवृतावस्था की दूरी के ⅓ भाग तक ही ऊपर उठता है। होठ विस्तृत आकार में हो जाते हैं। यह हिन्दी का मूल दीर्घ स्वर है। पदान्त में इसका प्रयोग नहीं मिलता।

'ओ'—यह अर्धसंवृत पश्च वर्तुलाकार दीर्घ स्वर है। इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का पिछला भाग संवृतावस्था और विवृतावस्था की कुल दूरी के ⅔ भाग तक ऊपर उठता है और मुख विवर आधे से अधिक बन्द हो जाता है। होठ गोलाकार हो जाते हैं तथा इसके उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है। इसका प्रयोग आदि मध्य तथा अन्त सभी रूपों में मिलता है, यथा—ओर जाओ करादो आदि।

'औ'—यह संस्कृत की सन्ध्यक्षर ध्वनि है। संस्कृत में इसका उच्चारण (ओदौतो कण्ठौष्ठम अ० १/२/६) कण्ठ और ओष्ठ माने हैं। हिन्दी में तत्सम

शब्दावली में इसका उच्चारण अर्धविवृत से कुछ नीचे के स्थान से होता है और तद्भव शब्दावली में उच्चरित ध्वनि से कुछ भिन्न प्रकार से होना चाहिए।

'ऑ'—यह हिंदी में विकसित मूल स्वर है। तद्भव शब्दावली में इसका उच्चारण अर्धविवृत पश्च वर्तुलाकार, दीर्घ स्वर की तरह होता है। उच्चारण करते समय जिह्वा अर्धविवृत के समान स्वर से भी कुछ ऊपर उठ जाती है तथा होंठ वर्तुलाकार हो जाते हैं मुख विवर अर्धविवृत ध्वनि से कुछ कम खुला रहता है। पदांत में इसका प्रयोग नहीं मिलता।

व्यञ्जन ध्वनियाँ—प्राचीन वैयाकरणों ने व्यञ्जन ध्वनियों का वर्गीकरण स्थान तथा प्रयत्न की दृष्टि से किया है, परन्तु संस्कृत भाषा की व्यञ्जन ध्वनियों के आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक पहुँचते पहुँचते कुछ के उच्चारण स्थानों एवं प्रयत्नों में अन्तर आ गया है और कुछ उसी रूप में उच्चरित होती हुई आ रही हैं और इनमें से कुछ अपना अस्तित्व ही खो बैठी हैं। संस्कृत में आभ्यंतर प्रयत्न की दृष्टि से व्यञ्जनों को तीन भागों में विभाजित किया गया था—(१) स्पृष्ट, (२) ईषत्स्पृष्ट और (३) ईषद्विवृत। इनमें स्पर्शों को 'स्पृष्ट' अंतस्थों को ईषत्स्पृष्ट और ऊष्म ध्वनियों को ईषद्विवृत कहा गया है। स्पर्शों आदि को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है, 'कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तस्थाः। शल ऊष्माणः।'[14] हिन्दी में इन्हें यों कहा जा सकता है कि 'क' से लेकर 'म' तक के (२५) व्यञ्जन स्पर्श हैं। 'य र ल व' अंतस्थ तथा 'श ष स ह' ऊष्म हैं। पुनः बाह्य प्रयत्न के आधार पर इनका विभाजन किया गया है। बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के बताए हैं—(१) विवार (२) संवार (३) श्वास (४) नाद (५) अघोष, (६) घोष (७) अल्पप्राण (८) महाप्राण (९) उदात्त (१०) अनुदात्त और (११) स्वरित। अन्तिम तीन बाह्य प्रयत्न केवल स्वरों से सम्बद्ध हैं शेष के आधार पर व्यञ्जनों का विभाजन इस प्रकार है— खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम-तृतीय पञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।[15] उपर्युक्त विवरण को इस प्रकार समझा जा सकता है—

विवार श्वास, अघोष व्यञ्जन—क, ख च, छ ट ठ त थ प फ श, ष स।

संवार नाद, घोष व्यञ्जन—ग घ ङ ज झ ञ ड, ढ ण द, ध, न ब भ म य र ल व ह।

---

[14] तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम् १/१/९ की विवृति, सि० कौमुदी, संज्ञा प्रकरण।

[15] वही संज्ञाप्रकरण।

अल्पप्राण व्यञ्जन—क ग, ङ च, ज, ञ, ट, ड, ण त द न, प, ब म, य र ल, व।

महाप्राण व्यजन—ख, घ छ झ ठ ढ थ ध फ, भ, श, ष स ह।

प्रयत्नों की तरह स्थान की दृष्टि से भी प्राचीन वैयाकरणो ने ध्वनियो का विभाजन किया है जिनमे व्यञ्जन ध्वनियो का विभाजन इस प्रकार है—

कण्ठ्य ध्वनियाँ—क ख, ग घ ङ, ह विसर्ग। (अकुहविसर्जनीयानाम कण्ठ)
तालव्य ध्वनिया—च, छ ज झ ञ य श। (इचुयशाना तालु)
मूर्धन्य ध्वनिया—ट ठ, ड ढ, ण र, ष। (ऋटुरषाणा मूर्धा)
दन्त्य ध्वनिया—त थ, द, ध न ल स। (लतुलसाना दन्ता)
ओष्ठ्य ध्वनियाँ—प फ ब, भ, म। (उपूपध्मानीयानामोष्ठौ)
नासिक्य ध्वनिया—ङ ञ ण न म। (ञमङणनाना नासिका च)
दन्तौष्ठ्य ध्वनियाँ—व। (वकारस्य दन्तौष्ठम)

उपर्युक्त विवरण मे केवल व्यञ्जन ध्वनिया को ही गिनाया है, क्योकि स्वरो का विवेचन पहले हो चुका है। इस आधार पर जब हम हिन्दी की व्यञ्जन ध्वनियो पर दृष्टिपात करते हैं तो अनेक ध्वनियो म परिवर्तन दृष्टिगत होता है उदाहरण के लिए क वर्ग अब कण्ठ्य स्पर्श न रहकर कोमल तालुजन्य स्पर्श है। ङ को तो भाषा शास्त्री स्पर्शध्वनि ही स्वीकार नही करते। इसी प्रकार ह और विसर्ग भी कण्ठ्य ध्वनिया नही रहा। ह संघर्षी ध्वनिया कहा जाता है। द त्य ध्वनिया मे भी न ल तथा स दन्त्य की अपेक्षा वर्त्स्य ध्वनिया मानी जाती हैं। साथ ही अरबी एव फारसी की भी कुछ ध्वनिया को हिन्दी ने अपना लिया है। अत विभाजन का ढग कुछ बदल गया है। अल्पप्राण महाप्राण घोष तथा अघोष आदि की स्थिति यथा पूर्व है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि व्यञ्जनों का विभाजन स्थान एव प्रयत्न की दृष्टि से किया जाता है। इन दोनो के मूल म अन्दर से आती हुई श्वास ही काय करती है जब श्वास स्वर यन्त्रो से निकलकर मुख विवर मे प्रवेश करती है तब उसमें कोई न कोई किसी न किसी प्रकार का विकार अवश्य उत्पन्न होता है। यह विकार जहाँ पर उत्पन्न होता है वही पर किसी भी ध्वनि विशेष का एक रेखा चित्र तैयार हो जाता है ठीक उसी समय मुख के अन्य अवयव भी काय निरत हो जाते हैं और उस स्थान विशेष के अनुसार वायु को बाहर निकलन देते हैं। यह प्रक्रिया उस स्थान विशेष पर बने ध्वनि के रेखा चित्र मे रूप रग भरने का काय कर देती है और ध्वनि का पूर्ण रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है। इस प्रकार जिस स्थान पर विकार उत्पन्न हुआ है उसी स्थान की ध्वनि उसे कहा जाता है और अवयवो ने जिस प्रकार का प्रयत्न किया उसी प्रकार को ध्वनि का रूप कहा जा सकता है। ऐसा

मथ होते हुए श्वास के बल की मात्रा में न्यूनाधिकता आ जाती है। उसी न्यूनाधिकता के आधार पर व्यञ्जन ध्वनियों की 'प्राणता' निश्चित की जाती है। इसी प्रकार श्वास की गूंज में भी अन्तर आता है जिसके आधार पर इसका घोषत्व निर्धारित होता है। इस प्रकार व्यञ्जनों को चार प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—(१) स्थान की दृष्टि से (२) मुखावयवों की प्रक्रिया की दृष्टि से (३) श्वास के बल की दृष्टि से और (४) श्वास की गूंज की दृष्टि से।

(१) <u>स्थान की दृष्टि से</u>—अन्दर से आती हुई श्वास को जहां पर यथावश्यकता विकृत किया जाता है वही उस ध्वनि का स्थान कहलाता है। इस दृष्टि से हिन्दी ध्वनियां (व्यञ्जन) को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) कोमल तालुजन्य, (२) मूर्धन्य (३) तालव्य, (४) वर्त्स्य (५) दन्त्य (६) दन्तोष्ठ्य और (७) ओष्ठ्य। इसके अतिरिक्त अलिजिह्वीय और उपालिजिह्वीय दो भेद और किये जाते हैं।

(क) कोमल तालुजन्य—ये वे ध्वनियां होती हैं जिनका उच्चारण करते समय भीतर से आती हुई वायु कोमल तालु पर आकर विकृत हो जाती है जिससे हिन्दी की 'क ख' आदि ध्वनियों का सृजन होता है।

(ख) मूर्धन्य—ये वे ध्वनियां हैं जिनका उच्चारण करते समय श्वास कोमल तालु और कठोर तालु के बीच के स्थान पर विकृत होती है। हिन्दी की ट ठ आदि ध्वनियां मूर्धन्य हैं।

(ग) तालव्य—ये वे ध्वनियां हैं जिनका उच्चारण करते समय भीतर से आती हुई श्वास कठोर तालु पर विकृत होती है। कठोर तालु को केवल 'तालु' शब्द से भी अभिहित करते हैं। हिन्दी की 'च छ' आदि ध्वनियां हैं।

(घ) वर्त्स्य—ये वे ध्वनियां हैं जिनका उच्चारण करते समय श्वास वायु मसूड़ों के पास विकृत होती है। हिन्दी की न् ल आदि वर्त्स्य ध्वनियां हैं।

(ङ) दन्त्य—ये वे ध्वनियां हैं जिनका उच्चारण करते समय वायु दांतों के पास आकर विकृत होती है। हिन्दी की 'त थ' आदि ध्वनियां दन्त्य हैं।

(च) दन्तोष्ठ्य—जब वायु (श्वास) में नीचे के होंठ और ऊपर के दांतों के पास विकार आता है तब दन्तोष्ठ्य ध्वनियां का सृजन होता है जैसे—हिन्दी 'व'।

(छ) ओष्ठ्य—इन ध्वनियों को आजकल द्वयोष्ठ्य कहने का भी प्रचलन है पर संस्कृत के आधार पर इन्हें ओष्ठ्य कहना उचित है। जब भीतर से जाती हुई वायु दोनों होठों पर आकर विकृत होती है तब ओष्ठ्य ध्वनियां का सृजन होता है, यथा—हिन्दी प फ आदि।

(२) <u>मुखावयवों की प्रक्रिया की दृष्टि से</u>—जब अन्दर से श्वास किसी

ध्वनि विशेष का सजन करने हेतु बाहर निकलने का प्रयत्न करती है मुख के अवयव कभी एक दूसरे अवयव का स्पश करते है, कभी ये अवयव परस्पर म सघष करते हैं, कभी जिह्वा का पाश्व ऊपर उठ जाता हैं कभी जिह्वा लिपट कर वलयाकर हो जाती है तथा कभी धीरे से तथा कभी झटके से अपनी पूव स्थिति म आ जाती है। इस प्रकार के आधारो पर व्यञ्जनो को निम्न प्रकार से विभाजित किया जाता है—(१) स्पश (२) सघर्षी (३) स्पश सघर्षी (४) पार्श्विक (५) लुठित और (६) उत्क्षिप्त।

(क) स्पश—भीतर से ध्वनि निर्माण हेतु आती हुई श्वास को जब मुख के कोई दो अवयव उसको कुछ क्षणो के लिए रोक देते हैं तब स्पश ध्वनियो का निर्माण होता है, यथा—क च्, ट, त् प आदि।

(ख) सघर्षी—जब भीतर की श्वास बाहर आने के लिए मुख विवर मे प्रविष्ट होती है, तब यदि इसके कोई दो अवयव एक दूसरे का घषण करने लग जाते हैं तो सघर्षी ध्वनियों का सजन होता है, यथा—फ ज, स आदि।

(ग) स्पश सघर्षी—इन ध्वनिया का उच्चारण करते समय मुख विवर म पहले तो दो अवयवा का कुछ स्पश होता है और फिर घषण प्रारम्भ हो जाता है, यथा—च छ आदि।

(घ) पार्श्विक—जब ये ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, तब जिह्वा का एक पाश्व अथवा दोनो पाश्व ऊपर उठकर वायु के निष्क्रमण म बाधा उपस्थित कर देते हैं, यथा—ल ल्ह आदि।

(ङ) लुण्ठित—इन ध्वनियो का उच्चारण करते समय जिह्वा को यथा सम्भव लपेट लिया जाता है तब वायु निष्क्रमित होती है तथा ध्वनि निकलने तक यही स्थिति बनी रहती है यथा—र रह।

(च) उत्क्षिप्त—लुण्ठित अवस्था को प्राप्त जिह्वा को एक क्षण उस अवस्था मे रखकर फिर झटके के साथ उसे पूव स्थिति पर ले आया जाए तब उत्क्षिप्त ध्वनियो का सजन होता है, यथा—ड, ढ आदि।

(३) श्वास के बल की दृष्टि से—जब श्वास ध्वनि सजन के हेतु बाहर आने के लिए सन्नद्ध होती है तो उसके बल को सापेक्षिक दृष्टि से आँका जाता है। उस अकन म किसी ध्वनि पर अल्प बल होता है और किसी म महत् बल। इस दृष्टि से इसके दो भेद किये जाते हैं—(१) अल्प प्राण और (२) महाप्राण।

(४) श्वास की गूज की दृष्टि से—जब श्वास वायु उस स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ से सम्बद्ध व्यञ्जन का उच्चारण होना है तब से लेकर ध्वनि का उच्चारण समाप्त होने तक यदि गूज बनी रहती है तो उस सघोष कहते हैं और यदि गूज उच्चारण स्थान पर श्वास के पहुँचने के पश्चात् से अन्त तक

## हिंदी व्यञ्जन ध्वनियाँ
### वर्गीकरण

| उच्चारण स्थान | स्पर्श | | | | स्पर्श संघर्षी | | | | नासिक्य | | संघर्षी | | | | पार्श्विक | | लुण्ठित | | उत्क्षिप्त | | अर्धस्वर | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | अघोष | | सघोष | | अघोष | | सघोष | | सघोष | | अघोष | | सघोष | | सघोष | | सघोष | | सघोष | | सघोष | |
| | अल्प प्राण | महा प्राण | अल्प प्राण | महा प्राण | अल्प प्राण | महा प्राण | अल्प प्राण | महा प्राण | अल्प प्राण | महा प्राण | अल्प प्राण | महा प्राण | अल्प प्राण | महा प्राण | अल्प प्राण | महा प्राण | अल्प प्राण | महा प्राण | अल्प प्राण | महा प्राण | | |
| काकल्य | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | ह | — | — | — | — | — | — | — | — |
| कोमल तालव्य | क | ख | ग | घ | — | — | — | — | ङ | — | क़ | ख़ | ग़ | — | — | — | — | — | — | — | — | — |
| तालु वर्त्स्य | — | — | — | — | च | छ | ज | झ | ञ | — | — | श | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — |
| मूर्धन्य | ट | ठ | ड | ढ | — | — | — | — | ण | — | — | ष | — | — | — | — | — | — | ड़ | ढ़ | — | — |
| वर्त्स्य | — | — | — | — | — | — | — | — | न् | न्ह | — | स | ज़ | — | ल | ल्ह | र | र्ह | — | — | — | — |
| दन्त्य | त | थ | द | ध | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — |
| दन्तोष्ठ्य | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | फ़ | — | — | — | — | — | — | — | — | — | व |
| ओष्ठ्य | प | फ | ब | भ | — | — | — | — | म | म्ह | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | व |
| तालव्य | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | — | य् |

नही सुनाई देती तो उन ध्वनिया को अघोष कहा जाता है। इस दृष्टि से इसके दो ही भेद किये जाते है—(१) सघोष और (२) अघोष।

हिन्दी व्यञ्जनों का सभी दृष्टियो से किया गया विभाजन पृष्ठ २४० पर दिये गये चक्र से भली प्रकार समझा जा सकता है।

## हिन्दी स्वर एव व्यञ्जन ध्वनियो की उत्पत्ति

किसी भी भाषा की ध्वनिया की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जब हम बात करते हैं तब उसका तात्पय होता है कि उस भाषा विशेष मे पायी जाने वाली ध्वनियो का उसकी पूवजा भाषाओ मे क्या रूप था ? कुछ स्थल अथवा यो कहिये कि कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनमे कोई ध्वनि विशेष सुरक्षित चली आती है और किन्ही मे वह अपना रूप सवथा बदल लेती है। अत आलोच्य भाषा की उस ध्वनि का उसी अथ को देने वाले तद्रूप शब्द मे प्रयुक्त ध्वनि के साथ मिलान कर हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि अमुक ध्वनि परिवर्तित होकर अमुक ध्वनि बन गई। दूसरे रूप मे—ऐसे कह सकते है कि अमुक ध्वनि का विकास या उत्पत्ति अमुक ध्वनि से हुई है। उदाहरण के द्वारा यो समझा जा सकता है सस्कृत 'स्तम्भ शब्द प्राकृत मे 'खम्भो बनता है और हिन्दी मे खभा। अत हम कह सकते हैं कि सस्कृत स्त विकसित होता हुआ हिन्दी मे ख हो गया अथवा या कह सकते हैं कि हिन्दी ख की उत्पत्ति सस्कृत 'स्त' से हुई है। प्रस्तुत अध्याय मे हम दूसरी प्रणाली के माध्यम से हिन्दी के स्वरो एव व्यञ्जनो की उत्पत्ति पर विचार करेंगे।

हिन्दी स्वरो का विवरण पूव पृष्ठो पर दिया जा चुका है। उसी क्रम म एक एक स्वर ध्वनि की उत्पत्ति निम्न प्रकार से है

अ' हिन्दी की 'अ' ध्वनि सस्कृत अ, आ, इ, ई, उ ऋ ए, आदि स्वरो से विकसित हुई है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [अ] | [अ] | [अ] |
| आखर | अक्खर | अक्षर |
| अगर | अगर | अगरु |
| अगला | अग्गिल | अग्रिल |
| [अ] | [आ] | [आ] |
| अहीर | आहीर | आभीर |
| अरब | आरब | आरब (अरब देश का रहने वाला) |
| असाढ़ | आसाढ | आषाढ़ |

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| अलान | आलाण | आलान |
| अहेर | आहेर | आखेट |
| [अ] | [अ] | [आ] |
| बखान | बक्खाण | व्याख्यान |
| अड़सठ | अट्ठसट्ठि | अष्टाषष्टि |
| परख | परिक्ख | परीक्षा |
| [अ] | [अ/इ] | [इ ई] |
| बहिण | बहिणी | भगिनी |
| गहर/गहरा | गहिरउ | गभीर |
| बनारस | बाणारसी | वाराणसी |
| बाहर | बहिर | बहिर |
| कूख/कोख | कुक्खि | कुक्षि |
| परख | परिक्ख | परीक्षा |
| आग | अग्गि | अग्नि |
| [अ] | [अ, उ] | [उ] |
| काचली | कचुलिआ | कचुलिका |
| गेंद | गेंदुअ | कन्दुक |
| करेन | करेणु | करेणु |
| कुँवर | कुवार | कुमार |
| [अ] | [अ इ] | [ऋ] |
| मट्टी | मट्टिआ | मृत्तिका |
| भट्ट/भाट | भट्ट/भड | भत |
| काट | कट्ट | कत |
| मयक | मियक | मृगाङ्क |
| बडा | वड्डअ | वद्धक |
| भगार | भिगार | भृ गार |
| [अ] | [ए] | [ए] |
| नारियल | नारिएल | नारिकेल |

'आ'—हिन्दी भाषा का आ प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'अ, आ, उ' से ही विकसित हुआ है। डॉ उदयनारायण तिवारी ने आ' की उत्पत्ति कुछ ऐसे रूपों से मानी है जो उचित प्रतीत नहीं होती। आपने 'आ' की उत्पत्ति उ+अ से बताकर उसका उदाहरण 'विरूप शब्द' प्रस्तुत किया है जिसका मध्यकालीन रूप 'बुरुअ बताकर बुरा' शब्द सिद्ध किया है। इस

प्रकार 'अ+आ' के भी उदाहरण दिए हैं। इनमे भी 'आ' वर्तमान होने के कारण इसकी उत्पत्ति 'आ' मे ही मानी जानी अधिक उचित है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [अ] | [आ] | [आ] |
| बाईस | बावीस | द्वाविंशति |
| भाई | भाइअ | भ्रातृक |
| दावण | दामण | दामन |
| धाड़ी (डाकू) | धाडी | धाटी |
| [आ] | [अ] | [आ] |
| काज | कज्ज | काय |
| बात | वत्ता | वार्ता |
| बाजा | बज्ज | वाद्य |
| फागुन/फागण | फग्गुण | फाल्गुन |
| [आ] | [अ] | [अ] |
| काम | कम्म | कर्म |
| चाम | चम्म | चर्म |
| पात | पत्त | पत्र |
| पाटी | पट्टिया | पट्टिका |
| [आ] | [उ] | [उ] |
| फरशा | फरसु | परसु |
| खाज | खज्जु | कच्छु |
| [आ] | [अ] | [ऋ] |
| नाच | णच्च | नृत्य |
| काट | कट्ट | कृत |

'इ'—हिन्दी भाषा मे 'इ' का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'अ इ, ई, ऋ तथा ए' से हुआ है। 'इ, ए' का पारस्परिक परिवर्तन संस्कृत भाषा से ही प्रारम्भ हो गया था।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [इ] | [अ] | [अ] |
| अधियार | अधयार/अधआर | अन्धकार |
| करिंजा | करंज | करञ्ज (वृक्ष विशेष) |
| किरच | करक्च/करक्य/करअच | क्रकच (आरा) |
| घिसन | घसण | घर्षण |

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [इ] | [इ] | [इ] |
| बहिण | बहिणी | भगिनी |
| गवालिनी/ग्वालिनी | गोवालिणी | गोपालिनी |
| चुल्हि | चुल्लि | चुल्लि |
| दखिन/दाहिण | दक्खिण | दक्षिण |
| [इ] | [इ] | [ई] |
| मगसिर | मग्गसिर | मार्गशीर्ष |
| सिरिस | सिरिस | शिरीष |
| चाचरिया | चचरीअ | चञ्चरीक |
| [इ] | [इ] | [ऋ] |
| सिंगार | सिंगर/सिणगार | शृंगार |
| खिच्चड़ | किसर | कृशर |
| तिस | तिसा | तृषा |
| तिनका | तिणक | तृणक |
| [इ] | [ए] | [ए] |
| इक्कीस | एआईस | एकविंशति |
| इरड | एरड | एरण्ड |
| जिमावन | जेमावण | जेमन |
| जिठानी | जिट्ठाणी | ज्येष्ठानी |

'ई'—हिन्दी भाषा में 'ई' का विकास 'इ, ई, ऋ' से सम्पन्न हुआ है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [इ] | [इ/ई] | [इ] |
| इंधन | इंधण | इंधन |
| ईख | इक्खु | इक्षु |
| इक्कीस | एक्कवीस | एकविंशति |
| ऊजानी | ऊज्जाणिआ | औद्यानिका |
| कांचली | कंचुलिआ | कञ्चुलिका |
| [ई] | [इ] | [ई] |
| चीत्कार | चिक्कार | चीत्कार |
| झीणा | झिण्ण | क्षीण |
| झीण/जीण/जीरन | जिण्ण/जीरण | जीर्ण |
| तीजा | तिइज्ज | तृतीय |
| [ई] | [ई] | [ई] |
| तीमर (तीमन) | तीमण | तीमन |

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| दादुरी | दद्दुरी | दर्दुरी |
| दीवा | दीवअ | दीपक |
| नीड | णिड्ड | नीड |
| [ई] | [इ/ई] | [ऋ] |
| पीठ | पिट्ठि | पृष्ठ |
| मीच | मिच्चु | मृत्यु |
| गीध | गिद्ध | गध्र |
| घी | घिअ | घृत |

'उ—हिंदी भाषा म 'उ ध्वनि का विकास 'उ, ऊ तथा ओ स हुआ है। डॉ उदयनारायण तिवारी ने अ से भी बताया है और उसका केवल एक उदाहरण विरुप>वुरअ>बुरा दिया है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [उ] | [उ] | [उ] |
| कुल्हाडा | कुहाडअ | कुठारक |
| कुम्हार | कुंभार | कुम्भकार |
| चुल्लू | चुलुअ | चुलुक |
| ठाकुर | ठक्कुर | ठक्कुर |
| तुम | तुज्म | तुभ्यम |
| [उ] | [उ/ऊ] | [ऊ] |
| कुइया | कूविया | कविका |
| कुआ | कुवअ | कूपक |
| तुरी/तुरइ | तुरिअ/तूर | तय |
| पुकार | पुक्कार | पूत्कार |
| [उ] | [उ] | [ओ] |
| बुझाया | बुज्झाविय | बोधित |
| मुसना | मुसण | मोषण |
| लुहार | लोहार | लोहकार |

'ऊ—ऊ की उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आय भाषा की 'उ ऊ ऋ तथा औ ओ ध्वनियों म हुई है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ऊ] | [उ] | [उ] |
| ऊपर | उप्परि | उपरि |
| ऊँट | उट्ट | उष्ट्र |

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| ऊपल | उप्पल | उत्पल |
| ऊँबर | उंबर | उदुम्बर |
| [ऊ] | [उ/ऊ] | [ऊ] |
| ऊन | उण्ण | ऊर्ण |
| घूम | घुम्म | घूर्ण |
| चून | चुण्ण | चूर्ण |
| [ऊ] | [उ] | [ऋ] |
| बूढा | बुड्ढअ | वृद्धक |
| झाऊ | झाउ | ध्यातृ |
| पूछा | पुच्छ | पृष्ट |
| भाऊ | भाउ | भ्रातृ |
| [ऊ] | [उ] | [औ, ओ] |
| मून | मूण | मौन |
| सूडा (जाति विशेष) | सुंडिअ | शौण्डिक |
| पूस | पुस्स | पौष |
| गडूला | गड्डुल | गडोल |

'ए'— ए ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा अ इ ऋ, ए ऐ से हुआ है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ए] | [ए] | [अ] |
| गेंद | गेंदुअ | कंदुक |
| सेज | सेज्जा | शय्या |
| बेल | वल्लि | वल्लि |
| तेरह | तेरहो | त्रयोदश |
| [ए] | [ए/ई] | [इ] |
| सेंदूर | सेंदूर | सिंदूर |
| केसू | किसुअ | किंशुक |
| कनेर | कणिआर | कर्णिकार |
| छेद | छिद्द | छिद्र |
| तेपन/तरेपन | तेवण्ण/तरेवण्ण | त्रिपंचाशत |
| तरेसठ/तिसठ | तेसट्ठि | त्रिषष्टि |
| [ए] | [ए] | [ऋ] |
| गेही (अत्यासक्त) | गेहिअ | गृद्धिक |

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| घेली/गेहूली | गहिल्ली | गृहिल्लिका |
| वट | विट/वट | वृत |
| [ए] | [ए] | [ए] |
| खेत | खेत्त | क्षेत्र |
| खेड़ा | खेडअ | खेटक |
| गेह | गेह | गह |
| चेरी | चेडी | चटी |
| जेठ | जेट्ठ | ज्येष्ठ |
| [ए] | [ए] | [ऐ] |
| तेल | तेल | तैल |
| तेली | तलि | तैलिक |
| देसी | देसिअ | दश्य/दैशिक |
| केवट | केवट्ट | कैवत |

'ओ'—इस ध्वनि का विकास उ ओ तथा औ से हुआ है।

| | | |
|---|---|---|
| [ओ] | [आ/उ] | [उ] |
| ओलभ | उवालभ | उपालम्भ |
| कोख | कुक्खि | कुक्षि |
| कोपल | कुपल | कुड्मल |
| कोढ | कुड्ढ | कुष्ठ |
| [ओ] | [ओ] | [ओ] |
| कोयल | कोइल | कोकिल |
| कोठा | कोट्ठअ | कोष्ठक |
| गोठ | गोट्ठ | गोष्ठ |
| गोह | गोहा | गोधा |
| [ओ] | [ओ अउ] | [औ] |
| गोरी | गउरी/गोरी | गौरी |
| कौल | कउल | कौल |
| कोमल | कउमल | कौमल |
| दोवारी | दुवारिअ | दौवारिक |

नोट—ऐ और औ का विकास अपभ्रंश 'अइ तथा अउ से हुआ है स्वर मध्यस्थ व्यञ्जन का लोप होकर हुआ। अत सीधा प्राचीन भारतीय आय भाषाओ से सम्बद्ध न होने के कारण उनके उदाहरण नही दिए गए हैं। ए/औ केवल तत्सम शब्दावली म ही प्रयुक्त होते हैं।

## हिन्दी व्यञ्जन ध्वनियो की उत्पत्ति

हि दी (साहित्यिक खडी बोली) भाषा का शब्दकोष इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हि दी भाषा के प्रकाश म आने तक आधुनिक भारतीय आय भाषाएँ प्राचीन परम्परा के आधार पर ही विकसित नहीं हो रही थी, अपितु अय क्षेत्रो से भी सामग्री का चयन कर रही थीं। यहाँ तक प्राकृता की उपेक्षा कर इन भाषाओ ने अपना सीधा सम्बध सस्कृत भाषा से जोडने का उपक्रम भी कर लिया था। यह प्रयास हिन्दी भाषा म दो रूपो मे देखने को मिलता है। एक तो उसके शब्दो को ज्यो का त्यो ग्रहण करने के रूपो मे जिसको विद्वानो ने 'तत्सम शब्दावली के नाम से अभिहित किया है और दूसरे सस्कृत के कतिपय शब्दो म अपनी सुविधा के अनुसार परिवतन कर ग्रहण करने के रूप म। इस तद्भव शब्दावली' कहते हैं। द्वितीय प्रकार के शब्द अपनी पूरी मजिल तय किये बिना ही सीधे हिन्दी भाषा मे आ जाने के कारण मध्यकालीन आय भाषाओ के नियमो को चुनौती देते हुए से दिखाई देने लगे। अत विद्वानो न ऐसे शब्दो के लिए एक नए वग की स्थापना की, जिसे अध तत्सम की सज्ञा मिली। इसके साथ साथ अग्रेजी, उदू पोतगीज फ्रेंच आदि भाषाओ की शब्दावली ने भी हिन्दी भाषा म प्रवेश प्राप्त किया और अभी तक हि दी भाषा भाषियो का यह प्रयत्न दिखाई देता है कि उनकी शब्दावली मे प्रयुक्त ध्वनियो को उसी रूप मे सुरक्षित रखा जाए। अत उन ध्वनियो के सही उच्चारण को बनाए रखने के लिए हिन्दी के कतिपय ध्वनि चिह्नो के नीचे बिन्दु लगाकर उन ध्वनि चिह्नो का निर्धारण भी किया जा चुका है, किन्तु अब भी विद्वानो म मतभेद है कि इन ध्वनियो को यथातथ्य रूप मे रखा जाए अथवा इनका हिन्दीकरण कर लिया जाए। मैं डा देवेन्द्रनाथ स अक्षरश सहमत हूँ कि इन ध्वनियो का हिन्दीकरण कर लेना ही अधिक श्रेयस्कर होगा।[16] इससे एक तो यह लाभ होगा कि उक्त शब्दो का विदेशीपन समाप्त हो जाएगा और दूसरे उन व्यक्तियो को भी जो फारसी अरबी आदि भाषाओ के ज्ञाता नही हैं सन्देह की स्थिति से मुक्ति प्रदान करेगी। अ यथा वे शब्दो का अशुद्ध उच्चारण कर उपहास के पात्र बनने के भागी होगे यथा—ज़लील (तुच्छ) और जलील (श्रेष्ठ)। हिन्दी म यदि इस चिह्न की स्थिति को हटा दिया जाए और ठीक उदू उच्चारण पर बल न दिया जाए तो श्रोता/पाठक यथास्थिति जिस अथ की आवश्यकता होगी, ग्रहण कर लेगा और यदि इस पर बल

---

[16] डा देवेन्द्रनाथ शर्मा, राष्ट्रभाषा हिन्दी, समस्याएँ और समाधान, पृष्ठ ११८।

दिया गया तो फिर अल्पज्ञ व्यक्ति ज़लील के स्थान पर जलील बोल कर सारा गुडगोबर कर देगा। इसके लिए यह तर्क दिया जाता है कि वक्ता लेखक को उनका ज्ञान होना चाहिए पर सब भाषाओं का ज्ञान एक व्यक्ति को होना आवश्यक नहीं है, दूसरे हिन्दी एक जीवित भाषा है और उर्दू भी देश में प्रचलित ही है। अत इसके शब्दो के प्रवेश पर रोक लगाना भी सरल काम नहीं है और सम्भवत उचित भी नहीं होगा। फिर विशिष्ट उच्चारण और लेखन पर अधिक बल देना कम रखता है। अत मैं इस समय इन शब्दो से आगत ध्वनियो पर विचार करने नहीं जा रहा हूँ। इसे उस समय तक के लिए छोड़ रहा हूँ जब तक कि विद्वान किसी एक मत पर नहीं पहुँच जाते। वैसे पाठकों के ज्ञान के लिये यहाँ ध्वनि रूपों मे उनका विवरण प्रस्तुत कर दिया है। नीचे क्रमश व्यञ्जनो की उत्पत्ति दी जा रही है—

'क'—हिन्दी की यह ध्वनि अनेक स्रोतो से व्युत्पन्न हुई है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की 'क' तथा क्क ध्वनियो ने इसका रूप निर्माण किया है। यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देना वाञ्छनीय होगा कि डा उदयनारायण तिवारी तथा अन्य विद्वानो ने उन संस्कृत ध्वनियो से भी इसकी तथा अन्य इसी प्रकार के व्यञ्जनो की उत्पत्ति दिखाई है जिस व्यञ्जन ध्वनि विशेष के संयोग के कारण मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की द्वित्व कर देने की प्रवृत्ति से व्युत्पन्न हुई हैं, जैसे 'त्क' यथा, क्व>क्क>क। पर यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि अन्त मे अवशिष्ट क' ध्वनि तो इनमें प्रारम्भ में भी वर्तमान थी, दूसरे इससे संयुक्त अन्य ध्वनि, जैसे प व, य र जो द्वित्वप्रवृत्ति के कारण क्रमश क क क मे बदल गई थी हिन्दी भाषा तक आते आते लुप्त हो गई और प्रारम्भिक मूल ध्वनि केवल मात्र अवशिष्ट रह गई और जब हम यह दिखा देते हैं कि प्राचीन आर्य भाषा की क ध्वनि से हिन्दी स क ध्वनि उत्पन्न हुई है तो फिर इन्हें अलग से गिनाने मे कोई औचित्य दृष्टिगत नहीं होता। हाँ ऐसी कोई संयुक्त ध्वनि (प्रा भा आ की) जो मध्यकाल म किसी अन्य ध्वनि मे परिवर्तित होकर पुन उसी रूप म हिन्दी म प्रविष्ट होती है तो उसका निश्चय ही महत्त्व है और उस पर विचार भी होना चाहिए, जैसे स्क' ध्वनि है। प्राकृत में यह 'ख' ध्वनि म परिवर्तित होती है और अपना मूल स्वरूप पूर्णत बदल लेती है तथा पुन केवल क ध्वनि के रूप म हिन्दी मे दिखाई देती है। अत इस क को निश्चय ही पृथक रूप म उत्पन्न हुआ दिखाया जाना चाहिए। प्रस्तुत शोधक म इसी सिद्धान्त को अपनाकर विवेचना की गई है। हाँ इतना अवश्य है कि स्वर मध्यस्थ अल्पप्राण ध्वनियाँ तभी सुरक्षित रह सकी हैं जब वे संयुक्त रही हैं अन्यथा मध्यकाल म उनका लोप पाया जाता है।

| | हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|---|
| [आदि क] | कड़ुआ | कड़ुअ | कटुक |
| | काग | काग | काक |
| [मध्य क] | तिलकुटनी (चतुर्थीव्रत) | तिलकुट्टिणी | तिलकुट्टिनी |
| [पदान्त क] | चाक | चक्क | चक्र |
| | [क] | [क्ख] | [स्क] |
| | कंधा | खंधअ | स्कन्धक |
| | कंधार | खंधावार | स्कन्धावार |
| | कंद | खंद | स्कन्द |

'ख्'—हिंदी ख ध्वनि, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के ख्, क्ष, स्क, ष्क, ष आदि ध्वनियों से उत्पन्न हुई है। 'ष' ध्वनि में 'ख' की व्युत्पत्ति सीधी संस्कृत से हिंदी में कर ली गई है। शेष ध्वनियाँ मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के माध्यम से विकसित होती हुई आई है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [आदि ख] | [आदि ख] | [आदि ख] |
| खाज | खज्जु | खर्जू |
| खीज | खिज्ज | खिद्य |
| [मध्य ख] | [मध्य ख] | [मध्य ख] |
| लिखवाया | लिखापित | लेखापित |
| लेखक | लेखक | लेखक |
| बखान | वक्खाण | व्याख्यान |
| [पदान्त ख] | [पदान्त ख] | [पदान्त ख] |
| दुख | दुक्ख | दुःख |
| सुख | सुख | सुख |
| [ख] | [क्ख] | [स्क] |
| खंभा | खंभअ | स्कम्भक |
| [ख] | [क्ख] | [ष्क] |
| पोखर | पोक्खर | पुष्कर |
| सूखा | सुक्खअ | शुष्कक |
| [ख] | [क्ख/छ] | [क्ष] |
| खेत | खेत | क्षेत्र |
| आखर | अक्खर | अक्षर |
| चख | चक्खु | चक्षु |
| भखना | भक्खण | भक्षण |

सूचना—जब 'क्ष' प्राचीन आर्य भाषाओं में आदि में होता है तो मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाओं में उसे 'ख' आदेश होता है और यदि मध्य में होता है तो उसे 'क्ख' आदेश होता है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ख] | [ख] | [क्ष] |
| खप्पर | खप्पर | क्षपर |
| खाज | खज्जु | कच्छु |
| खोजा | खुज्जअ | कुब्जक |

| हिंदी (अर्धतत्सम) | प्रा भा आ |
|---|---|
| बरखा | वर्षा |
| भाखा | भाषा |
| हरख | हर्ष |

'ग' 'ग'—ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'क, ग' तथा अर्ध तत्सम शब्दों में ज्ञ से उत्पन्न हुआ है। क् का ग में स्वर आगे होने पर परिवर्तित होना संस्कृत में भी पाया जाता है, पर आ भा आ तक स्वर का बन्धन समाप्त सा कर दिया गया है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ग] | [ग] | [ग] |
| गधा | गद्दह | गदभ |
| गेंडा | गडअ | गण्डक |
| गागर | गग्गरी | गगरी |
| अंग | अंग | अंग |
| [ग] | [ग] | [क] |
| काग | काग | काक |
| साग | साग | शाक |
| सगला | सगल्लअ | सकल |
| [ग] | × | [ज्ञ] |
| ग्यान | × | ज्ञान |
| आग्या | × | आज्ञा |
| सग्या | × | संज्ञा |

'घ'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में 'घ तथा ग' के साथ 'ह' ध्वनि होने पर 'घ' की उत्पत्ति होती है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [घ] | [घ] | [घ] |
| घी | घिअ | घृत |
| घाव | घाअ | घात |
| घिन | घिणा | घृणा |
| [घ] | [घ] | [ग+ह] |
| घर | घर | गृह |

'ङ'—यह ध्वनि अब हिन्दी में केवल तत्सम शब्दावली में ही मिलती है और इसका सही उच्चारण भी प्रायः समाप्त सा हो गया है। इसका स्वतन्त्र प्रयोग तो संस्कृत में ही अत्यल्प हो गया था। आदि में तो इसका प्रयोग मिलता ही नहीं और मध्यकाल में आकर इसे पूरी छुट्टी दे दी गई।

'च'—'च' का विकास प्राचीन आर्य भाषा के च, त्य तथा कहीं कहीं त्व से हुआ है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [च] | [च] | [च] |
| चाक | चक्क | चक्र |
| चख | चक्खु | चक्षु |
| काँचली | कंचुलिअ | कञ्चुलिका |
| कचनार | कंचणार | कञ्चनार |
| पाँच | पंच | पञ्च |
| [च] | [च्च] | [त्य] |
| साच/सच | सच्च | सत्य |
| नाच | नच्च | नृत्य |
| [च] | [च्च] | [त्व] |
| सोच | सोच्चा | श्रुत्वा |

'छ'—छ की उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की छ, क्ष [illegible] तथा [illegible] से हुई है। इनके अतिरिक्त थ्य [illegible] त्स प्स तथा [illegible] से भी छ की उत्पत्ति हुई है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [छ] | [छ] | [छ] |
| छन्ना | [illegible] | [illegible] |
| छप्पन | छप्पण | [illegible] |
| छून | [illegible] | [illegible] |

| दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| ] | [छ] | [श] |
| ड़ा | छक्कडअ | शकटक |
| ल | छाल | शाल (चुरादिगणीय शल+घञ) |
| छ] | [छ] | [ष] |
| | छह | षट |
| ठा | छट्ठम | षष्ठक |
| छ] | [छ] | [क्ष] |
| छमा | छमा | क्षमा |
| लछन | लच्छण | लक्षण |
| लछमी/लच्छी | लच्छमी/लच्छी | लक्ष्मी |
| छार | छार | क्षार |
| [छ] | [च्छ] | [थ्य] |
| राछ | रच्छ | रथ्य |
| पछ/पच | पच्छ | पथ्य |
| [छ] | [च्छ] | [श्च] |
| पछताव | पच्छित्तअ | प्रायश्चित्तक |
| पच्छिम | पच्छिम | पश्चिम |
| पाछे/पीछे | पच्छअ/पच्छइ | पश्चक/पश्चात् |
| बिच्छू | बिच्छुअ | वृश्चिक |
| [छ] | [च्छ] | [प्स] |
| इच्छित | इच्छित/इच्छिय | ईप्सित |
| अच्छरा | अच्छरा | अप्सरा |

'ज'—ज ध्वनि ज य य द्य से विकसित हुई है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ज] | [ज] | [ज] |
| जबू | जबुअ | जम्बुक |
| जड | जड | जड |
| जमाई | जामाइअ | जामातृक |
| [ज] | [ज] | [य] |
| जम | जम | यम |
| जमना | जमुणा | यमुना |
| जू | जूआ | यूका |
| सेज | सेज्ज | शय्या |

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ज] | [ज्ज] | [य] |
| काज | कज्ज | कार्य |
| [ज] | [ज्ज] | [द्य] |
| आज | अज्ज | अद्य |
| जुआ | जुअ | द्यूत |

'झ'—आज 'झ' जो मिलता है उसमें विद्वानों का मत है कि यह प्राकृत प्रभाव है और अधिकांश देशी शब्द हैं जो संस्कृत ■ अपना लिए गये हैं और हिन्दी में भी प्रायः उसी रूप में अपना लिए गये हैं यथा—झञ्झा झिल्ली, झंकार आदि। हिन्दी में 'ध तथा ध्य' से 'झ' ध्वनि अवश्य आई है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [झ] | [ज्झ] | [द/ध] |
| जूझ(ना) | जुज्झ | युध् |
| बूझ(ना) | बुज्झ | बुध |
| [झ] | [ज्झ] | [ध्य] |
| साँझ | सज्झा | सन्ध्या |
| बाँझ | बज्झा | बन्ध्या |

'ञ'—इस ध्वनि का उच्चारण हिन्दी में समाप्त हो गया है। इसका उच्चारण 'न' की तरह किया जाता है और यह केवल तत्सम शब्दावली में ही प्रयुक्त होती है। अनुस्वार के लिए सवर्णी के साथ भी इसका प्रयोग तद्भव शब्दावली में देखा जाता है जो कि उचित नहीं है।

'ट'—इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'ट' और 'त्' से हुई है। विदेशी शब्दों के साथ भी 'ट' ध्वनि का प्रवेश हिन्दी में हुआ है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ट] | [ट्ट] | [ट्ट/ट] |
| टूट(ना) | टुट्ट | त्रुट |
| अटारी/अटाली | अट्टालिअ | अट्टालिका |
| घटना | घट्टण | घटना |
| काँटा | कट्टअ | कण्टक |
| [ट] | [ट्ट] | [त/त/त्म] |
| भट | भट्ट | भत |
| केवट | केवट्ट | कवत |
| टल(ना) | टल (इ) | तर |
| बाट | वट्ट | वर्त्म |

'ठ'—इसकी उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के ठ स्थ ष्ट तथा थ' से हुई है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ठ] | [ठ] | [ठ] |
| कठ | कट्ठ | कण्ठ |
| ठाकुर | ठक्कुर | ठक्कुर |
| सोठ | सुण्ठिअ | शुण्ठिका |
| [ठ] | [ठ/ट्ठ] | [स्थ] |
| ठग | ठग | स्थग |
| ठान(पशुओं का स्थान) | ठाण | स्थान |
| [ठ] | [ठ] | [न्थ] |
| गाँठ | गंठि | ग्रन्थि |
| [ठ] | [ट्ठ] | [ष्ट] |
| कोठा | कोट्ठअ | कोष्ठक |
| मीठा | मिट्ठअ | मिष्टक |
| ढीठ | ढिट्ठ | धृष्ट |

'ड'— ड ध्वनि का विकास संस्कृत 'ट, ड द से हुआ है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ड] | [ड] | [ड] |
| डायन | डाइण | डाकिनी |
| निडर | णिडर | निडर |
| डमरू | डमरुअ | डमरुक |
| [ड] | [ड] | [ट] |
| कड़ाह | कडाह | कटाह |
| कडवा | कडुआ | कटुक |
| [ड] | [ड] | [द] |
| डाँस | डंस | दंश |
| डसना | डसण | दशन |
| डोल(ना) | डोल | दोलय |
| डडा | डडअ | दण्डक |
| डाभ | डब्भ | दर्भ |

नोट—प्राकृतो म प्राप्त अनादि ड हिन्दी मे 'ड़ हो जाता है—

| | | |
|---|---|---|
| कौड़ी | कवड्डिअ | कपर्दिका |
| घोड़ा | घोडअ | घोटक |
| पड़(ना) | पड(इ) | पत |

'ढ्'—संस्कृत 'ठ' तथा ध् से इस ध्वनि का विकास हुआ है। देशी शब्दों के माध्यम से उक्त ध्वनि हिन्दी भाषा में आई है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ढ] | [ढ] | [ठ] |
| पढ(ना) | पढ(इ) | पठ(ति) |
| [ढ] | [ढ] | [ध] |
| डढ | द्विडढ | द्वि अध |
| बढ(ना) | बड्ढ | वृध (वधते) |
| बूढा | वुड्ढअ | वृद्ध |
| ढीठ | ढिट्ठ | धृष्ट |

नोट—अनादि ढ को छोडकर मध्यकालीन आर्यभाषा का ढ' हिन्दी में ढ उच्चरित होता है। अनादि, जैसे—ढीठ।

'ण'—यह अनुनासिक स्पर्श ध्वनि भी ङ और ञ की तरह हिन्दी में अपना अस्तित्व खो चुकी है। हा तत्सम शब्दावली में अब इसका शुद्ध मूर्धन्य उच्चारण होता है, परन्तु तद्भव शब्दों में इसके स्थान पर प्राय 'न' मिलता है। जब यह स्वर रहित अन्य मूर्धन्य ध्वनियों के साथ प्रयुक्त होती है तब तो तत्सम शब्दावली में भी इसका उच्चारण न' जैसा ही सुनाई देता है यथा—'पण्डित'। परन्तु उच्चारण होता है 'पन्डित', पुण्य>पुन्य।

'त'—इस ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'त्, त्र' से माना जाता है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [त] | [त/त्त] | [त] |
| तेल | तेल्ल | तल |
| ताता | तत्तअ | तप्तक |
| तौंद | तुंद | तु ॰ |
| [त] | [त्त] | [त्र] |
| गात | गत्त | गात्र |
| पात | पत्त | पत्र |
| पूत | पुत्त | पुत्र |

थ'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं आदि में 'थ' का अभाव है। मध्य में तथा पश्चात में अवश्य मिलता है। हिन्दी थ की उत्पत्ति थ, स्त, स्थ, से हुई है।

| हिंदी | म भ आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [थ] | [त्थ] | [त्थ/थ] |
| चौथ | चउत्थ | चतुथ |
| मथनी | मत्थणिअ | म थनिका |
| [थ] | [त्थ] | [स्त] |
| पोथी | पुत्थी | पुस्ती |
| थन | थण | स्तन |
| हाथी | हत्थी | हस्ती |
| [थ] | [त्थ] | [स्थ] |
| थान | थाण | स्थान |
| ऊथल/उथला | उत्थल/उत्थलअ | उत्स्थलक |
| थापना | थप्पणअ | स्थापनक |
| थूणी | थूणी | स्थूणी |

'द'—इसका विकास सयुक्त एव असयुक्त द से हुआ है। सयुक्त 'द' ध्वनि से द का विकास उसी अवस्था म हुआ है जब दूसरी ध्वनि का विकास किसी अ य मे सम्भावित न था।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [द] | [द/द्द] | [द, द्र द द्र] |
| दुबला | दुब्बलअ | दुबलक |
| दु ख | दुक्ख | दु ख |
| दीवा | दीवअ | दीपक |
| दादुर | दद्दुर | दर्दुर |
| दोना | दोणअ | द्रोणक |
| कादा | कद्दम | कदम |
| भद्दा | भद्दअ | भद्रक |
| चाद | चद | चन्द्र |

'ध'—'ध' ध्वनि का असयुक्त और सयुक्त ध ध्वनियो से विकास हुआ है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ध] | [ध/द्ध] | [ध/ध/ग्ध/द्ध/ध्र] |
| धाम | धम्म | धम |
| धाडी | धाडी | धाटी |
| धनी | धणिअ | धनिक |
| आधा | अद्धअ | अधक |

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| दूध | दुग्ध | दुग्ध |
| गीध | गिद्ध | गृध्र |
| बधा (हुआ) | वधिअ | वद्ध |

'न'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के न, ण, ल, तथा ज्ञ से इसकी उत्पत्ति हुई है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [न] | [ण] | [न] |
| नाच | णच्च | नृत्य |
| निबटना | णिवट्टण | निवर्तन |
| नारंगी | णारंगिआ | नारङ्गिका |
| [न] | [ण] | [ण] |
| कान | कण्ण | कर्ण |
| कनेर | कण्णिआर | कर्णिकार |
| नितारना | णित्थारणा | निस्तारणा |
| [न] | [ल] | [ल] |
| नोन | लोण/लूण | लवण |
| नोचा (हुआ) | लुंचिअ | लुञ्चित |
| [न] | [ण] | [ज्ञ] |
| नैहर | णाइहर | ज्ञातिगृह |
| आन (महादेवजी की आन आदि के अर्थ में) | आणा | आज्ञा |

'प'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के असंयुक्त एवं संयुक्त प से इसका विकास हुआ है। संस्कृत के 'त्व' के लिए भी 'पण' का प्रयोग 'त' से 'प' का विकास सूचित करता है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [प] | [प्प] | [प त्प प्र म्प, र्प] |
| पका | पक्कअ | पक्वक |
| पाँख | पक्ख | पक्ष |
| उप्पल | उप्पल | उत्पल |
| पैर | पयर | प्रदर |
| काँप(ना) | कंप | कम्प् |
| साँप | सप्प | सर्प |
| खप्पर | खप्पर | खर्पर |

'फ'—इसकी उत्पत्ति भी प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के असंयुक्त और संयुक्त 'फ' से हुई है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [फ] | [फ] | [फ स्फ प] |
| फाग | फग्गु | फल्गु |
| फूल | फुल्ल | फुल्ल |
| फूकार | फुक्कार | फूत्कार |
| फोड(ना) | फोड | स्फोट |
| फूट(ना) | फुट्ट | स्फुट |
| फरशा | फरसु | परशु |

'ब'—इसका विकास मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के ब व द्व से हुआ है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ब] | [ब] | [ब] |
| बेर | बयर | बदरी |
| बाँझ | बंझा | बन्ध्या |
| बहरा | बहिरअ | बधिरक |
| [ब] | [व] | [व] |
| बाँदर | वाणर | वानर |
| बनिया | वणिअ | वणिक |
| बड | वड | वट |
| [ब] | [व] | [द्व] |
| घरबार | घरवार | गृहद्वार |
| बारह | वारह | द्वादश |

'भ'—इसका विकास संयुक्त और असंयुक्त भ से हुआ है। डॉ तिवारी ने 'म, व' से भी इसकी उत्पत्ति प्रदर्शित की है, यथा—मेष>वेष>भस>महिष'।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [भ] | [भ] | [भ भ्य] |
| भींत | भित्ति | भित्ति |
| भोज | भुज्ज | भूर्ज |
| भडार | भंडाआर | भाण्डागार |
| भीतर | भितर | आभ्यन्तर |

'म्'—असंयुक्त और संयुक्त म से हिन्दी म् व्युत्पन्न हुआ है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [म] | [म/म्म] | [म् म म्र श्म् ग्म] |
| मीत | मित्त | मित्र |
| माष (उड़द की दाल) | मास | माष |
| घाम | घम्म | घर्म |
| काम | कम्म | कर्म |
| आम | आम्म | आम्र |
| टम | दअम्य | दद्म्र |
| मसान | मसाण | श्मशान |

य'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की य ध्वनि हिन्दी तक आते आते ज रूप म उच्चरित होने लग गई। कुछ तद्भव शब्दों म ही इसका रूप देखने को मिलता है। पर उद्वृत्त स्वरों के साथ आई हुई य ध्वनि लगभग हिन्दी म सुरक्षित है यथा—लिये पाया गया, अधियारा आदि।

र'—इस ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के र' से हुआ है। सख्यावाचक शब्दों म प्राप्त र की व्युत्पत्ति के लिए स्पष्ट रूप म कुछ कहना खतरे से खाली नहीं है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [र] | [र] | [र] |
| रात | रत्ति | रात्रि |
| रुपया | रूप्पम | रूप्यक |
| रोस | रोस | रोष |
| गहरा | गहिरअ | गभीरक |
| क्वारी | कुआरी | कुमारी |

ल'—इसका विकास ल ड र' तीन ध्वनियों से हुआ है।

| हिन्दी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ल] | [ल] | [ल] |
| लौंग | लउग/लवग | लवग |
| लगूर | णागूल | लाङ्गूल |
| लास | लास्स/लास | लास्य |
| [ल] | [ल] | [ड] |
| सोलह | सोडस | षोडश |
| [ल] | [ल] | [र] |
| चालीस | चालीस | चत्वारिंशत् |
| लेखा | लेखा/लिहा | रेखा |
| टल(ना) | टल(इ) | तर |

'व'—इसका विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के व तथा म् से हुआ है किंतु साहित्यिक हिंदी में म से व्युत्पन्न शब्दों के प्रयोग का प्रचलन नहीं के बराबर है। उन शब्दों के स्थान पर प्रायः तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है। वैसे प्राय देखा यह जाता है कि कतिपय स्थलों को छोड़कर अधिकांश लोग (विद्वान भी) 'व' का उच्चारण 'ब' सदृश ही करते हैं। कुमार शब्द से बना कॅवर तथा कमल से बने 'कवल' का प्रयोग प्राय नहीं के बराबर है। संस्कृत 'वन' को अच्छे अच्छे विद्वान 'बन' ही कहते सुने जाते हैं। अतः कहा जा सकता है कि व की स्थिति अभी अस्थिर सी ही है।

'स'—हिंदी भाषा में लिखने में श ष स तीन का ही प्रयोग देखा जाता है, पर उच्चारण में केवल श स अवशिष्ट हैं। ष का उच्चारण प्राय श की तरह किया जाता है। श का लेखन एवं उच्चारण बस केवल तत्सम शब्दों में ही देखने को मिलता है। अतः कहा जा सकता है कि हिंदी में स ध्वनि ही उत्पत्ति की दृष्टि से अपना महत्त्व रखती है। इसका विकास असंयुक्त एवं संयुक्त श ष स से सम्पन्न हुआ है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [स] | [स] | [श, श्व, श्र] |
| दस | दस | दश |
| सौ/स | सअ | शत |
| पास | पस्स | पार्श्व |
| परमेसर | × | परमेश्वर |
| [स] | [स] | [ष ष] |
| कसनी | कस्सणी | कषणी |
| पूस | पोस | पोष |
| [स] | [स] | [स स्य] |
| सात | सत्त | सप्त |
| साँप | सप्प | सर्प |
| हास | हस्स | हास्य |

'ह'—ह ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा ह, श स घ थ ध तथा भ से हुआ है।

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| [ह] | [ह] | [ह] |
| हाथ | हत्थ | हस्त |
| हरि | हरि | हरि |
| हास | हस्स | हास्य |

| हिंदी | म भा आ | प्रा भा आ |
|---|---|---|
| हिंगलू | हिंगुल | हिङ्गुल |
| [ह] | [ह] | [श] |
| बारह | बारह | द्वादश |
| तेरह | तेरह | त्रयोदश |
| [ह] | [ह] | [ख घ, थ, ध, भ] |
| सहेली | सही+ली | सखी |
| नूह | णह | नख |
| रहट | रहट्ट | अरघट्ट |
| नाह | णाह | नाथ |
| सौंह | सवह/सउह | शपथ |
| बहू | बहू | वधू |
| बीरबहूटिका | बीरवहूटिका | बीरवधूटिका |
| अहीर | आहीर | आभीर |
| हुआ | हूआ | भूत |

हिंदी भाषा की स्वरूप निर्माणी प्रवृत्तियाँ—जैसाकि पूर्व पृष्ठों में देख चुके हैं, हिंदी भाषा का स्वरूप निर्माण ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था फिर भी उसका स्पष्ट रूप हम बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के आस पास से मियाँ अमीर खुसरो और कबीर के साहित्य में देखने को मिलता है पर इसके तुरन्त बाद हिंदी साहित्य के सिंहासन पर ब्रजभाषा को आसीन करा दिया गया और खड़ी बोली केवल एक प्रदेश विशेष की ही बोली बन कर रह गई। इसके कुछ समय पश्चात् यह मुसलमान लोगों के साथ दक्षिण में चली गई और वहाँ पर रेख्ता के नाम से पलती रही और फिर साहित्य में उर्दू के नाम से प्रादुर्भूत हुई। जब यह 'उर्दू' के नाम से प्रख्यात हुई उस समय इसका स्वरूप अरबी फ़ारसी की शब्दावली से इतना आवृत्त हो गया था कि डा० धीरेन्द्र वर्मा को यह कहना पड़ा कि खड़ी बोली ने जब बुर्का पहन लिया तो उर्दू कहलाई। इधर विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, अथवा यों कहिए कि अन्तिम वर्षों में उत्तर भारत की इस समय भाषा की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ और इसे साहित्यिक सिंहासन पर आरूढ़ करने का उपक्रम इन्होंने प्रारम्भ किया।

विक्रम की बीसवीं शताब्दी भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक उत्थान की शताब्दी है। इसी सदी में राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे समाज सुधारक बंगाल में और स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे प्रकाण्ड पण्डित एवं मनीषी गुजरात में अवतरित हुए और इन्होंने

क्रमश ब्रह्मसमाज एव आयसमाज की स्थापना की, जिसके माध्यम से विस्मृत जनता को उनके गौरवमय अतीत का प्रत्यभिज्ञान कराना ही इनका परमोद्देश्य था। अत सस्कृत भाषा के अध्ययन और अध्यापन का काय तीव्रता के साथ प्रारम्भ हुआ। इधर शृगार की रसिकता से आलिप्त ब्रजभाषा को आचाय महावीरप्रसाद द्विवेदी ने, साहित्य के आसन से च्युत कर खडी बोली का साहित्याभिषेक किया। खडी बोली को साहित्य की भाषा बनाने का एकमात्र उद्देश्य था—सोयी हुई जनता को जगाना क्योंकि खडी बोली मे पौरुष की झलक थी और मानव हृदय की शिथिल तन्त्रियो को झकृत करने की शक्ति। अतीत के प्रति आस्था न खडी बोली के कोष को सस्कृत शब्दावली स आपूरित कर दिया और परिणाम स्वरूप आज की साहित्यिक हिन्दी मे ७५% तत्सम शब्द आ गये। बुद्धिजीवी वग की इस सस्कृत प्रियता का प्रभाव जनसाधारण पर भी पडा और ये लोग अपने प्रतिदिन के जीवन म सस्कृत शब्दावली का प्रयोग करने म गौरव का अनुभव करने लगे। यह बात दूसरी है कि य लोग अपनी अज्ञता अथवा अशिक्षा क कारण उन शब्दो का शुद्ध उच्चारण नहा कर पा रहे थ। परिणामत हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं म इस प्रकार की शब्दावली का भी जाने अनजाने म प्रवेश होने लगा और विद्वानो ने इन्हे अध तत्सम शब्द कहा। कुछ अध तत्सम शब्द सीधे प्राकृत से भी इन भाषाओ म आय हैं परन्तु बाहुल्य प्रथम प्रकार की शब्दावली का ही है। इस विवेचन से हम यह निष्कष निकाल सकत हैं कि हिन्दी भाषा को विकसित करने म हमारी सास्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवत्ति भी सक्रिय रही है।

सास्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवत्ति न सस्कृत भाषा के प्रति जो अनुराग की भावना जागरित की, उसका प्रभाव भाषा पर भी पडा और उसके दो परिणाम हमारे सामने आये—(१) व्यञ्जन ध्वनियो के प्रति अनुराग। (२) पास-पास में आये स्वरो का समीकरण। यदि अध तत्सम शब्दावली का हम सूक्ष्म अध्ययन करें तो प्रतीत होगा कि उनम स्वरो के लोप, आगम आदि तो हुए पर व्यञ्जन ध्वनियो को सुरक्षित रखा गया, यथा—तीक्ष्ण शब्द लीजिये। प्राकृत भाषा के नियमो के अनुसार तीक्ष्ण>तिक्ख>तीखा' बनना चाहिए पर इसका तिछिण रूप भी हिन्दी म प्रचलित हो गया। इसी प्रकार चन्द्र शब्द का चाँद और इन्द्र का इन्द/इद बनना चाहिए पर प्रयुक्त होते हैं चन्दर इन्दर आदि। कृष्ण शब्द का किशन पर्याप्त मात्रा में प्रचलित है। वरसा विसणु, मुरसती आदि अनेक शब्द उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

सस्कृत भाषा म व्यञ्जनों को सुरक्षित रखने तथा दो स्वरा को साथ-साथ न आने देन की प्रवृत्ति इस भाषा की सवप्रधान प्रवृत्ति है। यद्यपि सस्कृत-प्रियता की इस प्रवृत्ति का उन्मेष तो मुगल शासनकाल स ही प्रारम्भ हो गया

था, क्योंकि यह काल भी सांस्कृतिक संघर्ष का काल कहा जा सकता है तथापि इसकी दुर्बलता यह रही कि राजनैतिक दृष्टि से हम अति शीघ्र ही धराशायी हो गए और यह प्रवृत्ति जनसाधारण तक न पहुंच सकी। फलतः उदीयमान भाषाओं पर जो उचित प्रभाव उस समय पड़ना चाहिए था, वह नहीं पड़ सका। बीसवीं शताब्दी की कहानी इससे पूर्णतः भिन्न रही। एक तरफ साहित्यकार एवं समाज सुधारक सांस्कृतिक पुनरुत्थान में तल्लीन थे दूसरी ओर बालगंगाधर तिलक और महात्मा गांधी जैसे महापुरुष पूर्ण स्वराज्य की मांग प्रस्तुत कर रहे थे। उस युग में और इस युग जो सद्धांतिक अन्तर था, वह यह था कि मध्यकाल धार्मिक संघर्ष का युग था और उसके प्रतिनिधि थे केवल आभिजात्य वर्ग के लोग, जो जनसाधारण को स्वयं कोई महत्त्व देने को तैयार न थे परन्तु इस युग के महापुरुष समस्त जनता में एक नई चेतना की लहर दौड़ा देना चाहते थे। प्रत्येक व्यक्ति को समान स्तर पर ले आना चाहते थे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हम समस्त दबावों से मुक्त होना चाहते थे और इस मुक्ति का सबसे बड़ा अस्त्र था प्राचीन गौरव। उपरिकथित दोनों महापुरुष संस्कृत ग्रन्थों एवं उसकी संस्कृति का लेकर ही आगे बढ़ रहे थे। गीता के प्रति इनकी श्रद्धा इसका सबल प्रमाण है। अतः सांस्कृतिक पुनरुत्थान की इस प्रवृत्ति को आधुनिक भाषाओं के ध्वनि विकास का मूल कारण कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति ने भाषा की ध्वनियों को विकसित करने की निम्न प्रणालियों को जन्म दिया—(१) द्वित्व को समाप्त करना, (क) पूर्व स्वर को दीर्घ बनाकर, (ख) बिना पूर्व स्वर को दीर्घ किये ही। (२) महाप्राण ध्वनियों की सुरक्षा (केवल उन भाषाओं में जो विशेषकर बीसवीं शताब्दी में अत्यधिक मात्रा में विकसित हुई)। (३) स्वरभक्ति (विशेषकर अर्धतत्सम शब्दावली में)। (४) समीकरण की प्रणाली। (५) विपर्यय की प्रणाली।

एकादश अध्याय

# हिन्दी भाषा का रूपात्मक विकास

प्राचीन भारत मे भाषा-अध्ययन के प्रकार—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात—संज्ञा, वचन, लिङ्ग, कारक परसर्ग—सर्वनाम—विशेषण—आख्यात—धातु—सिद्ध और साधित—अकर्मक, सकर्मक, प्रेरणार्थक और नामधातुओं का विकास—काल विस्तार—कृदन्त काल और तिङन्त काल—पूर्वकालिक क्रियायें, क्रियार्थक संज्ञायें, संयुक्त क्रियायें, उपसर्ग से तात्पर्य, तद्भव उपसर्ग—अव्यय—क्रिया विशेषण, और अन्य अव्यय।

## प्राचीन भारत मे भाषा अध्ययन के प्रकार

प्राचीन भारत मे भाषा के अध्ययन का तीन भागो म विभाजित किया गया था (१) शिक्षा (२) निरुक्त और (३) व्याकरण। शिक्षा मे भाषा की ध्वनिया पर, निरुक्त मे शब्दो की व्युत्पत्ति पर और व्याकरण मे शब्द के रूपो पर विचार किया गया है। आज की पद्धति के अनुसार शिक्षा का ध्वनि विज्ञान, निरुक्त को व्युत्पत्ति विज्ञान और व्याकरण को रूप विज्ञान की सज्ञा दी जा सकती है। भाषा के रूपात्मक अध्ययन मे उसके प्रकृति और प्रत्यय का, अथवा यो कहिये कि उसके अर्थतत्त्वो एव सम्बन्धतत्त्वो का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इन्ही तत्त्वो का सयोग और वियोग भाषा के रूप का निर्माण करता है। किन्ही भाषाओ म दोना तत्त्व मिले हुए होते हैं और किन्ही मे ये पृथक पृथक रहते हैं अथवा कुछ सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व से मिल जाते हैं कुछ पृथक ही रहते हैं। इन सब बातो एव इनके कारणो का विश्लेषण करना ही भाषा का रूपात्मक अध्ययन होता है। इसे दो रूपा म प्रस्तुत किया जाता है (१) विश्लेषण और (२) विकास। विश्लेषण मे आलोच्य भाषा के उक्त तत्त्वो की उस भाषा मे क्या स्थिति है? उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके स्थान का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। विकास मे इन तत्त्वो के मूल रूपो का अध्ययन कर यह भी देखा जाता है कि इन्ह प्रस्तुत रूप स्थिति एव स्थान प्राप्त करने मे कितने उत्थान पतना का साम्मुख्य करना पडा है। प्रस्तुत अध्ययन म हम हिन्दी भाषा के रूप का इन दोना दृष्टिकोणो से ही विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

महर्षि यास्क ने समस्त शब्दो को चार भागो म विभाजित किया है, यथा—नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च अर्थात (१) नाम (२) आख्यात, (३) उपसर्ग, और (४) निपात। नाम के अन्तर्गत तीन प्रकार के शब्दो की गणना की जाती है—(१) सज्ञा (२) सर्वनाम, और (३) विशेषण। आख्यात के अन्तर्गत क्रियापद आते हैं। उपसर्ग शब्द के आदि म लग कर अर्थ म परिवर्तन प्रस्तुत करते हैं। निपात के अन्तर्गत अव्यय शब्द लिये जाते हैं। नाम के अन्तर्गत शब्द के दो रूप बनाये गये हैं—(१) प्रातिपदिक और (२) पद। प्रातिपदिक वे शब्द होते हैं जो अर्थवान् हैं, पर न धातु हैं और न प्रत्यय। इसके साथ भाथ कृदन्त तद्धितान्त तथा समस्त (समास युक्त) शब्द भी प्रातिपदिक ही होते हैं। महामुनि पाणिनि ने इसके लिए दो सूत्र प्रस्तुत किये हैं—(१) अर्थवदधातुरप्रत्यय

प्रातिपदिकम् ।[1] (२) कृत्तद्धितसमासाश्च ।[2] आधुनिक दृष्टि से प्रातिपदिक को अपरिवर्तित कहा जा सकता है। पद उसे कहते हैं जब प्रातिपदिक के साथ सुप्' (विभक्ति प्रत्यय) प्रत्यय जोड़ दिए जाते हैं। इसी प्रकार धातु के साथ तिङ् प्रत्यय जोड़ देने पर धातु की भी पद संज्ञा हो जाती है।[3] चूंकि हिन्दी प्रयोगात्मक भाषा है इसलिए इसमें पद की यही व्यवस्था नहीं है जैसी संस्कृत भाषा में। अतः इसमें सभी के लिए शब्द शब्द का प्रयोग किया जाता है। नाम शब्दों का प्रयोग तीन वचनों, तीन लिङ्गों एवं आठ कारकों में किया जाता है। संज्ञा शब्दों में प्रत्येक शब्द का लिङ्ग निश्चित है, यथा—देव (पुल्लिङ्ग) लता (स्त्रीलिङ्ग) फल (नपुंसकलिङ्ग) प्रत्येक लिङ्ग के शब्द एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में यथास्थिति प्रयुक्त होते हैं। आठों कारकों में भिन्न भिन्न विभक्ति प्रत्ययों के सहयोग से इनका रूप निर्माण होता है और प्रत्येक कारक तीन वचनों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार एक शब्द के कुल मिलाकर '२४' रूप बनते हैं। सर्वनाम एवं विशेषण शब्दों की स्थिति इनसे कुछ भिन्न है। अस्मद् तथा युष्मद् सर्वनाम शब्दों को छोड़कर जो तीनों लिङ्गों में समान रूप रहते हैं, शेष सर्वनाम एवं विशेषण शब्द त्रिलिङ्गी हैं अर्थात् एक शब्द के रूप पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग तीनों लिङ्गों में चलते हैं, यथा 'तद्' शब्द लीजिये—

| | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---|---|---|---|
| पुल्लिङ्ग—कर्ताकारक | स | तौ | ते |
| स्त्रीलिङ्ग—कर्ताकारक | सा | ते | ताः |
| नपुंसकलिङ्ग—कर्ताकारक | तत् | ते | तानि |

इसी प्रकार संस्कृत में विशेषण शब्दों का लिङ्ग और वचन विशेष्य के अनुसार चलता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि नाम शीर्षक के अन्तर्गत (१) वचन, (२) लिङ्ग, और (३) कारकों का अध्ययन भी अपेक्षित है।

संज्ञा—संज्ञा शब्द किसी व्यक्ति, जाति और उनके समूह तथा भाव का द्योतन कराते हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में संज्ञा शब्द दो रूपों में उपलब्ध होते हैं, एक तो स्वरान्त और दूसरे व्यञ्जनान्त। मध्यकालीन भाषाओं में, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्वरों के प्रति अनुराग और

---

1 अष्टाध्यायी १/२/४५।

2 वही, १/२/४६।

3 सुप्तिङन्तं पदम्—पाणिनि अष्टाध्यायी १/४/१४।

व्यञ्जनो के प्रति विरक्ति का भाव आ गया था इसलिए केवल स्वरान्त प्रातिपदिक ही मिलते हैं। इन भाषाओं ने संस्कृत प्रातिपदिकों के अन्त्य व्यञ्जन का लोप कर अथवा उनमें स्वर का आगम कर सभी प्रातिपदिकों को स्वरान्त बना डाला। यह स्थिति अपभ्रंश काल के अन्तिम समय तक प्रचलन में रही, परन्तु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पुनः व्यञ्जन प्रियता का उदय हुआ और पदान्त स्वर (अ) के लोप की प्रवृत्ति चल पड़ी। यद्यपि लेखन में अभी इस प्रवृत्ति के दर्शन नहीं हुए हैं किन्तु उच्चारण एवं प्रयोग से इसकी पुष्टि भली प्रकार हो रही है और हिंदी भाषा को इनकी अग्रणी कहा जा सकता है। अतः हिंदी के प्रातिपदिकों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है (१) स्वरान्त और (२) व्यञ्जनान्त। अकारान्त शब्दों (लेखन में) को छोड़कर अन्य समस्त शब्द स्वरान्त कहे जा सकते हैं, यथा—

(१) स्वरान्त शब्द

आकारान्त—घोड़ा, माता, पिता, कुल्हाड़ा, जनता आदि।

इकारान्त—भक्ति, शक्ति, रीति, नीति आदि (इकारान्त शब्द प्रायः तत्सम ही मिलते हैं)।

ईकारान्त—चाची, चक्की, गड्डी, रानी, दही, मथानी आदि।

उकारान्त—धेनु, भानु आदि (उकारान्त शब्द भी प्रायः तत्सम ही मिलते हैं)।

ऊकारान्त—बालू, बगडाल, नक्कू, उल्लू आदि।

एकारान्त—चौबे, पाण्डे, दुबे आदि।

सूचना—ऐकारान्त, ओकारान्त शब्दों का प्रायः अभाव सा ही है। हाँ कतिपय शब्द, जैसे कै (वमन) प्यानो (अंग्रेजी शब्द) आदि देशज और विदेशज शब्दों का प्रयोग अवश्य देखने में आता है।

औकारान्त—जौ, सौ, वौ आदि कुछ शब्द ही मिलते हैं।

(२) व्यञ्जनान्त शब्द

हिंदी के समस्त अकारान्त शब्द व्यञ्जनान्त कहे जा सकते हैं, यथा—नाक, राख, साग, बाघ्, छाछ, आँच् आदि।

वचन—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में तीन वचनों का प्रयोग मिलता है। प्राचीन समय में दो संख्या को बहुवचन क्यों नहीं माना जाता था और तीन संख्या से ही बहुवचन का प्रारम्भ क्यों होता था? इस पर अभी तक विद्वानों का ध्यान सम्भवतः नहीं गया है। यह विषय अवश्य ही विचारणीय है। इसके पीछे अवश्य कोई रहस्य रहा होगा जो अभी तक हमारी दृष्टि से

अलक्षित है। मध्यकाल में आते-आते द्विवचन का अस्तित्व समाप्त हो गया और केवल 'एकवचन और बहुवचन' दो वचन ही शेष रह गये। हिन्दी भाषा ने मध्यकालीन भाषाओं का ही अनुसरण कर दो वचनों (एकवचन, बहुवचन) की स्थिति को ही बनाये रखा। वचनों के क्षेत्र में एक बात और विचारणीय है। प्राचीन काल में कुछ मात्रा में मध्यकाल में भी वचनों का भाग्य विभक्ति प्रत्ययों के साथ अधिक जुड़ा हुआ था, यथा—कर्ता कारक के बहुवचन का रूप कुछ और होता था और कर्म कारक का कुछ और। हाँ! सम्प्रदान और अपादान कारकों में अवश्य ही इनका रूप समान रहता था। प्राकृतों में यह केवल तीन वर्गों में विभाजित हो गया और हिन्दी तक आते-आते 'वचन' ने अपना रूप स्थिर कर लिया और कुछ ऐसे प्रत्ययों का निर्माण हो गया, जो प्रत्येक कारक में उपस्थित रहने लगे। संक्षेप में कह सकते हैं कि 'वचन' ने सरलीकृत रूप धारण कर लिया।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के वचनों की कुल मिला कर २० की औसत निकाली जा सकती है जो घिसती पिटती आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक ४/५ तक ही रह गई। हिन्दी इसमें सब से सरल है। हिन्दी में वचन सूचक केवल पाँच प्रत्यय हैं जिनका प्रयोग भी अत्यन्त सरल है। वचन के दो रूप हैं एक ऋजु और दूसरा तिर्यक। इन दोनों आधारों पर इन प्रत्ययों का प्रयोग निम्न प्रकार से हो सकता है—

| प्रातिपदिक | ऋजु रूप | | तिर्यक रूप | |
|---|---|---|---|---|
| | एकवचन | बहुवचन | एकवचन | बहुवचन |
| आकारान्त पुल्लिङ्ग | शून्य | ए | ए | ओं (अन्त्य 'आ' का लोप हो जाता है) |
| ईकारान्त पुल्लिङ्ग | शून्य | शून्य | शून्य | यों |
| स्वरान्त व व्यञ्जनान्त (पुल्लिङ्ग) | शून्य | शून्य | शून्य | ओं (अन्त्य आ का लोप हो जाता है) |

सूचना—इकारान्त और उकारान्त प्रातिपदिक जब बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं तब क्रमशः इकारान्त और उकारान्त हो जाते हैं, यथा—हाथी का 'हाथियों' (ब० व०) उल्लू का उल्लुओं आदि। स्त्रीलिङ्ग में भी यही नियम लागू होता है।

| प्रातिपदिक | ऋजु रूप | | तिर्यक रूप | |
|---|---|---|---|---|
| | एकवचन | बहुवचन | एकवचन | बहुवचन |
| इकारान्त, ईकारान्त—स्त्रीलिङ्ग | शून्य | याँ | शून्य | यों |
| ऐकारान्त ओकारान्त—स्त्रीलिङ्ग | शून्य | शून्य | शून्य | ओं |
| शेष स्वरान्त—स्त्रीलिङ्ग | शून्य | एँ | शून्य | ओं |
| व्यञ्जनान्त—स्त्रीलिङ्ग | शून्य | ए (अ लोपहो जाता है लेखन के अनुसार) | शून्य | ओं (अ लोप) |

उपर्युक्त चक्र को दृष्टि मे रखते हुए विशुद्ध भाषा वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार हम कह सकते है कि हिन्दी मे केवल पाच प्रत्यय वचन सूचक हैं, यथा—(१) ए (२) एँ, (३) आ (४) ओ (५) ए/य श्रुति का आगम प्रातिपदिक म वर्तमान इ ई के कारण हो जाने से इनमे यों, या दिखने लगते हैं और इसी आधार पर इन्हे पाँच कहा गया है।

**प्रत्ययों का विकास**—एकवचन का सूचक प्रत्यय केवल 'ए' है जो तिर्यक रूप म प्रयुक्त होता है और शेष शून्य प्रत्यय होते हैं।

**शून्य प्रत्यय**—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'सु प्रत्यय से इसका विकास हुआ है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा मे कर्ता कारक एकवचन मे 'सु' को विसर्ग हो जाती है। यही विसर्ग प्राकृत काल मे ओ और अपभ्रंश काल मे 'उ के रूप म सामने आती है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे पदान्त स्वर लोप के नियम के अधीन उ' का लोप कर दिया जाता है और इस प्रकार शून्य प्रत्यय निष्पन्न होता है। वैसे कर्ता कारक एकवचन म व्यञ्जनान्त शब्दो मे तथा आकारान्त और ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दो म शून्य प्रत्यय का प्रारम्भ हो गया था, जो अपभ्रंश काल में आकर अपनी चरम परिणति मे दृष्टिगत होता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओ मे विशेषकर हिन्दी मे प्राय सभी प्रातिपदिको और कारकों के एकवचन म शून्य प्रत्यय का प्रयोग इस प्रवृत्ति की लोक प्रियता का सूचक है।

**'ए'**—हिन्दी मे आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दो के एकवचन मे तिर्यक रूप के लिए 'ए प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति विद्वान लोग सप्तमी

के सर्वनाम रूप 'स्मिन्' से मानते हैं। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल में 'कर्म, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण' आदि कारकों में 'हि' का प्रयोग होने लगा था। आगे चल कर 'ह' लोप की प्रवृत्ति ने अकारान्त शब्दों के साथ 'इ' का प्रयोग ही प्रारम्भ कर दिया और यही 'अइ' आगे चल कर 'ए' प्रत्यय के रूप में सामने आया, यथा—स्मिन>हि/हिं>इ>अ+इ=ए।

**बहुवचन प्रत्यय**

'एँ'—इस प्रत्यय का विकास नपुंसक रूप 'आनि' (कर्ता कर्म बहुवचन) से हुआ है, यथा—(सं) आनि>म भा आ आइँ>हि एँ।

'ओं'—इसका विकास भी नपुंसक लिङ्ग के बहुवचन रूप 'आनि' से हुआ है। (सं) आनि>(म भा आ) आइ>(हि) ओं।

'ओं'—इसका विकास संस्कृत सम्बन्ध कारक बहुवचन के प्रत्यय 'आनाम्' से बताया जाता है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं को इसके घिसे हुए रूप के साथ 'हु' भी लगाया जाने लगा और इस प्रकार हिन्दी का 'ओं' प्रत्यय सामने आया, यथा—

(सं) आनाम>(म भा आ) आन>आण+हु>अउ>(हि) ओं।

'ए'—इस प्रत्यय के विकास में विद्वानों का मतभेद है। हार्नले ने विकारी एकवचन के प्रत्यय 'ए' का ही बहुवचन में प्रयुक्त माना है, परन्तु डा चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति करण कारक के बहुवचन प्रत्यय 'एभि' से करते हैं यथा—

(सं) एभि>(म भा आ) अहि/अही>(अप) अइ>(हि) ए।

'लिङ्ग'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में तीन लिङ्ग पाये जाते हैं, (१) पुल्लिङ्ग (२) स्त्रीलिङ्ग और (३) नपुंसकलिङ्ग। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में भी तीन ही लिङ्ग हैं, परन्तु ऐसा लगता है कि अपभ्रंश काल तक आते आते लिङ्ग व्यवस्था कुछ शिथिल हो गई थी। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने इसका संकेत दिया है।[१] अपभ्रंश में पुल्लिङ्ग शब्दों का प्रयोग नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में होने लगा था और इन लिङ्गों का पुल्लिङ्ग में। इस प्रकार कुछ आपसी घोल-मेल होने लग गया था इस पारस्परिक मिश्रण ने ही सम्भवतः नपुंसकलिङ्ग की जड़ें हिला दीं और गुजराती मराठी आदि भाषाओं को छोड़ कर शेष आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने नपुंसकलिङ्ग का पल्ला छोड़ दिया। हिन्दी में केवल दो लिङ्ग हैं—(१) पुल्लिङ्ग और (२) स्त्रीलिङ्ग।

---

[१] लिङ्गमतन्त्रम हेमशब्दानुशासन सूत्र संख्या ४४५।

हिन्दी भाषा की लिङ्ग व्यवस्था को लेकर विद्वत्समाज मे बडी आलोचना एव प्रत्यालोचना होती है। उनका कहना है कि हिन्दी की लिङ्ग व्यवस्था ठीक नही है। इसमे एक शब्द पुल्लिङ्ग है और उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द स्त्रीलिङ्ग। इसी प्रकार समान धर्म का सूचक एक शब्द पुल्लिङ्ग और दूसरा स्त्रीलिङ्ग। साथ ही यह भी कहना है कि हिन्दी की क्रियाओ मे भी लिङ्ग घुसा हुआ है। अन्य भाषाओ मे ऐसा नहीं है। इन तीनो तर्कों को यदि हम युक्ति की कसौटी पर कसते हैं तो खरे नही उतरते। कारण स्पष्ट है कि ये तर्क अध्ययन के आधार पर नही, बल्कि हिन्दी भाषा का मजाक उडाने के लिये कहे जाते हैं। इससे पूर्व कि इन तर्कों का उत्तर दिया जाय, एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'लिङ्ग' का अर्थ होता है चिह्न। इन चिह्नो का निर्धारण दो प्रकार से होता है एक प्रकृति के द्वारा और दूसरा व्याकरण के द्वारा। पहले को लौकिक लिङ्ग व्यवस्था और दूसरे को 'व्याकरणिक लिङ्ग व्यवस्था' कहते हैं। लोक के अनुसार पुरुष चिह्नो से युक्त चेतन तत्त्व पुल्लिङ्ग और स्त्री चिह्नों से युक्त चेतन तत्त्व स्त्रीलिङ्ग और अचेतन पदार्थ नपुसक लिङ्ग होता है। लेकिन भाषाएँ इस व्यवस्था से निर्देशित नही हो सकतीं। अत उसमें व्याकरणिक लिङ्ग व्यवस्था को महत्त्व मिलता है। वैयाकरण लोक व्यवस्था को दृष्टि मे रखता हुआ अन्य दूसरे उपादानो से भी सचालित होता है यथा—(१) व्याकरणिक प्रत्यय (२) वस्तुओ का धर्म (३) अन्य भाषाओ का प्रभाव। इन सब का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात भी यदि भाषा मे लिङ्ग निर्धारण ठीक नही बैठता है तो कहा जा सकता है कि अमुक भाषा मे कही न कही कोई न कोई अव्यवस्था है। हिन्दी भाषा के लिये कहा जा सकता है कि इसमे कही पर लिङ्ग व्यवस्था दूषित नहीं है।

अब उपर्युक्त तर्कों पर विचार कीजिये कि वे कहाँ तक युक्तिसगत हैं। दो शब्द हैं एक पुस्तकम् और दूसरा 'ग्रन्थ। एक नपुसक लिङ्ग है दूसरा पुल्लिङ्ग। क्या कारण है कि एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले ये दो शब्द भिन्न लिङ्गी हैं। उत्तर स्पष्ट है कि प्रथम म कन प्रत्यय लगा है जो नपुसक लिङ्ग शब्दो का भी निर्माण करता है और दूसरे मे घञ प्रत्यय है, जो पुल्लिङ्ग शब्दो का निर्माण करता है और यही कारण है कि दोनो शब्दो का एक अर्थ होते हुए भी लिङ्ग भिन्न भिन्न है। अब ये शब्द मजिल तय करते हुए हिन्दी म भी आए। ग्रन्थ' शब्द का लिङ्ग वही रहा, पर पुस्तक स्त्रीलिङ्ग बन बैठी। सस्कृत म उक्त अर्थ के लिए एक शब्द और आता है और यह है पुस्ती, जिसे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओ ने 'पुत्थी रूप मे स्वीकार किया और हिन्दी मे 'पोथी बना। उक्त शब्द सस्कृत मे स्त्रीलिङ्ग था। अत इसका तद्भव रूप भी स्त्रीलिङ्ग ही रहा और इसके पश्चात सास्कृतिक

पुनरुत्थान ने 'पुस्तक' शब्द दिया तो हिन्दी में नपुंसक लिङ्ग के अभाव के कारण इसे पोथी के यहाँ आश्रय मिला और स्त्रीलिङ्ग बन बैठा। इसी प्रकार अन्य शब्दों को भी समझा जा सकता है। यही स्थिति समानधर्मी शब्दों की भी है। जहाँ तक क्रियाओं में लिङ्ग व्यवस्था की बात है वह तो बिल्कुल ही स्पष्ट है। हिन्दी भाषा संस्कृत भाषा का विकसित रूप है। संस्कृत में क्रियाओं के दो रूप प्रचलित थे एक तिङन्त और दूसरा कृदन्त। संस्कृत में तिङन्त रूपों के साथ लिङ्ग व्यवस्था नहीं है अर्थात वे सभी लिङ्गों में एकरूप रहते हैं यथा—स चलति सा चलति आदि। कृदन्त रूपों के साथ लिङ्ग व्यवस्था है यथा—तेन खादित तथा पक्वालु (आलू की टिकिया) द्राक्षा च (अंगूर) खादिता। ठीक यही स्थिति हिन्दी की भी है। जो शब्द (क्रिया) तिङन्त रूपों से विकसित होकर आये हैं उनके लिए लिङ्ग का झगड़ा नहीं है और जो कृदन्तों से विकसित होकर आये हैं उनके लिए लिङ्ग का ध्यान रखना परमावश्यक है, यथा—सीता खाये, राम खाये। इनमें 'खाये' क्रिया संस्कृत की 'खाद्' धातु के विधिलिङ् का विकसित रूप है, अतः लिङ्ग की उलझन नहीं है। परन्तु जब हम कहते हैं 'सीता खाती है' तो कहना पड़ेगा कि 'राम खाता है'। 'खाना' क्रिया में लिङ्ग का निर्धारण कर्ता के अनुसार हो गया। कारण स्पष्ट है कि इसका विकास संस्कृत के शतृ प्रत्ययान्त कृदन्त 'खादन्' से हुआ है। अब तुलना कीजिये—

| हिन्दी | संस्कृत |
|---|---|
| सीता खाये | सीता खादेत |
| राम खाये | राम खादेत् |
| सीता खाती हुई है | सीता खादन्ती अस्ति (यद्यपि अर्थ में कुछ भिन्नता अवश्य रहेगी) |
| राम खाता हुआ है | राम खादन् अस्ति। |

हिन्दी में लिंग निर्धारण की प्रणाली—हिन्दी भाषा में लिङ्ग निर्धारित करने से पूर्व हम उसके शब्दकोश पर विचार करना चाहिए। हिन्दी में मुख्यतः पाँच प्रकार के शब्द मिलते हैं—(१) तत्सम, (२) अर्ध तत्सम (३) तद्भव (४) देशज और (५) विदेशज—

(क) अरबी फारसी, तुर्की

(ख) अंग्रेजी फ्रेंच पुर्तगाली।

(१) तत्सम शब्द—तत्सम शब्दों का लिङ्ग वही है जो उनका संस्कृत में था। केवल नपुंसक लिङ्ग शब्द हिन्दी में पुल्लिङ्ग हो गये हैं। कुछ नपुंसक लिङ्ग शब्द अवश्य ऐसे हैं, जो हिन्दी में आकर स्त्रीलिङ्ग भी हुए हैं, जैसे—वस्तु शरण दधि आदि। इन पर क्रमशः अन्य शब्दों का प्रभाव दिखाई देता है,

यथा—'वस्तु' पर 'चीज' का, 'शरण' पर 'पनाह' का और 'दधि' के विकसित रूप दही पर 'छाछ' का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा संस्कृत तत्सम शब्दावली में प्राकृतिक लिङ्ग को छोड़कर आकारान्त ईकारान्त, 'क्तिन्' प्रत्ययान्त तथा 'ता' प्रत्ययान्त शब्द हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग होंगे, शेष सब शब्द पुल्लिङ्ग। संस्कृत के 'घञ्' प्रत्ययान्त तथा ल्यु (अन) प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिङ्ग होंगे, यथा—ह्रास नाश, लाभ, काल और करण मरण, तरण आदि।

अर्ध तत्सम शब्द—इन पर भी उपर्युक्त नियम ही लागू होगा, किन्तु तब तक, जब तक उनके साथ हिन्दी का कोई कृदन्त अथवा तद्धित प्रत्यय न लगाया गया हो, क्योंकि इन प्रत्ययों के लगने पर लिङ्ग परिवर्तन का अवसर उपस्थित हो सकता है। यथा—(सं) चातुर्य (नपुंसक) (हि) चतुराई (स्त्रीलिङ्ग)। यहाँ पर हिन्दी का तद्धित आई प्रत्यय लगने से उक्त शब्द स्त्रीलिङ्गवाची हो गया।

तद्भव—तद्भव शब्दों ने [जहाँ तक अन्य भाषाओं का प्रभाव और हिन्दी तद्भव प्रत्ययों के योग से दूर रहे हैं वहाँ तक] अपने तत्सम रूपों के लिङ्गों को ही बनाये रखने का प्रयत्न किया है। हिन्दी प्रत्ययों के अनुसार लिङ्ग व्यवस्था इस प्रकार हो सकती है—जिस शब्द के साथ तद्धित प्रत्यय पन, पा ना अन्त इला, अन अता अक्कड़' आदि का प्रयोग होगा, वे पुल्लिङ्ग होंगे। इनके क्रमश उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं, यथा—लड़कपन बुढ़ापा ढकना, गढन्त रंगीला चलन, उड़ता घुमक्कड़ आदि। इसी प्रकार जिन शब्दों के साथ, अती, ती, वट हट आई आरी, आल, आवनी, आस आइन, इन अक, इक, उक जी डी ती यी आदि प्रत्यय युक्त शब्द प्राय स्त्रीलिङ्ग होंगे। ऐसे ही अन्य प्रत्ययों को भी लिङ्गानुसारी उपस्थित किया जा सकता है।

देशज/विदेशज—इन शब्दों का लिङ्ग भी इनकी मूल प्रवृत्ति के अनुसार ही हिन्दी में अपनाया गया है अन्य शब्दों के प्रभाव से युक्त शब्दों को छोड़कर।

उपर्युक्त विवरण से इतना अवश्य स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा में अनेक स्रोतों से शब्दों का आगमन हुआ है और वे अपने साथ, रूप के साथ साथ अपने लिङ्ग और वचन भी लेकर आये और हिन्दी भाषा ने अपनी उदारनीति के कारण उन्हें उसी रूप में स्वीकार भी कर लिया। अत हिन्दी भाषा के विद्यार्थी को इन बातों का ध्यान भी रखना पड़ेगा।

स्त्रीलिंग निर्माता प्रत्यय—स्त्रीलिङ्ग बनाने वाले केवल सात प्रत्यय हिन्दी में पाये जाते हैं। (१) आ (२) ई (३) आनी, (४) नी (५) इन (६) आइन और (७) इया।

आ'—यह प्रत्यय अधिकतर तत्सम शब्दों में पाया जाता है। संस्कृत में

पुनरुत्थान ने 'पुस्तक' शब्द दिया तो हिन्दी में नपुंसक लिङ्ग के अभाव के कारण इसे 'पोथी' के यहाँ आश्रय मिला और स्त्रीलिङ्ग बन बैठा। इसी प्रकार अन्य शब्दों को भी समझा जा सकता है। यही स्थिति समानधर्मी शब्दों की भी है। जहाँ तक क्रियाओं में लिङ्ग व्यवस्था की बात है वह तो बिल्कुल ही स्पष्ट है। हिन्दी भाषा संस्कृत भाषा का विकसित रूप है। संस्कृत में क्रियाओं के दो रूप प्रचलित थे एक तिङन्त और दूसरा कृदन्त। संस्कृत में तिङन्त रूपों के साथ लिङ्ग व्यवस्था नहीं है अर्थात् वे सभी लिङ्गों में एकरूप रहते हैं यथा—स चलति सा चलति आदि। कृदन्त रूपों के साथ लिङ्ग व्यवस्था है, यथा—तेन खादित, तया पक्वालु (आलू की टिकिया) द्राक्षा च (अंगूर) खादिता। ठीक यही स्थिति हिन्दी की भी है। जो शब्द (क्रिया) तिङन्त रूपों से विकसित होकर आये हैं, उनके लिए लिङ्ग का झगड़ा नहीं है और जो कृदन्तों से विकसित होकर आये हैं उनके लिए लिङ्ग का ध्यान रखना परमावश्यक है, यथा—सीता खाये राम खाये। इनमें 'खाय' क्रिया संस्कृत की 'खाद' धातु के विधिलिङ्ग का विकसित रूप है, अतः लिङ्ग की उलझन नहीं है। परन्तु जब हम कहते हैं सीता खाती है तो कहना पड़ेगा कि 'राम खाता है'। खाता क्रिया में लिङ्ग का निर्धारण कर्ता के अनुसार हो गया। कारण स्पष्ट है कि इसका विकास संस्कृत के शतृ प्रत्ययान्त कृदन्त खादत से हुआ है। अब तुलना कीजिये—

| हिन्दी | संस्कृत |
|---|---|
| सीता खाये | सीता खादेत् |
| राम खाये | राम खादेत् |
| सीता खाती हुई है | सीता खादन्ती अस्ति (यद्यपि अर्थ में कुछ भिन्नता अवश्य रहेगी) |
| राम खाता हुआ है | राम खादन् अस्ति। |

हिन्दी में लिंग निर्धारण की प्रणाली—हिन्दी भाषा में लिङ्ग निर्धारित करने से पूर्व हम उसके शब्दकोश पर विचार करना चाहिए। हिन्दी में मुख्यतः पाँच प्रकार के शब्द मिलते हैं—(१) तत्सम (२) अर्धतत्सम (३) तद्भव (४) देशज और (५) विदेशज—

(क) अरबी, फारसी, तुर्की

(ख) अंग्रेजी, फ्रेंच पुर्तगाली।

(१) तत्सम शब्द—तत्सम शब्दों का लिङ्ग वही है जो उनका संस्कृत में था। केवल नपुंसक लिङ्ग शब्द हिन्दी में पुल्लिङ्ग हो गये हैं। कुछ नपुंसक लिङ्ग शब्द अवश्य ऐसे हैं जो हिन्दी में आकर स्त्रीलिङ्ग भी हुए हैं, जैसे—वस्तु शरण दधि आदि। इन पर क्रमशः अन्य शब्दों का प्रभाव दिखाई देता है

यथा—'वस्तु' पर 'चीज' का, 'शरण' पर 'पनाह' का और दधि के विकसित रूप 'दही' पर 'छाछ' का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा संस्कृत तत्सम शब्दावली में प्राकृतिक लिङ्गों को छोड़कर आकारान्त ईकारान्त, 'क्तिन्' प्रत्ययान्त तथा 'ता' प्रत्ययान्त शब्द हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग होंगे, शेष सब शब्द पुल्लिङ्ग। संस्कृत के 'घञ' प्रत्ययान्त तथा ल्यु (अन) प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिङ्ग होंगे, यथा—ह्रास नाश लाभ काल और करण भरण, तरण आदि।

अर्ध तत्सम शब्द—इन पर भी उपर्युक्त नियम ही लागू होगा किन्तु तब तक, जब तक उनके साथ हिन्दी का कोई कृदन्त अथवा तद्धित प्रत्यय न लगाया गया हो, क्योंकि इन प्रत्ययों के लगने पर लिङ्ग परिवर्तन का अवसर उपस्थित हो सकता है। यथा—(सं) चातुर्य (नपुंसक) (हि) चतुराई (स्त्रीलिङ्ग)। यहाँ पर हिन्दी का तद्धित 'आई' प्रत्यय लगने से उक्त शब्द स्त्रीलिङ्गवाची हो गया।

तद्भव—तद्भव शब्दों ने [जहाँ तक अन्य भाषाओं का प्रभाव और हिन्दी तद्भव प्रत्ययों के योग से दूर रहे हैं वहाँ तक] अपने तत्सम रूपों के लिङ्गों को ही बनाये रखने का प्रयत्न किया है। हिन्दी प्रत्ययों के अनुसार लिङ्ग व्यवस्था इस प्रकार हो सकती है—जिस शब्द के साथ तद्धित प्रत्यय पन, पा ना अन्त, इला अन अता अक्कड़' आदि का प्रयोग होगा वे पुल्लिङ्ग होंगे। इनके क्रमश उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं, यथा—लड़कपन बुढ़ापा ढकना, गढन्त, रंगीला चलन उड़ता घुमक्कड़ आदि। इसी प्रकार जिन शब्दों के साथ अती ती वट हट आई आरी आल, आवनी, आस आइन, इन, अक इक उक जी डी ती थी आदि प्रत्यय युक्त शब्द प्राय स्त्रीलिङ्ग होंगे। ऐसे ही अन्य प्रत्ययों को भी लिङ्गानुसारी उपस्थित किया जा सकता है।

देशज/विदेशज—इन शब्दों का लिङ्ग भी इनकी मूल प्रवृत्ति के अनुसार ही हिन्दी में अपनाया गया है, अन्य शब्दों के प्रभाव से युक्त शब्दों को छोड़कर।

उपर्युक्त विवरण से इतना अवश्य स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा में अनेक स्रोतों से शब्दों का आगमन हुआ है और वे अपने साथ रूप के साथ साथ अपने लिङ्ग और वचन भी लेकर आये और हिन्दी भाषा ने अपनी उदारनीति के कारण उन्हें उसी रूप में स्वीकार भी कर लिया। अत हिन्दी भाषा के विद्यार्थी को इन बातों का ध्यान भी रखना पड़ेगा।

स्त्रीलिंग निर्माता प्रत्यय—स्त्रीलिङ्ग बनाने वाले केवल सात प्रत्यय हिन्दी में पाये जाते हैं। (१) आ (२) ई (३) आनी, (४) नी (५) इन (६) आइन और (७) इया।

'आ'—यह प्रत्यय अधिकतर तत्सम शब्दों में पाया जाता है। संस्कृत में

पुनरुत्थान ने 'पुस्तक' शब्द दिया तो हिन्दी में नपुंसक लिङ्ग के अभाव के कारण इसे 'पोथी' के यहाँ आश्रय मिला और स्त्रीलिङ्ग बन बैठा। इसी प्रकार अन्य शब्दों को भी समझा जा सकता है। यही स्थिति समानधर्मी शब्दों की भी है। जहाँ तक क्रियाओं में लिङ्ग व्यवस्था की बात है वह तो बिल्कुल ही स्पष्ट है। हिन्दी भाषा संस्कृत भाषा का विकसित रूप है। संस्कृत में क्रियाओं के दो रूप प्रचलित थे, एक तिङन्त और दूसरा कृदन्त। संस्कृत में तिङन्त रूपों के साथ लिङ्ग व्यवस्था नहीं है अर्थात् वे सभी लिङ्गों में एकरूप रहते हैं, यथा—सः चलति सा चलति आदि। कृदन्त रूपों के साथ लिङ्ग व्यवस्था है, यथा—तेन खादितः तथा पक्वालु (आलू की टिकिया) द्राक्षा च (अंगूर) खादिता। ठीक यही स्थिति हिन्दी की भी है। जो शब्द (क्रिया) तिङन्त रूपों से विकसित होकर आये हैं उनके लिए लिङ्ग का झगड़ा नहीं है और जो कृदन्तों से विकसित होकर आये हैं उनके लिए लिङ्ग का ध्यान रखना परमावश्यक है, यथा—सीता खाये राम खाये। इसमें खाये क्रिया संस्कृत की खाद धातु के विधिलिङ्ग का विकसित रूप है अतः लिङ्ग की उलझन नहीं है। परन्तु जब हम कहते हैं सीता खाती है तो कहना पड़ेगा कि राम खाता है। खाना क्रिया में लिङ्ग का निर्धारण कर्ता के अनुसार हो गया। कारण स्पष्ट है कि इसका विकास संस्कृत के शतृ प्रत्ययान्त कृदन्त खादत से हुआ है। अब तुलना कीजिये—

| हिन्दी | संस्कृत |
|---|---|
| सीता खाये | सीता खादेत |
| राम खाये | राम खादेत |
| सीता खाती हुई है | सीता खादन्ती अस्ति (यद्यपि अर्थ में कुछ भिन्नता अवश्य रहेगी) |
| राम खाता हुआ है | राम खादन् अस्ति। |

हिन्दी में लिंग निर्धारण की प्रणाली—हिन्दी भाषा में लिङ्ग निर्धारित करने से पूर्व हमें उसके शब्दकोश पर विचार करना चाहिये। हिन्दी में मुख्यतः पाँच प्रकार के शब्द मिलते हैं—(१) तत्सम (२) अर्ध तत्सम (३) तद्भव (४) देशज और (५) विदेशज—

(क) अरबी, फारसी, तुर्की

(ग) अंग्रेजी फ्रेंच पुर्तगाली।

(१) तत्सम शब्द—तत्सम शब्दों का लिङ्ग वही है, जो उनका संस्कृत में था। केवल नपुंसक लिङ्ग शब्द हिन्दी में पुल्लिङ्ग हो गये हैं। कुछ नपुंसक लिङ्ग शब्द अवश्य ऐसे हैं, जो हिन्दी में आकर स्त्रीलिङ्ग भी हुए हैं जैसे—वस्तु शरण दधि आदि। इन पर क्रमशः अन्य शब्दों का प्रभाव दिखाई देता है,

यथा—'वस्तु' पर 'चीज' का 'शरण' पर 'पनाह' का और 'दधि' के विकसित रूप 'दही' पर 'छाछ' का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा संस्कृत तत्सम शब्दावली में प्राकृतिक लिङ्ग को छोड़कर आकारान्त ईकारान्त, 'क्तिन' प्रत्ययान्त तथा 'ता' प्रत्ययान्त शब्द हिंदी में स्त्रीलिङ्ग होंगे, शेष सब शब्द पुल्लिङ्ग। संस्कृत के 'घञ्' प्रत्ययान्त तथा ल्युट् (अन) प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिङ्ग होंगे, यथा—हास नाश, लाभ, काल और करण, मरण, तरण आदि।

अर्ध तत्सम शब्द—इन पर भी उपर्युक्त नियम ही लागू होगा, किन्तु तब तक, जब तक उनके साथ हिंदी का कोई कृदन्त अथवा तद्धित प्रत्यय न लगाया गया हो, क्योंकि इन प्रत्ययों के लगने पर लिङ्ग परिवर्तन का अवसर उपस्थित हो सकता है। यथा—(सं) चातुर्य (नपुंसक) (हिं) चतुराई (स्त्रीलिङ्ग)। यहाँ पर हिंदी का तद्धित आई प्रत्यय लगने से उक्त शब्द स्त्रीलिङ्गवाची हो गया।

तद्भव—तद्भव शब्दों ने [जहाँ तक अन्य भाषाओं का प्रभाव और हिंदी तद्भव प्रत्ययों के योग से दूर रहे हैं वहाँ तक] अपने तत्सम रूपों के लिङ्गों को ही बनाये रखने का प्रयत्न किया है। हिंदी प्रत्ययों के अनुसार लिङ्ग व्यवस्था इस प्रकार हो सकती है—जिस शब्द के साथ तद्धित प्रत्यय 'पन पा ना अन्त इला क्कड़ अना अक्कड़' आदि का प्रयोग होगा, वे पुल्लिङ्ग होंगे। इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं, यथा—लड़कपन बुढ़ापा ढकना, गढ़न्त रंगीला चलन उड़ता घुमक्कड़ आदि। इसी प्रकार जिन शब्दों के साथ अती ती, वट हट आई आरी आल आवनी आस आइन इन अक इक उक जी, डी ती थी आदि प्रत्यय युक्त शब्द प्रायः स्त्रीलिङ्ग होंगे। ऐसे ही अन्य प्रत्ययों को भी लिङ्गानुसारी उपस्थित किया जा सकता है।

देशज/विदेशज—इन शब्दों का लिङ्ग भी इनकी मूल प्रवृत्ति के अनुसार ही हिंदी में अपनाया गया है, अन्य शब्दों के प्रभाव से युक्त शब्दों को छोड़कर।

उपर्युक्त विवरण से इतना अवश्य स्पष्ट है कि हिंदी भाषा में अनेक स्रोतों से शब्दों का आगमन हुआ है और वे अपने साथ रूप के साथ साथ अपने लिङ्ग और वचन भी लेकर आये और हिंदी भाषा ने अपनी उदारनीति के कारण उन्हें उसी रूप में स्वीकार भी कर लिया। अतः हिंदी भाषा के विद्यार्थी को इन बातों का ध्यान भी रखना पड़ेगा।

स्त्रीलिंग निर्माता प्रत्यय—स्त्रीलिङ्ग बनाने वाले केवल सात प्रत्यय हिंदी में पाये जाते हैं। (१) आ, (२) ई (३) आनी, (४) नी (५) इन, (६) आइन और (७) इया।

आ—यह प्रत्यय अधिकतर तत्सम शब्दों में पाया जाता है। संस्कृत में

इस प्रत्यय को 'टाप' की सज्ञा दी है। अजाद्यतस्टाप' सूत्र पुल्लिङ्ग शब्दों में 'आ' बढ़ा कर स्त्रीलिङ्ग शब्दों का निर्माण करता है। हिन्दी में अन्य उद्गम से भी यह प्रत्यय आया है, जो विशेषण शब्दों का निर्माण करता है, यथा— प्यासा भूखा, रूखा, सूखा आदि स्त्रीलिङ्ग शब्द यथा—बाला अजा अध्यापिका आदि।

'ई'—यह भी सस्कृत का ङीप प्रत्यय है जो सस्कृत ई के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में यह सबसे अधिक लोकप्रिय प्रत्यय है। तत्सम शब्दों के साथ साथ तद्भव शब्दों में भी इसका प्रयोग धड़ल्ले के साथ किया जाता है। क्रियाओं का तो एकमात्र प्रत्यय यही है, यथा—खाती जाती रोती बठती आदि। तद्भव शब्द, यथा—कुल्हाडी चाची मामी, दादी कुबडी (स कुब्जा) घोडी आदि। अन्य उद्गम से आया हुआ 'ई' प्रत्यय पुल्लिङ्ग शब्दों का निर्माण करता है यथा—माली, धोबी तेली आदि व्यापार सूचक शब्द।

'आनी'—यह प्रत्यय भी सस्कृत से निसृत है। सस्कृत मे भवानी रुद्राणी इन्द्राणी आदि अनेक शब्द स्त्रीलिङ्गवाची मिलते हैं। अत इन तत्सम शब्दों के आधार पर तद्भव शब्दों में भी इसका प्रयोग चल पड़ा यथा—देवरानी, जेठानी, कुंवरानी आदि।

नी'—सस्कृत में 'इनी प्रत्यय का प्रयोग बहुलता से मिलता है और उन तत्सम शब्दों का प्रयोग मध्यकाल मे भी कुछ विकास के साथ चलता रहा, पर अपभ्रंश तक आते-आते इ' अपनी सत्ता खो बैठी और केवल नी शेष रह गया। 'इ ध्वनि के लोप के उदाहरण 'कृत' 'क्त प्रत्यय में भी लक्षित किये जा सकते है। अत हम कह सकते है कि नी इनी का ही विकसित रूप है। तत्सम शब्द, यथा—भट्टिनी विशिनी भामिनी कामिनी लेखिनी आदि। तद्भव शब्द, यथा—मोरनी ऊँटनी, जाटनी, शेरनी कुलच्छनी।

'इन'—यह प्रत्यय भी सस्कृत 'इनी' के अन्त्य स्वर का लोप होकर हिन्दी में आया है। इसका तद्भव रूप भी मिलता है और हिन्दी में अपनी ओर से भी लगा दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि सस्कृत मे जिस शब्द के साथ इनी न लगकर कोई और प्रत्यय लगा हुआ है वहाँ हिन्दी मे इन लगा दिया गया है। तद्भव रूप में विकसित शब्द, यथा—(स) भगिनी>(प्राकृत) बहिणी> (अपभ्रंश) बहिणी>(हिन्दी) बहिन, (स) योगिनी>(प्रा) जोगिणी> (अपभ्रंश) जोगिणी>(हि) जोगिन आदि। सस्कृत से भिन्न शैली में प्रयुक्त प्रत्यय वाले शब्द—(स) नापितो>(हि) नाइन (स) धोतिका> (हि) धोबिन (स) साध्विका>(हिन्दी) साधण/साधनी।

'आइन'—यह प्रत्यय भी इनी का ही विकसित रूप है जो हिन्दी मे जाति

वाचक शब्दों में प्रयुक्त होता है, यथा—ठकुराइन, पण्डिताइन (स पण्डिता), बनियाइन आदि।

'इया'—इया प्रत्यय भी स्त्रीलिङ्ग शब्द बनाने में काम आता है। इसका विकास सम्भवतः संस्कृत प्रत्यय 'इका' से हुआ है। संस्कृत में यह लघुता सूचक प्रत्यय था, जो स्त्रीलिङ्गवाची रहा है, (इका>इआ>इया) यथा—घटी>घटिका, मक्षी>मक्षिका वाटी>वाटिका आदि। हिन्दी में ऐसा क्रम है पर इसके साथ कोमलता का भाव भी जोड दिया गया है। हिन्दी 'बाछा (गाय का बच्चा) के दो स्त्रीलिङ्ग रूप प्रचलित है (१) बाछी, (२) बछिया। इसी तरह गाय के लिए गइया (गया) शब्द भी चलता है। मटका>(१) मटकी, (२) मटकिया आदि। लघुता के बोधन में, पर पुल्लिङ्ग रूप में ही, घडा> घडिया (छोटा मटका), भाई>भइया (भया), पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग, यथा—गड>गडइया लोटा>लुटिया आदि। ये शब्द लघुता का बोध भी कराते हैं।

'कारक'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में कारकों की संख्या आठ थी। अपभ्रंश तक आते-आते यह संख्या तीन रह गई। हिन्दी में केवल दो ही कारक हैं, (१) ऋजु (२) तिर्यक। प्रथम वे कारक जिनमें कारक चिह्नों[5] का प्रयोग नहीं होता और दूसरे वे जिनमें कारक चिह्नों का प्रयोग होता है, यथा—राम जाता है (ऋजु)। राम ने खाया (तिर्यक)। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में किसी न किसी रूप में कारक विभक्तियाँ वर्तमान थी पर हिन्दी तक आते आते इनका स्थान कुछ शब्दांशों ने ले लिया और भाषाविदों ने उन शब्दांशों को परसर्ग की संज्ञा दी। इन परसर्गों का स्थूल रूप उत्तरकालीन संस्कृत में दिखाई पडने लगता है, यथा—कायस्थ कृते रामस्यार्थे अस्मात् कारणात् आदि। धीरे धीरे ये विकसित होते रहे और अपभ्रंश भाषा के व्याकरण में हेमचन्द्राचार्य को इसकी पर्याप्त लम्बी सूची देनी पडी। संस्कृत एवं अपभ्रंश (विशेषकर) के व्याकरण इस बात के साक्षी हैं कि इन परसर्गों का प्रयोग प्रारम्भ में सविभक्तिक शब्द के साथ किया जाता था। इसका कारण यह हो सकता है कि प्रारम्भ में विभक्ति प्रत्यय पूर्णतः घिस तो नहीं गए थे पर वे अपना पूर्ण अर्थ द्योतन कराने में असमर्थ से होने लगे थे। इस प्रकार एक ओर तो ये प्रत्यय अपनी अर्थबोधन शक्ति से हाथ धोते जा रहे थे और दूसरी ओर इनके रूप का भी क्षय होता जा रहा था। हिन्दी भाषा तक आते-आते कुछेक स्थानों को छोडकर ये प्रत्यय पूर्णतः लुप्त हो गए और कारकों का बोधन पूर्णतः परसर्गों के हाथ में आ गया। अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तुलना में हिन्दी ने कम से कम परसर्गों

---

5 कारक चिह्नों का विवरण एवं विकास नवम अध्याय में दिया गया है।

को अपनाया। हिन्दी में इन परसर्गों का प्रयोग प्रातिपदिक के साथ भी होता है और सविभक्तिक शब्दों के साथ भी। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी में कुछ विभक्ति प्रत्यय अब भी अवशिष्ट हैं। ऋजु रूपों में बहुवचन में केवल आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के साथ ही विभक्ति प्रत्यय अवशिष्ट है और वह भी कर्ता और कर्म कारक के द्योतन में। तिर्यक् रूपों में केवल आकारान्त एकवचन में ही विभक्ति प्रत्यय के साथ परसर्ग प्रयुक्त होते हैं। शेष प्रातिपदिकों के साथ विभक्ति के स्थान पर परसर्गों से ही काम लिया जाता है, यथा—लड़के ने, लड़के को लड़के से लड़के के लिए आदि। अन्य रूप यथा—राम ने मुनि को भानु से, पाण्डे के लिए आदि। पुल्लिङ्ग बहुवचन में समस्त प्रातिपदिक सविभक्तिक होकर परसर्ग का आश्रय लेते हैं और तब अर्थबोध कराते हैं। स्त्रीलिङ्ग शब्दों में ऋजु रूप के एकवचन में सभी शब्द प्रातिपदिक रूप में ही रहते हैं, पर बहुवचन में ऐकारान्त और ओकारान्त शब्दों को छोड़कर शेष सभी प्रातिपदिक विभक्ति प्रत्यय के साथ वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। जहाँ तक तिर्यक् रूपों का सम्बन्ध है, समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द एकवचन में प्रातिपदिक रूप रहते हैं और परसर्गों की सहायता से कारक बोध कराते हैं। बहुवचन में समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द विभक्ति प्रत्यय के साथ होते हैं और परसर्ग के माध्यम से कारक का बोध कराते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल में जो विभक्ति प्रत्यय कारक और वचन दोनों का बोध कराते थे उन प्रत्ययों के घिसे हुए रूप जो हिन्दी में मिलते हैं वे अब केवल मात्र वचन का बोध कराने की ही सामर्थ्य रखते हैं। कारकों का बोध या तो स्थान के द्वारा अथवा परसर्ग के द्वारा और कभी-कभी क्रिया रूपों के द्वारा ही हिन्दी भाषा में होता है।

**परसर्गों के लिखने की समस्या**—हिन्दीजगत में एक समस्या बड़े जोरों से चल रही है कि परसर्गों को शब्द के साथ जोड़कर लिखा जाए अथवा मूल शब्द से हटाकर पृथक् लिखा जाए। इसमें भिन्न भिन्न विद्वानों के तीन मत हैं। एक तो वे जो परसर्गों को शब्द से सटाकर लिखने के हामी हैं दूसरे वे जो परसर्गों को शब्द (मूल) से हटाकर पृथक रूप में लिखने के समर्थक हैं और तीसरे वे जो संज्ञा शब्दों के साथ सटाकर और सर्वनाम शब्दों से हटाकर लिखना चाहते हैं। इन तीनों मतों में दूसरा मत मेरी बुद्धि में अधिक समीचीन है। जहाँ तक पहले मत का सम्बन्ध है इस मत के मानने वालों के मस्तिष्क में संस्कृत के विभक्ति प्रत्ययों का प्रभाव है और वे परसर्गों को भी विभक्ति प्रत्ययों की तरह प्रत्यय ही मानकर चलते हैं जो कि उचित नहीं है। इन विद्वानों का तर्क है कि यदि हम परसर्गों को हटाकर पृथक रूप में लिखेंगे तो सर्वनाम 'हमारा' को भी हम 'हम आरा' 'मेरा' को 'मे रा' और 'इसे' को 'इस ए' लिखना

पड़ेगा, जो कि अवबोध की दृष्टि से ठोस नहीं है। सम्भवत यही हर तीसरे मत के समर्थकों को भी है इसलिए वे सर्वनाम शब्दों में परसर्गों को सटाकर लिखने की बात करते हैं। किन्तु यह तर्क अत्यन्त खोखला है। उपर्युक्त शब्दों में प्रयुक्त आर तथा ए परसर्ग नहीं हैं अपितु आर तो सम्बन्ध-सम्बन्धी प्रत्यय है[6] और ए विभक्ति प्रत्यय है जो आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में वर्तमान है। अत इन्हें मूल शब्द से पृथक लिखने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। उधर परसर्ग प्रत्यय नहीं हैं अपितु मूल शब्दों के घिसे हुए रूप हैं। अतः परसर्ग तो अब भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। अत ऐसे शब्दों एवं शब्दांशों के समान का छोड़कर कभी भी सटाकर नहीं लिखा जा सकता और न ही लिखना चाहिये। हटाकर क्या लिखे जाएँ ? इसके लिए एक सबल तर्क यही है कि अनेक बार मूल शब्द और परसर्ग के बीच में हम अन्य शब्द का भी प्रयोग करते हैं और यह प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि परसर्ग स्वतन्त्र मूल शब्द का अभिन्न अंग नहीं। यथा—'राम ने कहा', राम ही ने कहा। राम से पूछा' तथा राम ही से पूछा आदि। मेरी दृष्टि में परसर्गों को मूल शब्दों से हटाकर स्वतन्त्र शब्द के रूप में ही लिखा जाना चाहिये और हिन्दी भाषा की वियोगात्मक प्रवृत्ति भी इसका ही समर्थन करती है।

ने' तथा 'को' परसर्गों का प्रयोग—हिन्दी में अन्य परसर्ग तो सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं किन्तु 'ने और को परसर्ग सर्वत्र प्रयुक्त नहीं होते। अत हिन्दी भाषा पर दोषारोपण किया जाता है कि हिन्दी में अजीब बात है कि कहीं ये परसर्ग प्रयुक्त हो जाते हैं और कहीं नहीं होते पर यह थोड़ा-सा समझ का ही फेर है अन्यथा इनके प्रयोगों में कोई उलझन नहीं है। जहाँ तक ने परसर्ग के प्रयोग की बात है यह केवल अपूर्ण भूत को छोड़कर भूत काल के सभी भेदों में सकर्मक क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है और अन्य स्थानों पर कर्ता कारक में ने का प्रयोग नहीं होता। यथा—राम खाता है राम खायगा, राम खाए, पर भूतकाल में—राम ने खाया, राम ने खाया था राम ने खाया होगा आदि रूप होते हैं। अकर्मक क्रिया होने पर भूतकाल में भी ने का प्रयोग नहीं होगा, यथा—राम हँसा राम गया आदि। सकर्मक क्रिया में भी बोलना भूलना, बकना क्रियाओं के साथ ने नहीं लगता।

को कर्म कारक का सूचक प्रत्यय है। सम्प्रदान के लिए भी इसका प्रयोग होता है। को परसर्ग के आधार पर डॉ उदयनारायण तिवारी ने हिंदी में नपुंसकलिङ्ग का अवशेष देखा है पर यह उचित नहीं प्रतीत होता। डा तिवारी ने उदाहरण दिये हैं—धोबी को बुलाओ, गाय को खोल दो आदि

---

6 युष्मदादेरीयस्य डार हेमशब्दानुशासन ८४३४।

को अपनाया। हिन्दी में इन परसर्गों का प्रयोग प्रातिपदिक के साथ भी होता है और सविभक्तिक शब्दों के साथ भी। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी में कुछ विभक्ति प्रत्यय अब भी अवशिष्ट हैं। ऋजु रूपों में बहुवचन में केवल आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के साथ ही विभक्ति प्रत्यय अवशिष्ट है और वह भी कर्ता और कर्म कारक के द्योतन में। तिर्यक रूपों में केवल आकारान्त एकवचन में ही विभक्ति प्रत्यय के साथ परसर्ग प्रयुक्त होते हैं। शेष प्रातिपदिकों के साथ विभक्ति के स्थान पर परसर्गों से ही काम लिया जाता है, यथा—लड़के ने लड़के को लड़के से, लड़के के लिए आदि। अन्य रूप, यथा—राम ने मुनि को, भानु से, पाण्डे के लिए आदि। पुल्लिङ्ग बहुवचन में समस्त प्रातिपदिक सविभक्तिक होकर परसर्ग का आश्रय लेते हैं और अर्थ अवबोध कराते हैं। स्त्रीलिङ्ग शब्दों में ऋजु रूप के एकवचन में सभी शब्द प्रातिपदिक रूप में ही रहते हैं पर बहुवचन में ऐकारान्त और ओकारान्त शब्दों को छोड़कर शेष सभी प्रातिपदिक विभक्ति प्रत्यय के साथ वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। जहाँ तक तिर्यक् रूपों का सम्बन्ध है, समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द एकवचन में प्रातिपदिक रूप रहते हैं और परसर्गों की सहायता से कारक बोध कराते हैं। बहुवचन में समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द विभक्ति प्रत्यय के साथ होते हैं और परसर्ग के माध्यम से कारक का बोध कराते हैं। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल में जो विभक्ति प्रत्यय कारक और वचन दोनों का बोध कराते थे, उन प्रत्ययों के घिसे हुए रूप जो हिन्दी में मिलते हैं, वे अब केवल मात्र वचन का बोध कराने की ही सामर्थ्य रखते हैं। कारकों का बोध या तो स्थान के द्वारा अथवा परसर्ग के द्वारा और कभी-कभी क्रिया रूपों के द्वारा ही हिन्दी भाषा में होता है।

परसर्गों के लिखने की समस्या—हिन्दीजगत् में एक समस्या बड़े जोरों से चल रही है कि परसर्गों को शब्द के साथ जोड़कर लिखा जाए अथवा मूल शब्द से हटाकर पृथक् लिखा जाए। इसमें भिन्न भिन्न विद्वानों के तीन मत हैं। एक तो वे जो परसर्गों को शब्द से सटाकर लिखने के हामी हैं, दूसरे वे जो परसर्गों को शब्द (मूल) से हटाकर पृथक् रूप में लिखने के समर्थक हैं और तीसरे वे जो संज्ञा शब्दों के साथ सटाकर और सर्वनाम शब्दों से हटाकर लिखना चाहते हैं। इन तीनों मतों में दूसरा मत मेरी बुद्धि में अधिक समीचीन है। जहाँ तक पहले मत का सम्बन्ध है इस मत के मानने वालों के मस्तिष्क में संस्कृत के विभक्ति प्रत्ययों का प्रभाव है और वे परसर्गों को भी विभक्ति प्रत्ययों की तरह प्रत्यय ही मानकर चलते हैं जो कि उचित नहीं है। इन विद्वानों का तर्क है कि यदि हम परसर्गों को हटाकर पृथक् रूप में लिखेंगे तो सर्वनाम हमारा को भी हम आरा, मेरा को मे रा और इस को इस से लिखना

पड़ेगा, जो कि अर्थबोध की दृष्टि से ठीक नहीं है। सम्भवतः यही डर तीसरे मत के समर्थकों को भी है इसलिए वे सर्वनाम शब्दों में परसर्गों को सटाकर लिखने की बात करते हैं। किन्तु यह तर्क अत्यन्त खोखला है। उपर्युक्त शब्दों में प्रयुक्त 'आर' तथा 'ए' परसर्ग नहीं हैं अपितु 'आर' तो सम्बन्ध-सम्बन्धी प्रत्यय है[6] और 'ए' विभक्ति प्रत्यय है जो आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में वर्तमान है। अतः इन्हें मूल शब्द से पृथक् लिखने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। उधर परसर्ग प्रत्यय नहीं हैं अपितु मूल शब्दों के घिसे हुए रूप हैं। अनेक परसर्ग तो अब भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व रखते हैं। अतः ऐसे शब्दों एवं शब्दांशों के समास को छोड़कर कभी भी सटाकर नहीं लिखा जा सकता और न ही लिखना चाहिये। हटाकर क्या लिखे जाएँ ? इसके लिए एक सबल तर्क यही है कि अनेक बार मूल शब्द और परसर्ग के बीच में हम अन्य शब्द का भी प्रयोग करते हैं और यह प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि परसर्ग स्वतन्त्र मूल शब्द का अभिन्न अंग नहीं। यथा—'राम ने कहा', 'राम ही ने कहा'। 'राम से पूछा' तथा 'राम ही से पूछा' आदि। मेरी दृष्टि में परसर्गों को मूल शब्दों से हटाकर स्वतन्त्र शब्द के रूप में ही लिखा जाना चाहिये और हिन्दी भाषा की वियोगात्मक प्रवृत्ति भी इसका ही समर्थन करती है।

**'ने' तथा 'को' परसर्गों का प्रयोग**—हिन्दी में अन्य परसर्ग तो सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं किन्तु 'ने' और 'को' परसर्ग सर्वत्र प्रयुक्त नहीं होते। अतः हिन्दी भाषा पर दोषारोपण किया जाता है कि हिन्दी में अजीब बात है कि कहीं ये परसर्ग प्रयुक्त हो जाते हैं और कहीं नहीं होते पर यह थोड़ा सा समय का ही फेर है। अब यदि इनके प्रयोगों में कोई उलझन नहीं है। जहाँ तक 'ने' परसर्ग के प्रयोग की बात है यह केवल अपूर्ण भूत को छोड़कर भूत काल के सभी भेदों में सकर्मक क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है और अन्य स्थानों पर कर्ता कारक में 'ने' का प्रयोग नहीं होता। यथा—राम खाता है, राम खायगा, राम खाए, पर भूतकाल में—राम ने खाया, राम ने खाया था, राम ने खाया होगा आदि रूप होते हैं। अकर्मक क्रिया होने पर भूतकाल में भी 'ने' का प्रयोग नहीं होगा, यथा—राम हँसा, राम गया आदि। सकर्मक क्रिया में भी बोलना, भूलना, बकना क्रियाओं के साथ 'ने' नहीं लगेगा।

'को' कर्म कारक का सूचक प्रत्यय है। सम्प्रदान के लिए भी इसका प्रयोग होता है। 'को' परसर्ग के आधार पर डॉ॰ उदयनारायण तिवारी ने हिन्दी में नपुंसकलिङ्ग का अवशेष देखा है पर यह उचित नहीं प्रतीत होता। डॉ॰ तिवारी ने उदाहरण दिये हैं—धोबी को बुलाओ, गाय को खोल दो आदि

---

[6] युष्मदादेरीयस्य डार हेमशब्दानुशासन, ८४३४।

को अपनाया। हिन्दी म इन परसगों का प्रयोग प्रातिपदि
होता है और सविभक्तिक शब्दा के साथ भी। इससे स्पष्ट
कुछ विभक्ति प्रत्यय अब भी अवशिष्ट है। ऋजु रूपा मे व
आकारात पुल्लिङ्ग शब्दों के साथ ही विभक्ति प्रत्यय अवि
भी कर्ता और कम कारक के द्योतन मे। तियक रूपा म
एकवचन मे ही विभक्ति प्रत्यय के साथ परसग प्रयुक्त होते है
पदिको के साथ विभक्ति के स्थान पर परसगों से ही काम ि
यथा—लडके ने, लडके को लडके से लडके के लिए आदि।
राम ने मुनि को भानु से पाण्डे के लिए आदि। पुल्लिङ्ग बहु
प्रातिपदिक सविभक्ति होकर परसग का आश्रय लेते हैं और
कराते हैं। स्त्रीलिङ्ग शब्दा मे ऋजु रूप के एकवचन म सभी
रूप मे ही रहते हैं, पर बहुवचन म ऐकारात और ओकारात शब्द
शेष सभी प्रातिपदिक विभक्ति प्रत्यय के साथ वाक्य म प्रयुक्त
तक तियक रूपो का सम्बन्ध है, समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द एकवचन
रूप रहते हैं और परसगों की सहायता से कारक बोध कराते है
समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द विभक्ति प्रत्यय के साथ होते हैं और परस
मे कारक का बोध कराते है। सक्षेप मे यो कहा जा सकता
भारतीय आय भाषा काल और मध्यकालीन भारतीय आय भाषा
विभक्ति प्रत्यय कारक और वचन दोनो का बोध कराते थे, उन प्र
हुए रूप जो हिन्दी म मिलते हैं, व अब केवल मात्र वचन का बो
ही सामथ्य रखते हैं। कारको का बोध या तो स्थान के द्वारा
के द्वारा और कभी-कभी क्रिया रूपा के द्वारा ही हिन्दी भाषा म

परसगों के लिखने की समस्या—हिन्दीजगत् म एक समस्या
चल रही है कि परसगों को शब्द के साथ जोडकर लिखा जाए अथ
से हटाकर पृथक लिखा जाए। इसम भिन्न भिन्न विद्वानो के तीन
तो वे जो परसगों को शब्द से सटाकर लिखने के हामी हैं, दूसर व जो
शब्द (मूल) से हटाकर पृथक् रूप म लिखने के समथक है और
सज्ञा शब्दा के साथ सटाकर और सवनाम शब्दा से हटाकर लिखना
इन तीना मता म दूसरा मत मेरी बुद्धि म अधिक समीचीन है।
पहले मत का सम्बन्ध है इस मत के मानने वाला के मस्तिष्क म
विभक्ति प्रत्यया का प्रभाव है और व परसगों का भी विभक्ति
तरह प्रत्यय ही मानकर चलते हैं जो कि उचित नहीं है। इन
तक है कि यदि हम परसगों को हटाकर पृथक रूप म लिखेंगे त
'हमारा' को भी हम आरा, मेरा' को मे रा और 'इस' को इस

पड़ेगा, जो कि अर्थबोध की दृष्टि से ठीक नहीं है। सम्भवतः यही डर तीसरे मत के समर्थकों को भी है इसलिए वे सर्वनाम शब्दों में परसर्गों को सटाकर लिखने की बात करते हैं। किन्तु यह तर्क अत्यन्त खोखला है। उपर्युक्त शब्दों में प्रयुक्त 'आर' तथा 'ए' परसर्ग नहीं हैं अपितु 'आर' तो सम्बन्ध-सम्बन्धी प्रत्यय है[6] और 'ए' विभक्ति प्रत्यय है जो आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में वर्तमान है। अतः इन्हें मूल शब्द से पृथक लिखने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। उधर परसर्ग प्रत्यय नहीं हैं अपितु मूल शब्दों के घिसे हुए रूप हैं। अनेक परसर्ग तो अब भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व रखते हैं। अतः ऐसे शब्दों एवं शब्दांशों के समास को छोड़कर कभी भी सटाकर नहीं लिखा जा सकता और न ही लिखना चाहिये। हटाकर क्या लिखे जाएँ? इसके लिए एक सबल तर्क यहाँ है कि अनेक बार मूल शब्द और परसर्ग के बीच में हम अन्य शब्द का भी प्रयोग करते हैं और यह प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि परसर्ग स्वतन्त्र मूल शब्द का अभिन्न अंग नहीं। यथा—'राम ने कहा, राम ही ने कहा। राम से पूछा तथा राम ही से पूछा आदि। मेरी दृष्टि में परसर्गों को मूल शब्दों से हटाकर स्वतन्त्र शब्द के रूप में ही लिखा जाना चाहिये और हिन्दी भाषा की वियोगात्मक प्रवृत्ति भी इसका ही समर्थन करती है।

'ने' तथा 'को' परसर्गों का प्रयोग—हिन्दी में अन्य परसर्ग तो सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं किन्तु 'ने' और 'को' परसर्ग सर्वत्र प्रयुक्त नहीं होते। अतः हिन्दी भाषा पर दोषारोपण किया जाता है कि हिन्दी में अजीब बात है कि कहीं ये परसर्ग प्रयुक्त हो जाते हैं और कहीं नहीं होते पर यह थोड़ा सा समझ का ही फेर है अन्यथा इनके प्रयोगों में कोई उलझन नहीं है। जहाँ तक 'ने' परसर्ग के प्रयोग की बात है यह केवल अपूर्ण भूत को छोड़कर भूत काल के सभी भेदों में सकर्मक क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है और अन्य स्थानों पर कर्ता कारक में 'ने' का प्रयोग नहीं होता। यथा—राम खाता है, राम खायेगा, राम खाए, पर भूतकाल में—राम ने खाया, राम ने खाया था, राम ने खाया होगा आदि रूप होते हैं। अकर्मक क्रिया होने पर भूतकाल में भी 'ने' का प्रयोग नहीं होगा, यथा—राम हँसा, राम गया आदि। सकर्मक क्रिया में भी बोलना, भूलना, बकना क्रियाओं के साथ 'ने' नहीं लगेगा।

'को' कर्म कारक का सूचक प्रत्यय है। सम्प्रदान के लिए भी इसका प्रयोग होता है। 'को' परसर्ग के आधार पर डा. उदयनारायण तिवारी ने हिन्दी में नपुंसकलिङ्ग का अवशेष देखा है पर यह उचित नहीं प्रतीत होता। डा. तिवारी ने उदाहरण दिये हैं—धोबी को बुलाओ, गाय को खाल दो आदि

---

[6] युष्मदादेरीयस्य डार: हेमशब्दानुशासन ८।४।३४।

को अपनाया। हिंदी में इन परसर्गों का प्रयोग प्रातिपदिक के साथ भी होता है और सविभक्तिक शब्दों के साथ भी। इससे स्पष्ट है कि हिंदी में कुछ विभक्ति प्रत्यय अब भी अवशिष्ट है। ऋजु रूपों में बहुवचन में केवल आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के साथ ही विभक्ति प्रत्यय अवशिष्ट है और वह भी कर्ता और कर्म कारक के द्योतन में। तिर्यक रूपों में केवल आकारान्त एकवचन में ही विभक्ति प्रत्यय के साथ परसर्ग प्रयुक्त होते है। शेष प्रातिपदिकों के साथ विभक्ति के स्थान पर परसर्गों से ही काम लिया जाता है, यथा—लड़के ने लड़के को लड़के से लड़के के लिए आदि। अन्य रूप यथा—राम ने, मुनि को भानु से पाण्डे के लिए आदि। पुल्लिङ्ग बहुवचन में समस्त प्रातिपदिक सविभक्तिक होकर परसर्ग का आश्रय लेते हैं और तब अर्थबोध कराते हैं। स्त्रीलिङ्ग शब्दों में ऋजु रूप के एकवचन में सभी शब्द प्रातिपदिक रूप में ही रहते हैं, पर बहुवचन में एकारान्त और आकारान्त शब्दों को छोड़कर शेष सभी प्रातिपदिक विभक्ति प्रत्यय के साथ वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। जहाँ तक तिर्यक रूपों का सम्बन्ध है, समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द एकवचन में प्रातिपदिक रूप रहते हैं और परसर्गों की सहायता से कारक बोध कराते हैं। बहुवचन में समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द विभक्ति प्रत्यय के साथ होते हैं और परसर्ग के माध्यम से कारक का बोध कराते हैं। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल में जो विभक्ति प्रत्यय कारक और वचन दोनों का बोध कराते थे उन प्रत्ययों के घिसे हुए रूप जो हिंदी में मिलते हैं वे अब केवल मात्र वचन का बोध कराने की ही सामर्थ्य रखते हैं। कारकों का बोध या तो स्थान के द्वारा अथवा परसर्ग के द्वारा और कभी-कभी क्रिया रूपों के द्वारा ही हिंदी भाषा में होता है।

परसर्गों के लिखने की समस्या—हिंदीजगत् में एक समस्या बड़े जोरों से चल रही है कि परसर्गों को शब्द के साथ जोड़कर लिखा जाए अथवा मूल शब्द से हटाकर पृथक लिखा जाए। इसमें भिन्न भिन्न विद्वानों के तीन मत हैं। एक तो वे जो परसर्गों को शब्द से सटाकर लिखने के हामी हैं दूसरे वे जो परसर्गों को शब्द (मूल) से हटाकर पृथक रूप में लिखने के समर्थक हैं और तीसरे वे जो संज्ञा शब्दों के साथ सटाकर और सर्वनाम शब्दों से हटाकर लिखना चाहते हैं। इन तीनों मतों में दूसरा मत मेरी बुद्धि में अधिक समीचीन है। जहाँ तक पहले मत का सम्बन्ध है इस मत के मानने वालों के मस्तिष्क में संस्कृत के विभक्ति प्रत्ययों का प्रभाव है और वे परसर्गों को भी विभक्ति प्रत्ययों की तरह प्रत्यय ही मानकर चलते हैं जो कि उचित नहीं है। इन विद्वानों का तर्क है कि यदि हम परसर्गों को हटाकर पृथक रूप में लिखेंगे तो सर्वनाम 'हमारा' को भी 'हम आरा', 'मेरा' को 'मे रा' और 'हम' को 'हम ए' लिखना

पड़ेगा, जो कि अर्थबोध की दृष्टि से ठीक नहीं है। सम्भवतः यही डर तीसरे मत के समर्थकों को भी है, इसलिए वे सर्वनाम शब्दों में परसर्गों को सटाकर लिखने की बात करते हैं। किन्तु यह तर्क अत्यन्त खोखला है। उपर्युक्त शब्दों में प्रयुक्त आर तथा ए परसर्ग नहीं हैं, अपितु आर तो सम्बन्ध-सम्बन्धी प्रत्यय है[6] और 'ए' विभक्ति प्रत्यय है जो आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में वर्तमान है। अतः इन्हें मूल शब्द से पृथक लिखने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। इधर परसर्ग प्रत्यय नहीं है, अपितु मूल शब्दों के घिसे हुए रूप हैं। अनेक परसर्ग तो अब भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। अतः ऐसे शब्दों एवं शब्दांशों के समान को छोड़कर कभी भी सटाकर नहीं लिखा जा सकता और न ही लिखना चाहिये। हटाकर क्यों लिखे जाएँ ? इसके लिए एक सबल तर्क यही है कि अनेक बार मूल शब्द और परसर्ग के बीच में हम अन्य शब्द का भी प्रयोग करते हैं और यह प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि परसर्ग स्वतन्त्र मूल शब्द का अभिन्न अंग नहीं। यथा—'राम ने कहा' 'राम ही ने कहा'। 'राम से पूछा' तथा 'राम ही से पूछा' आदि। मेरी दृष्टि में परसर्गों को मूल शब्दों से हटाकर स्वतन्त्र शब्द के रूप में ही लिखा जाना चाहिये और हिन्दी भाषा की वियोगात्मक प्रवृत्ति भी इसका ही समर्थन करती है।

'ने' तथा 'को' परसर्गों का प्रयोग—हिन्दी में अन्य परसर्ग तो सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं किन्तु 'ने' और 'को' परसर्ग सर्वत्र प्रयुक्त नहीं होते। अतः हिन्दी भाषा पर दोषारोपण किया जाता है कि हिन्दी में अजीब बात है कि कहीं ये परसर्ग प्रयुक्त हो जाते हैं और कहीं नहीं होते पर यह थोड़ा सा समझ का ही फेर है अन्यथा इनके प्रयोगों में कोई उलझन नहीं है। जहाँ तक 'ने' परसर्ग के प्रयोग की बात है यह केवल अपूर्ण भूत को छोड़कर भूत काल के सभी भेदों में सकर्मक क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है और अन्य स्थानों पर कर्ता कारक में 'ने' का प्रयोग नहीं होता। यथा—राम खाता है, राम खायेगा, राम खाए, पर भूतकाल में—राम ने खाया, राम ने खाया था, राम ने खाया होगा आदि रूप होते हैं। अकर्मक क्रिया होने पर भूतकाल में भी 'ने' का प्रयोग नहीं होगा, यथा—राम हँसा, राम गया आदि। सकर्मक क्रिया में भी बोलना, भूलना, बकना क्रियाओं के साथ 'ने' नहीं लगेगा।

'को' कर्म कारक का सूचक प्रत्यय है। सम्प्रदान के लिए भी इसका प्रयोग होता है। 'को' परसर्ग के आधार पर डॉ. उदयनारायण तिवारी ने हिन्दी में नपुंसकलिङ्ग का अवशेष देखा है पर यह उचित नहीं प्रतीत होता। डॉ. तिवारी ने उदाहरण दिये हैं—धोबी को बुलाओ, गाय को खोल दो आदि

---

[6] युष्मदादेरीयस्य डार हेमशब्दानुशासन ८।४।३४।

तो कहा जाता है पर घास को काटो और कपड़ों को साओ नहीं कहा जाता है, क्योंकि ये दोनों शब्द नपुंसकलिङ्ग के द्योतक हैं। यहाँ विचारणीय है कि उपर्युक्त 'घास' और 'कपड़ा' शब्द नपुंसकलिङ्ग नहीं है। 'घास' संस्कृत के 'घास' से विकसित पुल्लिङ्ग शब्द है। प्राकृत में भी 'घास' पुल्लिङ्ग है, फिर हिन्दी में जहाँ नपुंसकलिङ्ग है ही नहीं तो फिर यह नपुंसकलिङ्ग कैसे है? इसी प्रकार 'कपट' शब्द संस्कृत में 'पुल्लिङ्ग' है और प्राकृत में भी इसका तद्भव रूप 'कप्पड' पुल्लिङ्ग है। जहाँ तक 'को' परसर्ग के प्रयोगाभाव का सम्बन्ध है, वह क्रिया कारण है, जैसे—'मैंने एक लड़का देखा' या 'मैंने एक लड़की देखी' दोनों वाक्यों में 'को' परसर्ग का प्रयोग नहीं है पर ये नपुंसकलिङ्ग भी नहीं हैं। 'को' न होने का कारण है 'हिन्दी का कर्मणि प्रयोग'। जब इसका कर्तृ प्रयोग होगा तो 'को' आ जायेगा, यथा—हरि ने एक लड़की को देखा—कर्तृ प्रयोग। हरि ने लड़की देखी—कर्मणि प्रयोग। अतः कह सकते हैं कि कर्मणि प्रयोग और द्विकर्मक क्रिया के दूसरे कर्म को छोड़कर सर्वत्र 'को' का प्रयोग होना चाहिये।

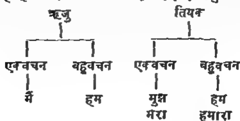
**सर्वनाम**—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में सर्वनामों की संख्या ३५ थी जो घटते घटते हिन्दी में केवल दस रह गयी। हिन्दी के सर्वनाम सबसे सरल हैं। संस्कृत में अस्मद् और युष्मद् को छोड़कर सब सर्वनाम प्रायः त्रिलिङ्गी हैं, जबकि हिन्दी में सर्वनामों में लिङ्ग उलझन है ही नहीं यथा—मैं जाता हूँ मैं जाती हूँ, तुम जाते हो तुम जाती हो यह जाता है और यह जाती है, आदि।

हिन्दी में सर्वनाम शब्दों को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया गया है—

(१) पुरुषवाचक (२) सम्बन्धवाचक, (३) प्रश्नवाचक, (४) अनिश्चय वाचक और (५) निजवाचक।

**(१) पुरुषवाचक सर्वनाम**—व्यक्ति के साम्मुख्य और असाम्मुख्य को लेकर पुरुषवाचक सर्वनाम के तीन भेद किये जाते हैं—(१) उत्तम पुरुष (२) मध्यम पुरुष तथा (३) अन्य पुरुष।

उत्तम पुरुष—जो व्यक्ति किसी को कुछ कहता है उस कहने वाले का अपने लिए प्रयुक्त शब्द उत्तम पुरुष वाचक सर्वनाम कहलाता है, यथा 'मैं'। इसका बहुवचन होता है 'हम'। इसके भी दो रूप होते हैं (१) ऋजु और (२) तिर्यक।



'मैं'—मैं की व्युत्पत्ति संस्कृत मया शब्द से हुई है। अपभ्रंश में तृतीया एकवचन का रूप मया के स्थान पर मइ मिलता है, जो हिंदी में मैं बन जाता है। अपभ्रंश में यह करण कारक के साथ-साथ कर्म तथा अधिकरण कारक में भी प्रयुक्त होने लगा और हिंदी में यह कर्ता कारक के लिए ही स्वीकृत हो गया।

'हम'—हम की उत्पत्ति संस्कृत वयं से न होकर वैदिक संस्कृत के अस्मे शब्द से हुई है, यथा—(छा) अस्म>(म भा आ) अम्ह>हम। बीच में एक रूप 'हम्म' को भी विद्वान स्वीकार करते हैं पर यह रूप कभी प्रयुक्त हुआ हो यह संदिग्ध है।

'मुझ'—'मुझ की उत्पत्ति संस्कृत 'मह्यम से हुई है, यथा (स) मह्यम> (म भा आ) मज्झ>(हि) मुझ।

'मेरा'—मेरा की उत्पत्ति मम केर से की जाती है। पर मेरी दृष्टि में इसकी व्युत्पत्ति महार से की जाए तो उत्तम रहे क्योंकि 'मम केर में प्रथम संस्कृत शब्द है और दूसरा अपभ्रंश। इस प्रकार से शब्द निर्माण का प्रचलन पाया नहीं जाता। अतः इसकी व्युत्पत्ति यों सम्भव हो सकती है कि संस्कृत के सम्बन्ध-सम्बन्धी 'ईय प्रत्यय के स्थान पर अपभ्रंश में डार' प्रत्यय होता है। ड का लोप होने पर आर बच जाता है और जब इसे पंचमी के साथ लगाते हैं तो महार बनता है और ह के लोप पर मआर' बनेगा जिससे स्वर विपयय से मअरा 'मेरा' बन जायगा। ए के आदेश का जहाँ तक सम्बन्ध है यह प्रवृत्ति आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में प्रचलित हो गयी थी। आधुनिक मारवाड़ी में सर्वत्र ह' के लोप के पश्चात उसके पूर्ववर्ती अ को ऐ कर दिया जाता है। कहीं-कहीं ए भी मिलता है। यह मेरी दृष्टि में अधिक वैज्ञानिक है क्योंकि द्वितीया और तृतीया में इसका प्रयोग विशेषणवत भी होता है।

'हमारा'—इसकी व्युत्पत्ति विद्वान लोग 'अस्मकेर से करते आये हैं जो उचित नहीं। जब हम की व्युत्पत्ति—अम्ह से मानी जाती है—तो हमारा की व्युत्पत्ति अपभ्रंश अम्हार से मानी जानी चाहिये। (अप) अम्हार> हम्मार>(हि) हमारा।

मध्यम पुरुष—मध्यम पुरुष वहाँ होता है जहाँ वक्ता श्रोता के लिए सर्वनाम शब्द का प्रयोग करता है, यथा—तू। बहुवचन होगा तुम और तियक रूप होंगे तुझ और तुम्ह तथा तेरा और तुम्हारा।

'तू'—'तू' की उत्पत्ति संस्कृत 'त्वं>(म भा आ) तुअ>(अप) तुह> (हि) तू>(सा हि) तूं' से हुई है। 'ह' के लोप के कारण उ का दीर्घ हो जाना अधिक वैज्ञानिक है।

'तुम'—'तुम' की व्युत्पत्ति प्राकृत 'तुम्ह' से 'ह' के लोप होने पर निष्पन्न होती है।

'तुझ'— तुझ की व्युत्पत्ति संस्कृत 'तुभ्यम्' से स्पष्ट रूप में हो सकती है, यथा—(सं) तुभ्यम्>(म भा आ) तुज्झ>(हि) तुझ।

'तेरा'— तेरा की व्युत्पत्ति 'तवकेर' से दिखाई जाती है, पर मेरी दृष्टि में इसकी व्युत्पत्ति भी 'तुहार>तहार>तेरा' इस प्रकार होनी चाहिए।

'तुम्हारा'—इसकी व्युत्पत्ति 'युष्मकेर' से की जाती है। इसकी व्युत्पत्ति 'तुम्हार' (अपभ्रंश) से अधिक उपयुक्त है।

अन्य पुरुष—जिसके सम्बन्ध में वक्ता और श्रोता वार्तालाप करते हैं उसके लिए प्रयुक्त किया गया सर्वनाम शब्द अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है, (१) समीपवर्ती और (२) दूरवर्ती। समीपवर्ती—यह दूरवर्ती—वह। इनके बहुवचन क्रमशः ये और वे होते हैं और तिर्यक् रूप—इस (एकवचन), इन (बहुवचन) उस (एकवचन), उन्ह उन (बहुवचन) होते हैं।

'यह'— यह की उत्पत्ति संस्कृत 'एष' से हुई है। संस्कृत एष प्राकृत में एसो तथा अपभ्रंश में एहो से ए का य होकर पदान्त स्वर लोप से यह बना है। (सं) एष >(प्रा) एसो>(अप) एहो>(हि) यह।

'ये'— ये की व्युत्पत्ति संस्कृत 'एते' से हुई है। संस्कृत एते प्राकृत में एए मिलता है और अपभ्रंश में 'एह' इसमें सम्भवतः 'य' श्रुति का आगम हुआ है और 'ह' लोप से ये निष्पन्न हुआ होगा। यह व्युत्पत्ति कुछ संदिग्ध ही है। इतना अवश्य है कि मध्यकालीन हिन्दी में एकवचन में 'एहा'[7] मिलता है और बहुवचन में 'ए'[8]। अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि पार्थक्य दिखाने के लिए 'बहुवचन' के 'ह' का लोप कर दिया गया है।

'इस'— इस की व्युत्पत्ति संस्कृत 'एतस्य' से निम्न प्रकार से हुई है

(सं) एतस्य>(प्रा) एअस्स>(हिन्दी) इस।

'इन/इन्ह'—इन दोनों शब्दों की उत्पत्ति संस्कृत 'एतेषाम्' से हुई है

(अनुमानित) एतानाम् (म भा आ) एआण>(अप) एण्ह (हि) इन्ह/इन।

'वह'— वह की व्युत्पत्ति संस्कृत 'असौ' से निम्न प्रकार से की जाती है

(सं) असौ>(प्रा) असो>(अप) अहो>(हिन्दी) वह।

---

7 सब कर फल एहा। डा. सरनामसिंह शर्मा—हिन्दी भाषा रूप विकास पृष्ठ ३०३ से उद्धृत।

8 ए विचरहि मग बिनु त्राना। वही पृष्ठ ३०४ से उद्धृत।

'उस'—'उस की व्युत्पत्ति 'अमुष्य से सम्पन्न होती है, (स ) अमुष्य>(प्रा ) अमुस्स>(हिंदी) उस।

'वे'—अपभ्रंश मे अदस को ओइ' रूप [करण कारक मे] मिलता है। बहुत सम्भव है ओइ' से व श्रुति का आगम होकर वे' शब्द बना हो।

'उन/उन्ह'—इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत अउण' से सम्भावित है, यथा—

(प्रा ) अउण (अप /का ) उण्ह>(हि ) उन/उन्ह।

(२) सम्बन्धवाचक—ये दो वस्तुओ अथवा व्यक्तियो का सम्बन्ध बताते हैं। इसके ऋजु रूप मे 'जो' (एकवचन) जो' (बहुवचन) बनते हैं और तिर्यक रूप मे 'जिस (एकवचन) जिन/जिन्ह (बहुवचन) मे बनते है।

'जो'—जो का विकास सस्कृत य' से हुआ है, (स ) य>(प्रा ) जो>(हि ) जो।

'जिस'—व्युत्पत्ति—(स ) यस्य>(प्रा ) जस्स>(हि ) जिस।

'जिन'—(स ) येषा से बतायी जाती है। जिन्ह की भी येषा से है। मेरी दृष्टि म ये व्युत्पत्तियाँ सदिग्ध हैं।

(३) प्रश्नवाचक—जो सवनाम शब्द व्यक्ति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की सूचना देते हैं वे प्रश्नवाचक सवनाम कहलाते हैं। इसके ऋजु रूप 'कौन (एकवचन) कौन (बहुवचन) तिर्यक रूप—किस (एक वचन) किन/किन्ह (बहुवचन) आदि बनते है।

'कौन'—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'क पुन' सस्कृत शब्द से मानी जाती है, यथा—(स ) क पुन >(प्रा ) कवुण>(अप ) कउण>(हि )कौन।

किस'—इसकी व्युत्पत्ति सस्कृत 'कस्य स निष्पन्न होती है, यथा—(स ) कस्य>(म भा आ ) कस्स/किस्स>(हि ) किस।

'किन/किन्ह'—इसकी व्युत्पत्ति सस्कृत केषाम से बतलाते हैं पर यह अभी सन्दिग्ध है।

(४) अनिश्चयवाचक—जहाँ किसी वस्तु या व्यक्ति की अनिश्चयता सूचित की जाती है, वहाँ पर इस सवनाम का प्रयोग किया जाता है। इसका ऋजु रूप एकवचन और बहुवचना मे 'कोई' होता है और तिर्यक रूप किसी' (एकवचन), किन्ही (बहुवचन) होता है।

'कोई'—इसकी उत्पत्ति सस्कृत क अपि कोऽपि' से हुई है, यथा—(स ) कोऽपि>(प्रा ) कापि>(अप ) कोवि>(हि ) कोई।

'किसी'—इस शब्द की व्युत्पत्ति निम्नप्रकार से मानी जाती है यथा—(स ) कस्यापि>(प्रा ) कस्सवि>(अप ) कस्सई>(हि ) किसी।

किन्ही'—इसकी व्युत्पत्ति 'केषामपि से बताई जाती है।

(२) निजवाचक सवनाम—अपने लिए जब सवनाम शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उन्हे निजवाचक सवनाम कहते हैं। सस्कृत के हलन्त 'आत्मन शब्द का प्रयोग हिन्दी म सवनाम की तरह प्रयुक्त होने लग गया। सस्कृत 'आत्मन' शब्द के प्राकृत म दो रूप मिलते हैं एक अत्त' और दूसरा अप्प', अपभ्रश म अप्पण भी बनता है। हिन्दी म प्राकृत अप्प' से आप और अपभ्रश अप्पण से अपना' शब्द बने हैं। 'अप्पण शब्द का सम्बन्ध प्राकृत 'अप्पणअ और सस्कृत आत्मानक' से जोडा जा सकता है।

(स ) आत्मन>(म भा आ ) अप्प>(हि ) आप।

(स ) आत्मानक >(प्रा ) अप्पणअ>(हि ) अपना।

विशेषण—जो शब्द सज्ञाओ की विशेषता प्रकट करते हैं, उन्हे विशेषण कहा जाता है। ये शब्द कभी किसी वस्तु के गुण को कभी उसके परिमाण को तो कभी सख्या को प्रकट करते हैं। अत इन्हे गुणवाचक परिमाणवाचक और सख्यावाचक विशेषण आदि तीन भागा म बाँट सकते हैं। परिमाणवाचक विशेषण मे भी प्रयोग तो सख्या शब्दों का ही होता है पर विशेष्य के आधार पर भात होता है कि इसकी गणना नही हो सकती बल्कि नाप या तोल होता है। अत कुछ विद्वान मूलत विशेषण को सख्यावाचक बनाकर उसके दो भेद करते हैं—(१) गणना मूलक सख्यावाचक विशेषण और (२) परिमाण मूलक सख्यावाचक विशेषण। उपयक्त तीनो भेदो क अनिश्चयात्मक रूप भी होते हैं यथा—कसा लडका, एसा लडका, वसा लडका आदि। एस वाक्यो से गुण का बोध तो होता है किन्तु उस गुण के निश्चित रूप की प्रतीति नही होती। इसी प्रकार इतना दूध कितने लडके जितनी पुस्तक आदि म भी सख्या की निश्चयात्मकता का ज्ञान नही होता। अत उक्त तीनो भेदो मे स प्रत्यक का निश्चयात्मक और अनिश्चयात्मक रूप मे और विभाजित कर सकते हैं और इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से विशेषण क छ भेद हो जाते हैं परन्तु भाषा वैज्ञानिक विवचन के लिए हम तीन ही भद लेकर चलते हैं—(१) गुणवाचक विशेषण यथा—काला गोरा आदि, (२) सख्यावाचक विशेषण, दो तीन चार तीसरा तीनो, चौगुना आदि, (३) सावनामिक विशेषण अर्थात जिन विशेषण शब्दो क मूल मे सवनाम शब्दो की स्थिति पायी जाती हो।

प्राचीन भारतीय आय भाषाओ और मध्यकालीन आय भाषाओ म विशेषण के लिङ्ग वचन और कारक उसके विशेष्य के अनुसार चलते थ पर आधुनिक भारतीय आय भाषाओ म इस प्रवत्ति का परित्याग कर दिया गया है। डॉ उदयनारायण तिवारी की यह बात उचित प्रतीत नही होती कि कवल साहित्यिक हिन्दी ने प्राचीन भारतीय आय भाषाओ की इस प्रवत्ति को सुरक्षित

रखा है।[9] प्राय समस्त आधुनिक भारतीय आय भाषाओं मे केवल लिङ्ग के क्षेत्र मे ओकारात एव आकारात भाषाओं के ओकारात विशेषण और आकारात विशेषण श- विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार बदल जाते हैं। हाँ पजाबी भाषा तो साहित्यिक हिन्दी से एक कदम और आगे बढती है कि उसके स्त्रीलिङ्ग विशेषण शब्द विशेष्य के वचन का भी अनुसरण करते हैं। उपयुक्त इस कथन की पुष्टि उदाहरण के द्वारा इस प्रकार हो सकती है

आकारात भाषाएँ (हिन्दी)

| | ऋजु रूप एकवचन | ऋजु रूप बहुवचन | तियक रूप एकवचन | तियक रूप बहुवचन |
|---|---|---|---|---|
| पुल्लिङ्ग— | अच्छा लडका | अच्छे लडके | अच्छे लडके | अच्छे लडको |
| स्त्रीलिङ्ग— | अच्छी लडकी | अच्छी लडकिया | अच्छी लडकी | अच्छी लडकियो |

आकारात पजाबी भाषा

| | ऋजु रूप एकवचन | ऋजु रूप बहुवचन | तियक रूप एकवचन | तियक रूप बहुवचन |
|---|---|---|---|---|
| पुल्लिङ्ग— | अच्छा मुडा | अच्छे मुडे | अच्छे मुडे | अच्छे मुडा |
| स्त्रीलिङ्ग— | अच्छी कुडी | अच्छिया कुडिया | अच्छी कुडी | अच्छिआँ (या) कुडियाँ |

आकारान्त मराठी भाषा

| | ऋजु रूप एकवचन | ऋजु रूप बहुवचन | तियक रूप एकवचन | तियक रूप बहुवचन |
|---|---|---|---|---|
| पुल्लिङ्ग— | काला घोडा | काले घोडे | काल्या घोडया | काल्या घोडया |
| स्त्रीलिङ्ग— | काली घोडी | काली घोडया | काला घोडी | काली घोडया |

उपयुक्त उदाहरणो के आधार पर हम कह सकते हैं कि आकारात प्रधान भाषाओं के विशषण श- (केवल आकारात) विशेष्य के लिङ्ग और वचन के अनुसार चलते हैं पर तियक रूप के बहुवचन म विशेषण श द विशेष्य की प्रणाली से नही चलकर तियक रूप के एकवचन म ही रहता है अथवा या कहिये कि ऋजु रूप के बहुवचन की स्थिति म ही रहता है। स्त्रीलिङ्ग मे विशेषण सवत्र वचन की दृष्टि से एकरूप रहता है केवल पजाबी भाषा को छोड कर।

ओ/ओकारात भाषाए (मारवाडी)

| | ऋजु रूप एकवचन | ऋजु रूप बहुवचन | तियक रूप एकवचन | तियक रूप बहुवचन |
|---|---|---|---|---|
| पुल्लिङ्ग— | भलो छोरो | भला छोरा | भला छोरा | भला छोरां |
| स्त्रीलिङ्ग— | भली छोरी | भली छोर्‌यां | भली छोरी | भली छोरयां |

---

[9] डा उदयनारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उदगम और विकास पृ० ४३५।

(५) निजवाचक सर्वनाम—अपने लिए जब सर्वनाम शब्द का प्रयोग किया जाता है तब उसे निजवाचक सर्वनाम कहते हैं। संस्कृत के हलन्त 'आत्मन्' शब्द का प्रयोग हिन्दी में सर्वनाम की तरह प्रयुक्त होने लग गया। संस्कृत 'आत्मन्' शब्द के प्राकृत में दो रूप मिलते हैं एक अत्त और दूसरा 'अप्प', अपभ्रंश में अप्पण भी बनता है। हिन्दी में प्राकृत 'अप्प' से आप और अपभ्रंश अप्पण से अपना शब्द बने हैं। 'अप्पण' शब्द का सम्बन्ध प्राकृत अप्पणअ और संस्कृत आत्मानक से जोड़ा जा सकता है।

(स) आत्मन्>(म भा आ) अप्प>(हि) आप।

(स) आत्मानक >(प्रा) अप्पणअ>(हि) अपना।

विशेषण—जो शब्द संज्ञाओं की विशेषता प्रकट करते हैं, वह विशेषण कहा जाता है। ये शब्द कभी किसी वस्तु के गुण को कभी उसके परिमाण को तो कभी संख्या को प्रकट करते हैं। अत इन्हें गुणवाचक परिमाणवाचक और संख्यावाचक विशेषण आदि तीन भागों में बाँट सकते हैं। परिमाणवाचक विशेषण में भी प्रयोग तो संख्या शब्दों का ही होता है पर विशेष्य के आधार पर ज्ञात होता है कि इसकी गणना नहीं हो सकती बल्कि नाप या तोल होता है। अत कुछ विद्वान् मूलत विशेषण को संख्यावाचक बनाकर उसके दो भेद करते हैं—(१) गणना मूलक संख्यावाचक विशेषण और (२) परिमाण मूलक संख्यावाचक विशेषण। उपर्युक्त तीनों भेदों के अनिश्चयात्मक रूप भी होते हैं, यथा—कैसा लड़का ऐसा लड़का, वैसा लड़का आदि। इन वाक्यों से गुण का बोध तो होता है किन्तु उस गुण के निश्चित रूप की प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार इतना दूध, कितने लड़के जितनी पुस्तकें आदि में भी संख्या की निश्चयात्मकता का ज्ञान नहीं होता। अत उक्त तीनों भेदों में से प्रत्येक को निश्चयात्मक और अनिश्चयात्मक रूप में और विभाजित कर सकते हैं और इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से विशेषण के छ भेद हो जाते हैं परन्तु भाषा वैज्ञानिक विवेचन के लिए हम तीन ही भेद लेकर चलते हैं—(१) गुणवाचक विशेषण, यथा—काला, गोरा आदि, (२) संख्यावाचक विशेषण, दो, तीन चार तीसरा तीनों चौगुना आदि, (३) सार्वनामिक विशेषण अर्थात् जिन विशेषण शब्दों के मूल मे सर्वनाम शब्दों की स्थिति पायी जाती हो।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं और मध्यकालीन आर्य भाषाओं में विशेषण के लिङ्ग वचन और कारक उसके विशेष्य के अनुसार चलते थे पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इस प्रवृत्ति का परित्याग कर दिया गया है। डॉ उदयनारायण तिवारी का यह बात उचित प्रतीत नहीं होती कि केवल साहित्यिक हिन्दी ने प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की इस प्रवृत्ति को सुरक्षित

गया है।[3] प्राय समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में केवल लिङ्ग के क्षेत्र में ओकारांत एवं आकारांत भाषाओं के ओकारांत विशेषण और आकारांत विशेषण शब्द विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार बदल जाते हैं। हाँ, पंजाबी भाषा तो साहित्यिक हिन्दी से एक कदम और आगे बढ़ती है कि उसके स्त्रीलिङ्ग विशेषण शब्द विशेष्य के वचन का भी अनुसरण करते हैं। उपर्युक्त इस कथन की पुष्टि उदाहरण के द्वारा इस प्रकार हो सकती है

आकारांत भाषाएँ (हिन्दी)

| | ऋजु रूप एकवचन | ऋजु रूप बहुवचन | तिर्यक रूप एकवचन | तिर्यक रूप बहुवचन |
|---|---|---|---|---|
| पुल्लिङ्ग— | अच्छा लड़का | अच्छे लड़के | अच्छे लड़के | अच्छे लड़कों |
| स्त्रीलिङ्ग— | अच्छी लड़की | अच्छी लड़किया | अच्छी लड़की | अच्छी लड़कियों |

आकारांत पंजाबी भाषा

| | ऋजु रूप एकवचन | ऋजु रूप बहुवचन | तिर्यक रूप एकवचन | तिर्यक रूप बहुवचन |
|---|---|---|---|---|
| पुल्लिङ्ग— | अच्छा मुंडा | अच्छे मुंडे | अच्छे मुंडे | अच्छे मुंडा |
| स्त्रीलिङ्ग— | अच्छी कुड़ी | अच्छियाँ कुड़ियाँ | अच्छी कुड़ी | अच्छिआं (याँ) कुड़िया |

आकारान्त मराठी भाषा

| | ऋजु रूप एकवचन | ऋजु रूप बहुवचन | तिर्यक रूप एकवचन | तिर्यक रूप बहुवचन |
|---|---|---|---|---|
| पुल्लिङ्ग— | काला घोड़ा | काले घोडे | काल्या घोड्या | काल्या घोड्या |
| स्त्रीलिङ्ग— | काली घोड़ी | काली घोड्या | काली घोड़ी | काली घोड्या |

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि आकारांत प्रधान भाषाओं के विशेषण शब्द (केवल आकारांत) विशेष्य के लिङ्ग और वचन के अनुसार चलते हैं पर तिर्यक रूप के बहुवचन में विशेषण शब्द विशेष्य की प्रणाली से नहीं चलकर तिर्यक रूप के एकवचन में ही रहता है, अथवा यों कहिए कि ऋजु रूप के बहुवचन की स्थिति में ही रहता है। स्त्रीलिङ्ग में विशेषण सर्वत्र वचन की दृष्टि से एकरूप रहता है केवल पंजाबी भाषा को छोड़ कर।

ओ/ओकारांत भाषाएं (मारवाड़ी)

| | ऋजु रूप एकवचन | ऋजु रूप बहुवचन | तिर्यक रूप एकवचन | तिर्यक रूप बहुवचन |
|---|---|---|---|---|
| पुल्लिङ्ग— | भलो छोरो | भला छोरा | भला छोरा | भला छोरां |
| स्त्रीलिङ्ग— | भली छोरी | भली छोर्यां | भली छोरी | भली छोरयां |

---

[3] डॉ उदयनारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृ० ४३२।

ब्रजभाषा

| | ऋजु रूप | ऋजु रूप | तिर्यक रूप | तिर्यक रूप |
|---|---|---|---|---|
| | एकवचन | बहुवचन | एकवचन | बहुवचन |
| पुल्लिङ्ग— | अच्छौ/छा | अच्छे | अच्छे | अच्छे |
| | पामरौ/रो | पामरे | पामरे | पामरे न् |
| स्त्रीलिङ्ग— | अच्छी | अच्छी | अच्छी | अच्छी |
| | पामरी | पामरी | पामरी | पामरिन/रीन् |

गुजराती

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| पुल्लिङ्ग— | सारो छोकरो | सारा छोकरा | सारा छोकरा | सारा छोकराओ |
| स्त्रीलिङ्ग— | सारी छोकरी | सारी छोकरीओ | सारी छोकरी | सारी छोकरीओ |

उपर्युक्त उदाहरणो मे भी आकारान्त प्रधान भाषाओ की प्रणाली का ही अनुगमन किया गया है। आकारान्त विशेषणो के अतिरिक्त सभी विशेषण शब्द हिन्दी मे एक रूप रहते हैं विशेष्य के लिङ्ग और वचन के अनुसार परिवर्तित नही होते, यथा—सुन्दर बालक, सुन्दर बालिका सुन्दर बालक। सुन्दर बालिकाओ/बालिकाएँ आदि। संस्कृत भाषा के अनुकरण पर तथा सौन्दर्य की दृष्टि से कही कही मतुप्, इन, विन् वत ईयस तथा मय आदि प्रत्ययान्त तत्सम विशेषण शब्द अपने विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार' बदल जाते हैं यथा— मनोहारी पुरुष और मनोहारिणी स्त्री बलवान भाव और बलवती इच्छा आदि किन्तु हिन्दी म इसके लिए कट्टरता नही बरती जाती, यथा— राम विद्यार्थी है और सीता विद्यार्थी है राम धनी पुरुष है और सीता धनी स्त्री है आदि।

संख्यावाचक विशेषण—संख्यावाचक विशेषणो म ग्यारह, बारह तेरह और पन्द्रह को छोडकर सभी संख्यावाचक शब्दो की उत्पत्ति संस्कृत संख्याओ से सम्पन्न हो जाती है। यद्यपि उक्त तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति भी विद्वान् लोग संस्कृत एकादश, द्वादश और त्रयोदश से ही करते हैं तो भी उनका 'र की व्युत्पत्ति के लिए दिया गया तर्क गले नही उतरता। कुछ लोग द के लिए र्' का आदेश बताते हैं कुछ लोग द का लोप कर र' का आगम करते हैं पर यह क्लिष्ट कल्पना ही है, क्योंकि द्' को ड का आदेश तो प्राकृतो म मिलता है पर द को र् का आदेश केवल इन तीन स्थलो को छोडकर कहीं नही मिलता। पाली भाषा म हम देखते हैं कि उसके ध्वनि नियम के अनुसार 'द्वादश का 'दुवादस तो मिलता ही है साथ ही बारस भी मिलता है यह रूप एकाएक कहाँ म आ गया ? विचारणीय विषय है और स्मरणीय बात यह है कि आगे की भाषाओ ने इसी रूप को सर्वाधिक मात्रा म अपनाया भी है। इसी आधार पर ग्यारह और तेरह का भी रूप निर्धारित हुआ ज्ञात होता है। उक्त व्युत्पत्ति म श का ह तो जचता है पर द् का 'र बिल्कुल समझ म नही

जाता। हा 'त' के साथ 'र' आगम (मुख्यतया और सम्भवत 'श्र' के मिथ्या सादृश्य के आधार पर) के उदाहरण मध्यकालीन राजस्थानी मे बहुतायत से मिलते हैं। अत बहुत सम्भव है कि त के साथ र के आगम की प्रवृत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओ की किसी बोली विशेष मे रही हो और उस बोली म सर्वप्रथम 'सप्तदश' के स्थान पर 'सत्तरह' का प्रयोग प्रारम्भ हुआ हो और फिर अन्य ये चार शब्द भी वही से आ गए हो, पर इसमे 'चौदह' की समस्या बनी रह जाती है। अत इस पर कुछ अधिक सूक्ष्मता और तुलनात्मक शैली से अध्ययन की आवश्यकता है। शेष शब्द निम्न प्रकार से व्युत्पन्न हैं—

| हिन्दी | म० भा० आ० | प्रा० भा० आ० |
|---|---|---|
| एक | एक्क | एक |
| दो | दु[10] (द्वि पालि) | द्वि |
| तीन | तिणि | त्रीणि |
| चार | चत्तारो/चत्तारि | चत्वारि |
| पाँच | पंच | पञ्च |
| छ | छह | षट (षष) |
| सात | सत्त | सप्त |
| आठ | अट्ठ | अष्ट |
| नौ | नउ | नव |
| दस | दस | दश |
| बीस | वीसअ/वीसइ | विंश |
| तीस | तीसअ | त्रिंशत |
| चालीस | चत्तालीसा | चत्वारिंशत |
| पचास | पचासा | पञ्चाशत |
| साठ | सट्ठि | षष्टि |
| सत्तर | सत्तरि | सप्तति |
| अस्सी | असीइ | अशीति |
| नब्बे | नवए | नवति |
| सौ | सउ | शतम |
| लाख | लक्ख | लक्ष |
| करोड | कोडि | कोटि |
| अरब | × | अर्बुद |
| खरब | × | खर्व |

[10] हेमचन्द्र कृत हेम शब्दानुशासन ३/६४।

(ख) क्रमवाचक विशेषण—क्रमवाचक बनाने के लिए प्रथम में 'ला', द्वितीय, तृतीय में 'सरा', चतुर्थ में 'था', छठे में 'आ' और शेष सब में 'वाँ' प्रत्यय लगाये जाते हैं। 'ला' की व्युत्पत्ति सदिग्ध है, 'सर' 'सृत' से, 'आ' 'अ' से 'वाँ' संस्कृत 'म' से अ के स्थान पर 'आँ' बढाकर व्युत्पन्न किये जाते हैं।

(ग) समानुपाती संख्यावाचक—इन विशेषण शब्दों के साथ प्राय 'गुना' शब्द जोडकर निष्पन्न कर लिया जाता है, यथा—दुगुना तिगुना, दसगुना आदि। गुना शब्द संस्कृत गुणक > (म भा आ) गुणअ > (हि) गुना से व्युत्पन्न हुआ है।

सार्वनामिक विशेषण—सार्वनामिक विशेषण वे शब्द होते हैं जिनका मूल सर्वनाम शब्दों में निहित होता है। ये दो प्रकार के होते हैं—(१) गुणवाचक (२) अनिश्चित संख्यावाचक, जो गणना और परिमाण दोनों में प्रयुक्त हो सकते हैं। डा उदयनारायण तिवारी का इन्हें केवल परिमाणवाचक कहना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि 'इतना दूध' कह सकते हैं तो 'इतने लडके' भी कहा जा सकता है।

(क) गुणवाचक सार्वनामिक विशेषण—गुण को व्यक्त करने वाले सार्वनामिक विशेषण शब्द हिन्दी में लगभग पाँच हैं—(१) ऐसा (२) कैसा (३) वैसा (४) तैसा और (५) जैसा।

व्युत्पत्ति

(१) ऐसा—ऐसा शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत एतादृशक से हुई है यथा—(स) एतादृशक > (म भा आ) एद्दसअ > (अप) अइसअ > (हि) ऐसा।

(२) कैसा—(स) कीदृशक > (प्रा) कइसअ (अप) कइसअ > (हि) कैसा।

(३) वैसा—(स) ओतादृशक > (म भा आ) वइसअ > (हि) वैसा।

(४) तैसा—(स) तादृशक > (म भा आ) तइसअ > (हि) तैसा।

(५) जैसा—(स) यादृशक > (म भा आ) जइसअ > (हि) जैसा

(ख) अनिश्चित संख्यावाचक सार्वनामिक विशेषण—ये शब्द गणना परिमाण को सूचित करते हैं जिनकी संख्या निश्चित नहीं है। ये भी संख्या में पाँच ही हैं। इनका रूप 'ता' अन्त वाला है पर हिन्दी में 'ना' प्रत्यय[11] और जोड देने में इनके रूप—(१) इतना (२) उतना (३) जितना (४) कितना (५) तितना (यह शब्द साहित्यिक हिन्दी में प्रयुक्त नहीं होता) बन जाते हैं।

---

[11] 'ना' प्रत्यय को बीम्स ने न्यूनतावाचक प्रत्यय माना है पर यह अपना अर्थ खो बैठा है। [डा उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृष्ठ ४२७ के अनुसार]।

(१) इतना—(सं.) इयत्तक >(म. भा. आ.) एत्तिअ>(हिंदी) इत्ता+ना=इतना।

(२) उतना—(सं.) उयत्तक >(म. भा. आ.) उत्तिअ>(हिंदी) उत्ता+ना=उतना।

(३) जितना—(म. भा. आ.) जेत्तिअ>(हिं.) जित्ता+ना जितना। पिशल ने इसके लिए 'यमत्तक' शब्द की संस्कृत भाषा में होने की कल्पना की है।[12]

(४) कितना—(सं.) कियत्तक >(म. भा. आ.) केत्तिअ>(हिं.) कित्ता+ना=कितना।

(५) तितना—(सं.) तित्तक (कल्पित)>(म. भा. आ.) तेत्तिअ> (हिं.) तित्ता+ना=तितना।

आख्यात—आख्यात के मूल रूप को धातु कहते हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में दो प्रकार की धातुएँ उपलब्ध होती हैं—(१) सिद्ध धातुएँ अर्थात् मूल धातुएँ, (२) साधित/साध्य धातुएँ अर्थात् प्रत्यय इत्यादि लगाकर बनाई गई धातुएँ। सिद्ध धातुओं के अन्तर्गत संस्कृत में भाषा की अकर्मक, सकर्मक तथा द्विकर्मक धातुएं आती हैं। संस्कृत में धातुएँ मूलतः अकर्मक, यथा—हस्, स्वप्, विश, चल आदि। सकर्मक, यथा—खाद, कृ, क्री, तन् आदि तथा द्विकर्मक, यथा—दुह्, चि, ब्रू, शास आदि होती हैं। इनमें कोई भी प्रत्यय लगाकर सकर्मक अथवा द्विकर्मक बनाने की प्रणाली संस्कृत में नहीं है। साधित धातुओं से तात्पर्य है किसी सिद्ध धातु या नाम के साथ प्रत्यय आदि जोड़कर भिन्नार्थक धातु का निर्माण करना, यथा—प्रेरणार्थक सन्नन्त तथा यङलुगन्त आदि।

हिन्दी भाषा में इस प्रक्रिया को कुछ परिवर्तित कर दिया दिखाई देता है। अनेक विद्वानों—हार्नले, ग्रियर्सन, डा. चाटुर्ज्या, डा. तिवारी तथा डा. सरनाम सिंह ने हिन्दी धातुओं को भी दो भागों में ही विभाजित किया है—(१) सिद्ध धातुएँ, (२) साधित धातुएँ। डॉ. उदयनारायण तिवारी ने इनका विवरण निम्न प्रकार से दिया है—

वर्गीकरण

(१) सिद्ध धातुएँ

(१) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध धातुएँ—(क) साधारण धातुएँ (ख) उपसर्गयुक्त धातुएँ।

---

[12] पिशल—प्राकृत व्याकरण, नियम सं. १४५, अनुवादक हेमचन्द्र जोशी डी. लिट.। पिशल ने अनेक काल्पनिक शब्दों से विकास दिखलाया है। जैसे—उपर्युक्त 'योत्तक' संस्कृत में नहीं मिलता। इसी प्रकार अन्य शब्द (उयत्तक) भी दर्शनीय है।

(२) संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध धातुएँ।
(३) संस्कृत से पुनः व्यवहृत तत्सम और अर्धतत्सम धातुएँ।
(४) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली देशी धातुएँ।

(२) साधित धातुएँ

(१) आकारान्त णिजन्त (प्रेरणार्थक)
(क) तद्भव—(१) प्राचीन (उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त)।
(२) नवीन (पुराना तथा आधुनिक हिन्दी में बनी हुई)।

(२) नामधातु—
(ख) तत्सम
(ग) तद्भव।

(३) मिश्रित अथवा संयुक्त एवं प्रत्यय युक्त (तद्भव)।
(४) ध्वन्यात्मक अथवा अनुकार ध्वनिज धातुएं।
(५) संदिग्ध व्युत्पत्ति की धातुएँ।

उपर्युक्त वर्गीकरण यद्यपि सर्वमान्य सा हो गया है तथापि इसमें एक कमी दृष्टिगत होती है। जैसा कि संस्कृत धातुओं के विभाजन में निवेदन किया गया है कि संस्कृत भाषा में सकर्मक और द्विकर्मक धातुएँ सिद्ध धातुएं हैं वहाँ इनके लिए साधित प्रणाली का प्रावधान नहीं है। कारण स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति ही ऐसी है। हिन्दी भाषा में अकर्मक धातुओं को सकर्मक बनाया जाता है तथा सकर्मक को द्विकर्मक। अतः साधित धातुओं में उक्त धातुओं का प्रावधान भी होना चाहिये। उदाहरण के द्वारा इन्हें यों स्पष्ट किया जा सकता है—हिन्दी में 'हँस' अकर्मक धातु है इसका सकर्मक रूप बनेगा 'हँसा' यथा—(१) बच्चा हँसता है। (२) माँ बच्चे को हँसाती है। श्री किशोरीदास वाजपेयी इसे द्विकर्तृ अथवा प्रेरणा कहते हैं और (३) माँ बच्चे को नौकर से हँसवाती है' को कहेंगे प्रेरणा की प्रेरणा। यदि कोई कहे 'हँसवावती है' तो इसे वाजपेयी जी कहेंगे प्रेरणा की प्रेरणा की प्रेरणा और इस प्रकार इस प्रेरणा का कोई अन्त न होगा। यहाँ वाक्य नं० २ में वक्ता का अभिप्राय 'हँसने' में कर्तृत्व को बताना नहीं है, अपितु 'हँसाने' का कर्तृत्व बताने की अभिलाषा है। फलतः कर्ता माँ होगी न कि बच्चा। जब कि वाजपेयीजी 'माँ' को गौण कर्ता का स्थान देते हैं। इसका एक मात्र कारण वाजपेयी जी की दृष्टि का सिद्ध धातु पर टिके रहना ही है। वस्तुतः 'प्रेरणा' में किसी से काम करवाने की इच्छा मात्र निहित होती है और वह प्रेरक कर्ता केवल प्रेरणा का काम मात्र करता है और मूल क्रिया से सर्वथा असंस्पृक्त हो जाता है, जबकि सकर्मक प्रयोग में वह किसी न किसी रूप में क्रिया के साथ

सम्पृक्त रहता है। उदाहरण से इसे यों समझा जा सकता है—'राम रोता है' का अर्थ होगा कि उसकी आँखों में से आँसू आ रहे हैं अथवा उसका मुख ऐसा बना हुआ है जिससे लगता है कि वह रोने की क्रिया कर रहा है। इसमें कर्ता 'राम' है। अब मान लीजिए कि एक बच्चा माँ को शिकायत कर रहा है 'अशोक पप्पू को रुलाता है' तो उक्त वाक्य में बच्चा माँ को यह बताने में इतना उत्सुक नहीं है कि 'पप्पू रो रहा है' बल्कि यह बताने में अधिक उत्कट है कि 'अशोक' 'पप्पू' को किन्हीं चेष्टाओं के द्वारा रोने के लिए बाध्य कर रहा है। अतः 'अशोक' का कर्तृत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। अब प्रश्न यह शेष रह जाता है कि 'पप्पू' को क्या मानें? क्या यह विशुद्ध कर्म है? वास्तव में 'पप्पू' विशुद्ध कर्म है। रुलाने का फल 'पप्पू' को ही मिल रहा है। अस्तु, उपर्युक्त वर्गीकरण में इतना संशोधन अपेक्षित कि आकारान्त अकर्मक से बनी सकर्मक धातुएँ तथा सकर्मक से बनी द्विकर्मक धातुएँ भी साधित धातुओं में सम्मिलित की जानी चाहियें और प्रेरणार्थक धातुओं को उपरिकथित सकर्मक द्विकर्मक आदि धातुओं से अन्तर स्पष्ट करने के लिए 'अव/अवा प्रत्ययान्त धातुएँ' कहना चाहिये न कि आकारान्त णिजन्त।

**(१) सिद्ध धातुएँ**[13]—वे अकर्मक सकर्मक एवं द्विकर्मक धातुएँ जो अपने मूल रूप में प्रयुक्त होती हैं सिद्ध धातुएँ कहलाती हैं। इन्हें पूर्व पृष्ठों* में पाँच भागों में विभाजित किया गया है—

(१) साधारण तद्भव सिद्ध धातुएँ—√काप √काढ √गल √चल √चाट √कह आदि।

(२) उपसर्ग युक्त सिद्ध धातुएँ—√उपज √उजड √उतर √निरख √परख √पखाल आदि।

(३) णिजन्त में आई सिद्ध धातुएँ—√मार √उखाड √तार √ताप √पसार, √हार आदि।

(४) अर्धतत्सम शब्दों से आई हुई—√गरज √अरज √तज √दुह √रच आदि।

(५) संदिग्ध व्युत्पत्तिवाली धातुएँ—√टोह, √टोक √लोट √लड, √फडक आदि।

**(२) साधित धातुएँ**—सिद्ध धातुओं तथा नाम आदि के साथ प्रत्यय लगाकर जिन धातुओं का निर्माण किया जाता है उन्हें साधित धातुएँ कहा

---

[13] विस्तार के लिए देखें—हार्नले कृत हिन्दी धातुएँ और डा. उदयनारायण कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृष्ठ ४६७ से ४७२ तक।

* वर्गीकरण—उदयनारायण तिवारी द्वारा प्रदत्त।

जाता है। हिन्दी मे साधित धातुएँ क्रमश इस प्रकार विवेचित की जा सकती हैं।

(१) आकारान्त सकर्मक और द्विकर्मक तथा प्रेरणार्थक धातुएँ—हिन्दी मे अकर्मक धातुओं और सकर्मक धातुओं को क्रमश सकर्मक, द्विकर्मक और प्रेरणार्थक बनाया जाता है। इसके लिए मूल धातु के साथ आ तथा वा प्रत्यय लगाये जाते हैं। 'आ तथा वा' प्रत्ययों का विकास संस्कृत के णिजन्त रूप से हुआ ज्ञात होता है। डा उदयनारायण तिवारी[14] और डा सरनामसिंह शर्मा ने[15] णिजन्त धातुओं मे आय प्रत्यय की बात कही है पर संस्कृत के णिजन्त मे 'आय्' प्रत्यय कहीं पर भी दृष्टिगत नही होता। संस्कृत मे णिच् के ण और च का लोप होकर इ बचता है और प्रत्यय के बाद भ्वादि गण के अ' विकरण को रखा जाता है और इ को गुण (ए) हो जाता है। आगे पड़े हुए अ के कारण ए को अय हो जाता है और इस प्रकार णिच् का अय रूप होता है, पर आय कदापि नही। विद्वानों का आय का भ्रम सम्भवत बहुत सी धातुओं मे आद्य अक्षर मे आ होने के कारण अथवा आद्य अक्षर के अ को आ कर देने के कारण हुआ लगता है पर संस्कृत मे आद्य' अक्षर के अ को हुए आ के और अय प्रत्यय के बीच मे कोई न कोई स्वर या व्यञ्जन अवश्य रहता है जहाँ आ के पश्चात एकदम अय प्रत्यय आ भी जाता है वहाँ संस्कृत की प्रकृति के अनुसार प या ल का आगम हो जाता है। अत यह प्रश्न पूर्णत विचारणीय है तथा मननीय भी। इसे उदाहरणों से यों स्पष्ट किया जा सकता है—

(क) जहाँ आद्य अक्षर के 'अ को आ कर दिया जाता है—√वद्+णिच=√वादय √सद+णिच=√सादय √अद + णिच्=आदय् √तड्+णिच√ताडय आदि।

(ख) जहाँ 'अ को आ' नही होता—√रक्ष+णिच=√रक्षय √कथ+णिच=√कथय √भक्ष+णिच्=√भक्षय √गम+णिच गमय।

(ग) आद्य अक्षर मे 'आ अथवा ऐ होने पर जबकि धातु ■ केवल एक व्यञ्जन या संयुक्त व्यञ्जन के साथ उक्त स्वर हो यथा—दा पा, ग्लै आदि। इनमे 'प् या ल् का आगम होता है, यथा—

---

[14] उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृष्ठ ४७३ (द्वितीय संस्करण)।

[15] डॉ सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' कृत हिन्दी भाषा रूप विकास पृष्ठ ३२४।

'प —√स्था+णिच=√स्थापय √ना+णिच=ज्ञापय√दा+णिच=√दापय, √पा (पीना)+णिच=√पायय।

'ल'—√पा+णिच=पालय

सस्कृत भाषा म सामा यत यह भी देखा जाता है कि धातु क साथ णिच प्रत्यय लगाने पर आद्य अक्षर को 'इ को 'ए , ई' का आय, 'उ' को ओ' तथा आव, ऋ को 'अर' और 'आर ए' को 'आ' हो जाता है। (आ हो जान से प का आगम हो जाता है।) कुछ धातुओ को इ, ई को भी आ हो जाता है और फिर 'प का आगम। कही-कही उ को 'ऊ भी होता है। यथा—

इ को ए'—√इप+णिच=√एपय √क्लिश+णिच=√क्लेशय √क्षिप्+णिच=√क्षेपय।

ई को आय—√नी+णिच+√नायय, √शी+णिच=√शायय √भी+णिच=√भायय।

'उ को ओ—√चुर+णिच=√चोरय √मुद+णिच√मोदय, √मुप+णिच=√मोपय √युज+णिच=√योजय।

उ को आव—√द्रु+णिच=√द्रावय √स्तु+णिच=स्तावय √श्रु+णिच√श्रावय √सु+णिच=√सावय।

ऋ को अर/आर—√वृध+णिच=√वर्धय वृत+णिच=√वर्तय √भृ+णिच√भारय √कृ+णिच=कारय।

ऐ को आ(+प)—√ग्लै+णिच=√ग्लापय, √गै+णिच=√गापय √म्ल+णिच=√म्लापय √ध्यै+णिच=√ध्यापय।

इ ई' को आ—√जी+णिच=√जापय √क्री+णिच=√क्रापय √अधि+इ+णिच=√अध्यापय।

'उ को ऊ —√गुह +णिच=√गूहय।

उपर्युक्त उदाहरणो का अध्ययन करन पर एक बात पूर्णत स्पष्ट हो जाती है कि सस्कृत भाषा में धातु को णिजन्त बनाते समय आ ध्वनि का बहुत बडा योग रहता है। किसी न किसी रास्ते से जसे-तसे करके अधिकाश णिज त धातुओ के आद्य अक्षर म आ' आ ही जाता है और आ के आने पर अथवा पूर्वस्थिति आ' के कारण प का आगम भी हो जाता है। इस प्रकार आ अकेले और आप ने आधुनिक भारतीय आय भाषाओ मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यदि यह कहा जाय कि इनका प्रभाव इतना बढ गया कि मुख्य प्रत्यय 'अय को भी मुह की खानी पडी और मध्यकाल में हो णिज त धातुओ म आव या अव का प्रयोग प्रारम्भ हो गया जो 'आप' का स्पष्टत विकसित रूप ही कहा जा सकता है जो आज तक हिन्दी भाषा म सुरक्षित है

तथा इसका प्रयोग 'णिच्' प्रत्यय के स्थान पर धड़ल्ले से होने लगा। भाषा वैज्ञानिक विकास को दृष्टि में रखते हुए 'आव' का विकास 'अय्' की अपेक्षा 'आप' से अधिक सटीक बैठता है। हिन्दी में यह स्थिति दो रूपों में आई—एक स्वतन्त्र 'आ' के रूप में और दूसरी 'आव' के रूप में। 'आ' ने अकर्मक धातुओं को सकर्मक बनाया और सकर्मक धातुओं को द्विकर्मक तथा 'आव' ने प्रेरणार्थक क्रियाओं का निर्माण किया। प्राकृतों का यह 'आव' स्थान विपर्यय से 'अवा' हो जाता है तथा ग्रामीण प्रयोगों में 'आव' भी मिलता है। इसकी व्याख्या यों भी कर सकते हैं कि 'आव्' के 'आ' का लोप होकर पूर्व प्रत्यय 'आ' आगे आ बैठा और इस प्रकार दो प्रत्ययों से प्रेरणार्थक का निर्माण हुआ। इनमें प्रथम व्याख्या ही अधिक ठीक लगती है, क्योंकि भाषाओं में इस प्रकार का विकास क्रम अन्य स्थानों पर भी देखने को मिलता है। विकास का एक रूप हिन्दी में यह भी है जिसका संकेत पहले दिया जा चुका है कि संस्कृत में यह 'आगम' धातु के कलेवर में होता था और हिन्दी में यह धातु के अन्त में लगाया जाता है। इसीलिए संस्कृत के इस 'आगम' को प्रत्यय की संज्ञा दी गई है। 'ल' की स्थिति हिन्दी में भी संस्कृत के समान ही है। वहाँ भी इसका आगम होता था और हिन्दी में भी कुछ धातुओं में इसका आगम ही होता है, जैसे √खा+आ=√खिला √नहा+आ=√नहला √दे+आ=√दिला आदि।

इस विषय में एक बात और कहनी है कि हिन्दी में प्रेरणार्थक धातु बनाते समय आद्य व्यञ्जन में स्वर का विकास संस्कृत से बिल्कुल विपरीत दिशा में होता है। उपर्युक्त उदाहरणों में आप देखेंगे कि संस्कृत में 'इ' को 'ए' और 'उ' को 'ओ' तथा 'इ' को 'आ' होता है पर हिन्दी में 'ए' को 'इ' 'ओ' को 'उ' और 'आ' को 'इ' किया जाता है—

ए को इ—√भेज+वा=√भिजवा (ग्रा० भिजाव) √दे+वा ('ल' का आगम)=√दिलवा।

ओ को उ—√रो+वा=√रुलवा √फोड़+वा=√फुड़वा √रोद्+वा=√रुदवा।

आ को इ—√खा+वा ('ल' का आगम)=√खिलवा।

संक्षेप में कह सकते हैं कि संस्कृत की प्रकृति ह्रस्व को दीर्घ करने की थी और हिन्दी की प्रवृत्ति दीर्घ को ह्रस्व कर देने की ओर है, यथा √नहा+वा=√नहलवा आदि।

(२) नामधातु—संज्ञाओं एवं क्रियामूलक विशेषणों के साथ जब धातुमूलक प्रत्यय लगाकर उनका क्रियाओं की तरह प्रयोग किया जाता है, तब उन क्रियाओं के मूल रूप को धातु कहा जाता है। (१) कुछ तो मध्यकालीन

भारतीय आर्यभाषाओं से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हैं, यथा—बैठना (उपविष्ट), पीटना (पिष्ट), काटना (कृष्ट) आदि प्राकृतों से मिली हुई हैं।

(२) नवीन नामधातुओं का निर्माण—हिन्दी नवीन नामधातुओं का निर्माण संस्कृत के दो प्रत्ययों के आधार पर हुआ है। संस्कृत में नामधातु बनाने के लिए अनेक प्रत्ययों का प्रयोग होता था। उनमें से दो को लीजिये—(१) क्यच और (२) णिच। 'क्यच' प्रत्यय की मुख्य विशेषता है कि इसमें केवल 'य' शेष रहता है और जब य प्रत्यय को अकारान्त अथवा आकारान्त नामों के साथ जोड़ा जाता है तब अन्तिम अ/आ के स्थान पर 'ई' हो जाता है। इस प्रकार रूप बनता है—पुत्र+क्यच=पुत्रीय। णिच का आ पहले से ही सुरक्षित था। अतः कहीं अकेले आ से काम लिया गया है और कहीं क्यच्' के 'ईय' को 'इय' बनाकर तथा उसके साथ 'आ' जोड़कर। इस प्रकार नामधातु सर्जक दो प्रत्यय हिन्दी में चलते हैं—(१) आ' और (२) इया।

उपरिकथित, बैठना पीटना आदि मध्यकालीन आर्यभाषाओं से आई हुई उन नामधातुओं को छोड़कर जो हिन्दी में सिद्ध धातुओं जैसी लगती हैं शेष हिन्दी की नामधातुओं का सर्जन इन्हीं प्रत्ययों से हुआ है।

(क) 'आ' प्रत्ययान्त नामधातुएँ—चपत+आ=√चपता(ना) गर्व+आ√गरबा(ना), लहर+आ√लहरा(ना), लोभ+आ√लुभा(ना) आदि।

(ख) 'इया' प्रत्ययान्त नामधातुएँ—लात+इया√लतिया(ना), हाथ+इया=√हथिया(ना) बाथ+इया=√बथिया(ना), साठा+इया=√सठिया(ना) बात+इया=√बतिया(ना)।

(३) तत्सम शब्दों से बनी नामधातुएँ—(स) आकुल+आ=√अकुला (स) आलाप, √अलाप आदि।

(४) विदेशी शब्दों से बनी नामधातुएँ—शर्म+आ√शरमा/शर्मा(ना) गर्म+आ√गर्मा(ना) आदि।

(५) संयुक्त एवं प्रत्यययुक्त धातुएँ—ये वे धातुएँ हैं जो या तो दो धातुओं के मेल से बनी हैं या फिर कोई प्रत्यय उनके साथ जोड़कर निर्मित की गई हैं—

(१) संयुक्त धातुएँ—दो समानार्थी धातुओं ने एक साथ मिलकर एक धातु का रूप धारण कर लिया हो, वहाँ उसे संयुक्त धातु कहा जाता है।

(२) प्रत्यययुक्त धातुएँ—इन धातुओं के साथ कोई न कोई प्रत्यय लगा हुआ मिलता है। इन प्रत्ययों के विकास का अभी पूर्ण ज्ञान नहीं हो सका है। ऐसे प्रत्यय जो हिन्दी धातुओं के साथ मिलते हैं संख्या में पाँच हैं—(१) क (२) ट, (३) ड (४) र और (५) ल।

(१) [illegible]—[illegible] आदि।

(२) [illegible]—[illegible] आदि।

(३) [illegible]—[illegible] आदि।

(४) [illegible]—[illegible] आदि।

(५) [illegible]—[illegible] आदि।

(४) ध्वन्यात्मक धातुएँ—वे धातुएँ जिन्हें वस्तु की ध्वनि को आधार मानकर बना ली गई हों यथा—[illegible] [illegible] [illegible] भिनभिनाना गुनगुनाना आदि।

(५) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएँ—ऐसी धातुएँ जिनका हिन्दी में प्रयोग तो होता है पर उनकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है यथा—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आदि।

प्रयोग—प्रयोग की दृष्टि से क्रियाओं के तीन भेद होते हैं—(१) कर्तरि प्रयोग (२) कर्मणि प्रयोग और (३) भावे प्रयोग।

(१) कर्तरि प्रयोग—कर्तरि प्रयोग से तात्पर्य होता है जहाँ क्रिया का लिङ्ग और वचन कर्ता के अनुसार हो अर्थात् जहाँ पर क्रिया और कर्ता का सीधा सम्बन्ध हो यथा—लड़का जाता है लड़के जाते हैं लड़की जाती है और लड़कियाँ जाती हैं। इन वाक्यों में लगातार क्रिया कर्ता के लिङ्ग और वचन के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। अत यहाँ पर क्रिया का कर्तरि प्रयोग है।

(२) कर्मणि प्रयोग—क्रिया के कर्मणि प्रयोग में क्रिया का लिङ्ग और वचन कर्म के अनुसार होते हैं अर्थात् क्रिया का सीधा सम्बन्ध कर्ता से न होकर कर्म से होता है, यथा—लड़के ने पुस्तक पढ़ी लड़कों ने पुस्तक पढ़ी लड़की ने ग्रन्थ पढ़ा और लड़कियों ने ग्रन्थ पढ़े। इन चार वाक्यों में क्रिया के लिङ्ग, वचन और कर्ता का अनुगमन न करके कर्म का कर रहे हैं। अत यहाँ पर कर्मणि प्रयोग होगा। इन वाक्यों में प्रयुक्त 'ने' परसर्ग मूलत तृतीया का ही सूचक है।

(३) भावे प्रयोग—जिन प्रयोगों में क्रिया, कर्ता और कर्म में से किसी का भी अनुगमन न कर सदा एक रूप रहती है वहाँ क्रिया का भाव प्रयोग कहा जाता है, यथा—लड़के ने लड़कियों को देखा, लड़कों ने लड़की को देखा लड़की ने लड़कों को देखा और लड़कियों ने लड़के को देखा। उक्त चारों वाक्यों में देखा क्रिया सभी अवस्थाओं में एक समान रही है। अत यह क्रिया का भाव प्रयोग कहा जायगा।

वाच्य—हिन्दी में मूलत भूतकाल में वाच्य परिवर्तन होता है, पर उसे हमने कर्मणि प्रयोग में दिखा दिया है। हिन्दी में संस्कृत और अंग्रेजी के अनुसार

वाच्य परिवर्तन होता है। संस्कृत में कर्मवाच्य के लिए धातु में 'य' जोड़ा जाता है। मध्यकाल में यह इय्य बना अपभ्रंश में 'इज्ज' जो राजस्थानी में आज भी 'ईज' के रूप में वर्तमान है। हिन्दी में कर्मवाच्य के लिए 'भूतकालिक कृदन्त' के साथ कालानुसार 'जाना' क्रिया को जोड़ा जाता है : वर्तमानकाल—जाया जाता है रोया जाता है। भूतकाल—रोया गया खाया गया। भविष्यत काल—रोया जायेगा खाया जायेगा आदि।

काल रचना—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में काल तथा प्रकारों की रचना को लकार कहा जाता था। इसे यह नाम वस्तुतः पाणिनि ने दिया था। इससे पूर्व सम्भवतः काल रचना का लकार के नाम से अभिहित नहीं किया जाता था। ये लकार संख्या में दस हैं जिनका प्रयोग तीन कालों (१) भूतकाल, (२) वर्तमानकाल और (३) भविष्यतकाल के लिये और दो प्रकारों—(१) आज्ञार्थक और (२) विध्यर्थक के लिये किया जाता था। आशीर्वाद आदि के लिये आशीर्लिङ लकार का प्रयोग मिलता है। 'लट'[16] लकार का प्रयोग वर्तमानकाल का सूचक है। लङ[17] लुङ[18] और लिट[19] तीनों लकारों का प्रयोग कुछ कुछ भिन्नताओं के साथ भूतकाल के लिये होता है। लुट[20] और लृट[21] भविष्यतकाल के सूचक हैं। लोट[22] आज्ञा, विनय आदि भावप्रकार के लिये प्रयोग में लाया जाता है। लिङ्[23] का प्रयोग विधि निमन्त्रण, आमन्त्रण आदि के भावप्रकार के लिये होता है। आशीर्वाद आदि के लिये आशीर्लिङ[24] का प्रयोग किया जाता है। लृङ[25] क्रिया की अतिपत्ति के लिये काम में लाया जाता है और लेट[26] लकार, इच्छा की तीव्रता के लिए, केवल वेदों में प्रयुक्त हुआ है।[27] इनमें प्रत्येक लकार के तीन पुरुष और प्रत्येक पुरुष के तीन वचन होते हैं। इस प्रकार एक लकार में एक के नौ रूप बनते हैं और इस प्रकार ग्यारहों लकारों के ९९ रूप हो जाते हैं। इन रूपों की रचना के लिए ९ आत्मनेपद के प्रत्ययों और ९ परस्मैपद के प्रत्ययों का विधान है

---

16 वर्तमाने लट् ३/२/१२३। 17 अनद्यतने लङ् ३/२/१११।
18 अद्यतन (भूतार्थे) लुङ्। 19 परोक्षे लिट् ३/२/११५।
20 अनद्यतने लुट् ३/३/१५। 21 लृट् शेषे च ३/३/१३।
22 लोट् च ३/४/१८।
23 विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ३/३/१६१।
24 लिङाशिषि ३/४/११६। 25 लृङ् क्रियातिपत्तौ।
26 लिङर्थे लेट् ३/४/७।
27 लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुङ् लङ् लिटस्तथा।
विध्याशिषोस्तु लिङ्लोटौ—लुट् लृट् लृङ् च भविष्यति॥

जिन्हें तिङ प्रत्यय कहा जाता है। जब धातु के साथ इन प्रत्ययो को जोड दिया जाता है, तब धातु की आख्यात सज्ञा हो जाती है।

तिङन्त कालो के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय आय भाषाओ म कृदन्तकालो का भी प्रचलन था। ये कृदन्तकाल भी भूतकाल, वतमानकाल और भविष्यत् काल का सूचन कराते थ। भूतकाल क लिए 'क्त और क्तवत प्रत्ययों का, वतमान के लिए शतृ और शानच प्रत्ययो का तथा भविष्यत काल के लिए तव्य, अनीय र आदि प्रत्ययों का विधान है। तिङन्त रूपो म वचन और पुरुष का अनुसरण किया जाता है और कृदन्त रूपो म कारक, वचन और लिङ्ग के अनुसार क्रिया के रूप की रचना होती है यथा—स गत, सा गता, ते गता ता गता आदि।

मध्यकालीन भारतीय आय भाषाओं न भूतकाल के सूचक तिङ' प्रत्ययों का सवथा बहिष्कार कर दिया और भूतकाल का सूचन कृदन्त रूपों स किया जाने लगा। भविष्यतकाल के लिए 'लृट क रूपा को अपनाया और लुट को छुट्टी देदी गई। लेट लकार तो सस्कृत म ही अवकाश ग्रहण कर चुका था और प्रकारो मे भी विधिलिङ का पल्ला हल्का हो चला था अथवा या कहिए कि लोट लिङ् और आशीलिङ आपम म घुलने मिलन लग गए थ। इस प्रकार अपभ्रश काल के अतिम चरण तक केवल तीन ही लकारा की सत्ता अवशिष्ट रह पाई थी। हिन्दी भाषा ने कुछ विशेष विकास का परिचय दिया है। भविष्यत काल के जो स परक या 'ह परक रूप राजस्थानी, ब्रज, अवधी मे अपभ्रश भाषा से ग्रहण कर लिए हिन्दी ने उन्हे भी छोड दिया और अपनी प्रकृति के अनुसार भविष्यतकाल की रचना की। इसके साथ वतमानकाल के सूचन के लिए अपभ्रश ने जिन शतृ आदि प्रत्यया को ग्रहण किया था, हिन्दी भाषा न उन्ह ससम्मान स्वीकार किया और भूतकाल क लिए भी अपभ्रश गृहीत कृदन्त रूपा का ही अपनाया।

उपयुक्त विवेचन से हम यह निष्कष निकाल सकते है कि हिन्दी न काल रचना के लिए परम्परागत तिङ और कृत् दोनो रूपो को अपनाया। इन रूपो के साथ साथ काल रचना का विस्तार हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुसार सहायक क्रियाओ के माध्यम से किया। इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी काल रचना को तीन भागो म विभाजित किया जा सकता है—(१) तिङन्त काल, (२) कृदन्त काल, (३) यौगिक काल अथवा सहायक क्रियाओ से युक्त कृदन्त काल।

इससे पूव कि हम काल रचना विवेचन म प्रविष्ट हो, यह आवश्यक होगा कि हम सहायक क्रियाओ के सम्बन्ध म कुछ विचार विमश कर लें। हिन्दी मे सहायक क्रियाओ का बहुत प्रचलन है। प्राय सभी भाषाओ में सहायक क्रियायें

होती हैं, संस्कृत मे भी हैं पर हिन्दी इस क्षेत्र म इनसे कुछ आगे है। हिन्दी मे दो प्रकार की सहायक क्रियाय, प्रयुक्त होती है। एक तो वे जिन्होने मूल क्रिया के लिए अपना सवस्व त्याग दिया और केवल काल सूचन का भार अपने ऊपर ले लिया। जसे है था, गा आदि और दूसरी वे जो अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं या बनाए रखती हैं और आवश्यकता पडने पर केवल उस प्रयोग विशष मे अपना स्वाथ त्याग भी देती हैं, यथा—जा, आ, सक, चुक, पा आदि। अत इनमे एक तात्त्विक अतर दृष्टिगत होता है। इनके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पहले वग की क्रियाओ को सहायक क्रियायें और दूसरे वग की क्रियाओ को सयोगी क्रियायें कहा जाए तो अधिक उत्तम रहेगा। इसी सिद्धान्त के आधार पर इन पर विचार भी किया जायगा।

वतमानकालिक सहायक क्रिया है की व्युत्पत्ति संस्कृत 'अस्ति' से मानी जाती है। संस्कृत का यह 'अस्ति' शब्द अस' धातु का लट लकार मे बना प्रथम पुरुष का एकवचन है, जिसका प्राकृता मे अत्थि और अपभ्रश मे 'अहि' रूप बनता है। इसी की इ को वद्धि होकर अहै बनता है और अ लोप से हिन्दी है बन जाता है।

(स) अस्ति>(प्रा) अत्थि>(अप) अहि>(आ भा आ) अहइ/अहै>(हि) है।

'हैं'—हिन्दी का बहुवचनान्त रूप है। बहुवचन बनाने के लिए हिन्दी मे अनुस्वार का प्रयोग एक प्रख्यात तथ्य है। अत इसकी उत्पत्ति के लिए प्रा भा आ मे खोजने से कोई लाभ नही है।

हो—मध्यम पुरुष बहुवचन के इस रूप की व्युत्पत्ति भी 'अस' धातु से की जाती है, परन्तु इसका विकास यदि भू धातु म खोजा जाए तो अधिक उत्तम रहेगा। प्राकृत भाषाओ मे 'भवति' का एक रूप होति/होदि भी बनता है और अपभ्रश मे मध्यम पुरुष एकवचन मे होहि' और होइ दो रूप बनते हैं। इसम इ का लोप होकर हो' व्युत्पन्न होता है, यथा—

(स) भवसि>(प्रा) होसि>(अप) होहि/होइ>(हि) हो।

उत्तम पुरुष एकवचन की वतमानकालिक सहायक क्रिया 'हूँ' की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'अस धातु के उत्तम पुरुष के (वतमानकाल) एकवचन रूप अस्मि से की जाती है। 'अस्मि' का प्राकृत मे अम्हि रूप बनता है। इससे हिन्दी का 'हूँ' बन गया पर यह व्युत्पत्ति सदिग्ध है। 'इ' का 'ऊ' बन जाना कुछ समझ म नहीं आता। यदि स्म के साथ इसका सम्बन्ध जोडा जाय, तो हम वस्तुस्थिति के अधिक समीप होंगे। 'स्म' का प्राकृतों मे म्हो बनता है और

अपभ्रंश में नियमानुसार 'म्हुँ' बनेगा, जिसमें 'म' लोप और 'उ' के दीर्घीकरण से हूँ बन जायगा।

(सं) स्म >(प्रा) म्हो >(अप) म्हुँ >(हि) हूँ।

'भूतकालिक सहायक क्रिया 'था' का सम्बन्ध भाषाविद् स्था' से जोड़ते हैं। यह तो सर्वमान्य है कि हिंदी का 'था' किसी कृदन्त क्रिया का विकसित रूप है क्योंकि इसमें लिङ्ग परिवर्तन होता है। अतः इसकी व्युत्पत्ति हमें किसी कृदन्त रूप में ही खोजनी चाहिए, पर 'स्था' तो धातु है इसका कृदन्त (भूतकालिक) रूप बनता है स्थित। इससे था का विकास सिद्ध नहीं होता। कुछ इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'असन्त' से बताते हैं पर 'असन्त' कहाँ से आया इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं है। अतः मेरे विचार से इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'भूत' से माननी चाहिए। हेमचन्द्र शब्दानुशासन २ ६६ के अनुसार प्राकृत में 'भूत' का हुत' तथा हुत्त बनते हैं जिनके अपभ्रंश में हुव/हुअ बनते हैं जिनसे हिन्दी 'हुआ' और 'हुवा' का विकास हुआ है। उधर अपभ्रंश में 'हुत' भी चलता रहा होगा जिसका ब्रजभाषा में 'हुतो' बनता है—'एक हुतो सो गयो स्याम सग को आराधे ईस'। यही 'हुतो' आगे चलकर 'हुतो' (एक व) 'हुता' (बहु व) और 'हुती' स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होने लगा। 'ऊ' का लोप होकर 'अ' का आगम होगया अथवा 'ऊ' को 'अ' का आदेश हो गया। आगे चलकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इसके दो रूप हो गए, यथा—हो हा, ही और ता ता ती। तीसरा रूप 'ह' के प्रभाव के कारण है जो आधुनिक भाषाओं की एक प्रमुख ध्वन्यात्मक विशेषता है—अल्पप्राण + ह = महाप्राण-व्यञ्जनविपर्यय के प्रभाव के साथ साथ 'त' का महाप्राणीकरण होकर 'था' बन गया। बहुवचन और एकवचन का व्यत्यय भी अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की एक विशेषता है। अतः इसका विकास निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है—

(सं) भूत >(प्रा) हुतो >(अप) हुतो >(आ भा आ) हुतो (बहु व) हुता >(हि) था।

भविष्यत्कालिक प्रत्यय अथवा सहायक क्रिया 'गा' की व्युत्पत्ति विद्वान लोग भूतकालिक कृदन्त 'गत' से करते हैं यह भी उचित प्रतीत नहीं होती। इसमें दो आपत्तियाँ आती हैं एक तो भूत और भविष्यत् का क्या सम्बन्ध? क्या ऐसी प्रवृत्ति कहीं भाषा में मिलती है जहाँ भूत का प्रयोग भविष्यत् में किया गया हो? दूसरे गत्यर्थक गम धातु केवल भविष्यवाची प्रत्यय का रूप भाषा के कौनसे स्तर पर धारण करती है स्पष्ट नहीं है। अतः 'गा' की व्युत्पत्ति 'गत' से मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता। अभी तक यह भी स्पष्ट नहीं है कि इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, किन्तु यदि किसी शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट

नहीं है तो इसका तात्पर्य यह भी नही है कि उसकी गलत उत्पत्ति स्वीकार कर ली जाए। हाँ यह एक ध्रुव सत्य है कि हिंदी में भविष्यतकाल का बोध कराने के लिए वतमान इच्छाथक के साथ गा गे, गीं आदि प्रत्यय लगाये जाते हैं।

सहायक क्रियाओ की व्युत्पत्ति पर विचार कर लेने के पश्चात अब हम हिंदी भाषा के काल रूपो की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे। जसाकि बताया जा चुका है, हिंदी मे कालो की रचना तीन प्रकार की पायी जाती है। (१) सस्कृत के तिङन्त रूपो से विकसित काल (२) सस्कृत के कृदन्त रूपो से विकसित काल और (३) सस्कृत के कृदन्त रूपो के साथ सहायक क्रियाओ को लगा कर बनाए गए यौगिक काल।

तिङन्तों से विकसित प्रकार तथा काल—तिङन्त रूपो से अवशिष्ट दो प्रकार के काल हिन्दी भाषा मे उपलब्ध होते हैं एक तो विशुद्ध तिङन्त और दूसरे प्रत्यय सयोगी तिङन्त काल। प्रथम का प्रकार की दृष्टि से तीन भागो म बांटा जा सकता है—(१) निर्देशक (२) इच्छाथक और (३) आज्ञा। निर्देशक और आज्ञा मे केवल वक्ता के कहने के ढग का ही अन्तर हिंदी मे पाया जाता है कोई विकासात्मक अन्तर नहीं है। इनका विकास सस्कृत 'लट लकार के रूपो और मध्यम पुरुष एकवचन का विकास सस्कृत 'लोट् लकार के मध्यम पुरुष एकवचन से सम्पन्न हुआ है। विकासात्मक दृष्टि से इन रूपो को निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है—

| | हिंदी | अपभ्रंश | प्राकृत | संस्कृत |
|---|---|---|---|---|
| | उत्तम पुरुष | उत्तम पुरुष | उत्तम पुरुष | उत्तम पुरुष बहुवचन (लट लकार) |
| एकवचन | चलू | चलहुँ | चलमु | चलाम |
| बहुवचन | चलें | चलइ/चलमि/ चलउँ (बहुवचन) | चलमि(एक व) | चलामि (एकवचन) |
| | मध्यम पुरुष | मध्यम पुरुष | मध्यम पुरुष | मध्यम पुरुष (लोट लकार) |
| एकवचन | चल | चल | चल | चल (लट) |
| बहुवचन | चलो | चलउ/चलहु | चलह | चलथ |
| | अन्य पुरुष | अन्य पुरुष | अन्य पुरुष | अन्य पुरुष (लट लकार) |
| एकवचन | चले | चलइ | चलदि | चलति |
| बहुवचन | चलें | चलइँ/चलहि | चलदि/चलति | चलन्ति |

आदरसूचक आज्ञा का विकास संस्कृत भाषा के विधिलिङ के रूपों से हुआ है। हिन्दी भाषा में इसके रूप केवल मध्यम पुरुष बहुवचन में ही उपलब्ध होते हैं। हिन्दी भाषा में इसका विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के आशीर्लिङ के 'या' प्रत्यय से हुआ है। 'या' का मध्यकालीन भाषाओं में 'एय्य और एज्ज' में विकास हुआ है। अपभ्रंश में यह 'इय तथा इज्ज' में विकसित हो गया था। हिन्दी भाषा में केवल कुछ ही शब्दों में 'ईज' का प्रयोग मिलता है, यथा—कीजिये दीजिये लीजिये और पीजिये। राजस्थानी भाषा में इसका सर्वाधिक प्रचार है। एक बात ध्यान में रखनी है कि 'प्राकृतों में एज्ज' को प्रत्यय न मानकर तिङ प्रत्यय के स्थान पर आदेश विकल्प से माना है। उपर्युक्त शब्दों के अन्त का 'इय' प्रत्यय संस्कृत के कर्मवाच्य के 'य' प्रत्यय से विकसित है। संस्कृत कर्मवाच्य 'य' प्रत्यय प्राकृतों में इय/इय्य/ईय और अपभ्रंश में 'इज्ज' बन गया जो मारवाड़ी, सिंधी आदि में सुरक्षित है। हिन्दी भाषा ने इसके 'इय' रूप को ही सुरक्षित रखा है और इस प्रकार कीजिये आदि शब्दों का 'लट' लकार के विकसित प्रत्यय के योग से निर्माण हो जाता है। हिन्दी में चलिय, करिये बठिये आदि में इसी का योग दृष्टिगत होता है। वसे इन्हें 'आशीर्लिङ' के प्राकृत प्रत्यय 'एय्य+इय' से भी व्युत्पन्न हुआ माना जा सकता है।

प्रकारों के अतिरिक्त वर्तमान इच्छार्थक और वर्तमान आज्ञार्थक कालों की व्युत्पत्ति भी उपर्युक्त प्रणाली से ही हुई है। सम्भाव्य भविष्यत की उत्पत्ति भी संस्कृत 'लट' लकार से ही हुई है। डा॰ देवेन्द्र नाथ शर्मा सम्भाव्य भविष्यत की व्युत्पत्ति संस्कृत के विधिलिङ रूपों से करते हैं। इन का सम्बन्ध हिन्दी के अन्य पुरुष एवं मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष बहुवचन के रूपों के साथ ठीक बठता है पर उत्तम पुरुष एकवचन में फिर वही कठिनाई उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार प्राकृत भाषाओं में भी विधिलिङ के रूप लट लकार के अनुरूप चलने लग गये थे। अतः डा॰ देवेन्द्र नाथ का ए (विधिलिङ की) के प्रति जो मोह है वह निर्मूल सिद्ध हो जाता है। अइ से हिन्दी ए की व्युत्पत्ति अधिक वैज्ञानिक है। अतः मेरी दृष्टि में उक्त शब्द रूपों की व्युत्पत्ति 'लट' लकार के रूपों से ही सम्पन्न हुई है।

सामान्य भविष्यत काल के सूचक हिन्दी रूपों की व्युत्पत्ति वर्तमान आज्ञार्थ के रूपों के साथ गा गे गी आदि प्रत्यय लगा कर की जाती है। अतः इसे भी तिङन्त काल ही कहा जाता है।

कृदन्त काल—संस्कृत के कृदन्त रूपों से हिन्दी में सामान्य भूतकाल और सम्भाव्य भूतकाल के रूपों का विकास हुआ है। सामान्य भूतकाल के रूप संस्कृत के क्तान्त कृदन्त रूपों से विकसित हुए हैं, यथा—

(स) पठित >(म भा आ) पढ़िअ>(हिन्दी) पढा। बहुवचन सूचक प्रत्यय 'ए से 'पढे और स्त्री प्रत्यय ई' के योग से 'पढी' शब्द व्युत्पन्न होते हैं।

सम्भाव्य भूतकाल के रूपो का विकास सस्कृत के 'शतृ' प्रत्ययान्त कृदन्तो के रूपो से हुआ है। सस्कृत मे जब धातु के साथ 'शतृ' प्रत्यय का योग होता है तब 'शतृ का केवल 'अत् शेष रहता है और प्रातिपदिक बनता है 'पठ्+अत्= पठत। इसी रूप के प्रथमा विभक्ति के बहुवचन रूप पठन्त' से हि दी मे पढता बनता है, यथा—(स) पठन्त >(म भा आ) पढन्त>(हि) पढता।

**यौगिक काल**—उपर्युक्त इन रूपो के साथ हिन्दी म विकसित 'है और था तथा इनके विकृत रूपो का पुरुषानुसारी प्रयोग कर हिन्दी के विभिन्न कालो की रचना की जाती है। सामान्य वर्तमान काल के लिए शतृ प्रत्यय से विकसित सम्भाव्य भूतकाल के शब्द पढता' के साथ है हैं, हो हू आदि का प्रयोग होता है यथा—पढता है पढता हूँ आदि। अपूर्ण भूतकाल के लिए उक्त शब्द रूप के साथ 'था थे, थी आदि लगा दिये जाते हैं, यथा—पढता था पढती थी, पढते थे आदि। अपूर्ण भविष्यत्काल अथवा सदिग्ध वर्तमानकाल के लिए सहायक क्रिया के भविष्यतकालीन रूप होगा हूँगा होगे' आदि को सम्भाव्य भूतकाल के रूप के साथ जोड दिया जाता है, यथा—पढता होगा पढता हूँगा आदि। इसी प्रकार सम्भाव्य वर्तमानकाल के लिए सम्भाव्य भूतकाल के रूप के साथ होऊँ, होवे आदि जोड दिये जाते हैं, यथा—पढता होऊँ पढता होवे। आसन्न भूतकाल के लिए उक्त रूप के साथ होता होते आदि जोडे जाते हैं, यथा—पढता होता खेलते होते आदि।

शतृ' प्रत्ययान्त रूपो के साथ जिस प्रकार सहायक क्रियाओ को जोडकर भिन्न भिन्न कालों का बोध करवाया जाता है, ठीक उसी प्रकार सहायक क्रियाओ के उन्ही रूपो को उसी प्रकार 'क्त त प्रत्यय वाले शब्दो से विकसित शब्दों के साथ जोडकर कालो की पूर्णता इत्यादि का द्योतन करवाया जाता है।

सम्भाव्य वर्तमान का बोध कराने वाली सहायक क्रियाएँ सस्कृत 'भू धातु के लट लकार के रूपो से व्युत्पन्न हुई हैं। प्राकृत म भू को हव आदेश हो जाता है और अपभ्रश म हो और इनके साथ लगे तिङ प्रत्ययो के कारण होऊ होवे आदि की उत्पत्ति होती है।

सम्भाव्य भूतकाल की सहायक क्रिया सस्कृत की शत प्रत्ययान्त भू धातु के भवन्त से व्युत्पन्न है, यथा (स) भवन्त >(म भा आ) होतो>(हि) होता।

सम्भाव्य भविष्यत की सहायक क्रियायें सम्भाव्य वर्तमान के क्रिया रूपो के साथ गा गे गी लगाकर निष्पन्न की जाती हैं, यथा—होऊँगा/हूगा होगा होगे आदि।

भविष्यत्काल आज्ञायक का केवल एक ही रूप 'नान्त' मध्यम पुरुष बहुवचन में मिलता है यथा—चलना, पढ़ना खाना आदि। हिंदी क्रिया का औत्सर्गिक रूप ही इसे कहा जा सकता है।

**पूर्वकालिक क्रियाएँ**—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की छान्दस की भाषा में क्रिया के इस रूप को व्यक्त करने के लिए अनेक प्रत्ययों को काम में लाया जाता था। संस्कृत में इसके लिए केवल दो प्रत्ययों—(१) क्त्वा और (२) ल्यप् का ही विधान कर दिया गया और उसमें भी अनुपसर्ग धातु के साथ क्त्वा और उपसर्ग सहित धातु के साथ 'ल्यप्' को निश्चित कर दिया गया। छान्दस में इस प्रकार के नियम का पालन नहीं मिलता। प्राकृतों में उक्त प्रत्ययों के लिए महाराष्ट्री में तुम अत, तूण और तुआण, शौरसेनी में इय और दूण और मागधी अवन्ती में 'तूण' आदेश होने लगे। अपभ्रंश में इसके लिए आठ प्रत्ययों का विधान मिलता है, यथा—इ इउ इवि अवि एप्पि एप्पिणु एवि तथा एविणु। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने इनमें से केवल इ को विशेष महत्त्व दिया। साथ ही क्रिया के मूल रूप का भी प्रयोग इस अर्थ में किया जाने लगा। हिन्दी भाषा ने उपर्युक्त प्रणाली से भिन्न रूप में अपना विकास किया और क्रिया के मूल रूप के साथ 'कर' शब्द जोड़कर इस अर्थ का द्योतन कराने लगी यथा—खाकर जाकर, रहकर आदि। ग्रामीण रूप में इस अर्थ के लिए के का प्रयोग होता है यथा—खा के। हिन्दी के साहित्यिक रूप में भी कर के साथ के का ही प्रयोग किया जाता है। सम्भवतः द्विरुक्ति से बचने के लिए। राजस्थानी में करि मिलता है। कर की व्युत्पत्ति संस्कृत कृत से की जाती है।

**हेत्वर्थ क्रियाएं**—हेतु का बोध कराने के लिए संस्कृत भाषा में तुमुन् प्रत्यय धातु के साथ जोड़ा जाता है। प्राकृतों में इसके लिए अन्य प्रत्ययों के साथ-साथ अण प्रत्यय जोड़ा जाने लगा। अपभ्रंश में यह पर्याप्त मात्रा में लोकप्रिय हुआ। इसके साथ साथ अपभ्रंश में हेतु बोध के लिए, एवं अणह अणहिं एप्पि एप्पिणु एवि और एविणु का विधान मिलता है। इनमें एवि के विकसित रूप को राजस्थानी भाषा ने अपनाया। हिन्दी भाषा ने प्रत्ययों का सहारा छोड़कर क्रिया के औत्सर्गिक रूप के साथ 'के लिए' जोड़कर क्रिया के हेतु का बोध कराना प्रारम्भ किया। हिन्दी की सरलता का यह सर्वोपरि प्रमाण है।

**संयुक्त क्रियापद**—हिन्दी में दो-दो तीन-तीन क्रियाएं एक साथ लाकर

---

डॉ॰ उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृष्ठ ४६८-६३।

भिन्न भिन्न अर्थों का बोध कराया जाता है। विद्वानों ने विकास क्रम की दृष्टि में रखकर इनके पाँच भेद किये हैं—

(१) पूर्वकालिक कृदन्त पदयुक्त, यथा—फाड देना, जा सकना।

(२) आकारान्त क्रिया मूलक विशेष्य पद युक्त, यथा—जाया करना, बजा चाहना, बोला चाहना।

(३) असमापिका पद युक्त, यथा—जाने देना, खाने देना, आदि।

(४) वर्तमानकालिक कृदन्त युक्त—जाता रहना, घटता रहना, आदि।

(५) विशेष्य अथवा विशेषण पद युक्त—भोजन करना, सुख देना, आदि।

अव्यय—संस्कृत भाषा में अव्यय का विधान पाया जाता है। महामुनि यास्क के द्वारा प्रस्थापित उपसर्ग[29] और निपात[30] को पाणिनि ने अव्यय संज्ञा दी है। अव्यय शब्द का निर्वचन विद्वान लोग इस प्रकार करते हैं—नास्ति व्यय = विनाश = विकृतिरस्य, यस्मिन वा तद् अव्ययम्' अर्थात् जिस शब्द में लिङ्ग, वचन और कारक के अनुसार कोई विकृति न हो—प्रत्येक अवस्था में एक रूप रहता हो—उसे अव्यय कहते हैं। इसीलिए प्राचीन दार्शनिकों ने ब्रह्म को अव्यय कहा है। गोपथ ब्राह्मण में ब्रह्म परक स्तुति में 'अव्यय' की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार से की है—

'सदृश त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥'[31]

हिन्दी भाषा में इनका अध्ययन दो वर्गों में विभाजित कर किया जाता है—(१) उपसर्ग और (२) अव्यय। अव्ययों को भी क्रिया विशेषण, सम्बन्ध बोधक, समुच्चय बोधक तथा विस्मयादि बोधक आदि वर्गों में विभाजित किया जाता है। हिन्दी में एक दूसरा प्रकार भी प्रचलित है जिसके अनुसार शब्दों के रूप की दृष्टि से दो भाग किये जाते हैं—(१) विकारी और (२) अविकारी। विकारी के अन्तर्गत, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा क्रिया की गणना की जाती है और अविकारी के अन्तर्गत अव्ययों (उपरिकथित चारों भाग) को लेते हैं। पहले यहाँ हिन्दी उपसर्गों और तत्पश्चात अव्ययों का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपसर्ग—हिन्दी भाषा में विद्वानों ने तीन प्रकार के उपसर्गों को चिह्नित

---

[29] प्रादयः उपसर्गाः क्रियायोगे। पाणिनि अष्टाध्यायी १/४/५८। प्राग्रीश्वरान्निपाताः १/४/५६ तथा चादयो सत्वे १/४/५७।

[30] स्वरादिनिपातमव्ययम् १/१/३६ तथा चादयो सत्वे १/४/५७।

[31] भीमसेन शास्त्री कृत हिन्दी टीका लघुसिद्धान्त कौमुदी पृष्ठ ६३८ से उद्धृत।

किया है, (१) तत्सम, (२) तद्भव और (३) विदेशी। जहाँ तक तत्सम उपसर्गों का सम्बन्ध है ये संस्कृत भाषा से ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिए गए हैं परन्तु उनका प्रयोग भी, कुछ दो उपसर्गों को छोड़कर तत्सम शब्दों के साथ ही किया जाता है। पाणिनि के अनुसार 'प्रादि' शब्दों का प्रयोग, जब क्रिया के साथ किया जाता है तब उनकी उपसर्ग संज्ञा होती है। इसमें यह भी सूचित होता है कि जब ये क्रिया के योग में नहीं आते हैं तब उनकी उपसर्ग संज्ञा नहीं होगी और उपसर्ग संज्ञा नहीं होगी तो उनकी अव्यय संज्ञा भी नहीं होगी और जब अव्यय संज्ञा नहीं होगी तो उनके साथ कारक लिङ्ग, वचन का भी प्रयोग होगा यथा—'वि' प्रादिकों में आता है और क्रिया के साथ योग होने पर यह उपसर्ग बन जायेगा और इससे निपात संज्ञा के कारण अव्यय हो जायगा। तब इसके साथ विभक्ति प्रत्यय नहीं लगेंगे और यह इसी रूप में क्रिया के साथ युक्त हो जायगा, वि+कस+घञ=विकास।

महर्षि पतञ्जलि ने इसमें सुधार कर पाणिनि के उक्त सूत्र के दो भाग कर क्रिया भाव में भी प्रादिकों की निपात संज्ञा की है। अतः प्रादिक निपात संज्ञक होते हैं केवल असत्त्व अर्थ को छोड़कर। जब प्रादिकों में से कोई शब्द द्रव्यार्थ (सत्त्व) देता है तब उसकी निपात संज्ञा नहीं होती है यथा— वि=पक्षी। वि पश्य (पक्षी को देखो) अतः सिद्ध हुआ कि संस्कृत के उक्त प्रादिकों की उपसर्ग संज्ञा क्रिया के ही योग में असत्त्व अर्थ में प्रयुक्त होते समय होती है अन्यथा नहीं। प्रादिक संख्या में २२ हैं। यथा—(१) प्र (२) परा (३) अप (४) सम (५) अनु (६) अव (७) निस (८) निर, (९) दुस (१०) दुर (११) वि (१२) आङ (१३) नि (१४) अधि (१५) अभि (१६) अति, (१७) सु (१८) उत (१९) अभि (२०) प्रति (२१) परि और (२२) उप।

हिन्दी भाषा में भी उपसर्ग की परिभाषा लगभग इसी प्रकार से की जाती है। उपसर्ग उस अक्षर या अक्षर समूह को कहते हैं जो शब्द रचना के निमित्त शब्द के पहले लगाया जाता है।[32] उपसर्ग के साथ यह तथ्य भी जुड़ा हुआ होता है कि वह शब्द के मूल अर्थ में परिवर्तन ला देता है। संस्कृत में इससे सबद्ध तीन मत प्रचलित थे।[33] प्रथम मत के लोग यह मानते थे कि अनेकार्था धातवः के कारण धातु के अनेक अर्थ होते हैं पर उपसर्ग के योग से पूर्व वे गुप्त रहते हैं और उपसर्ग का योग हो जाने पर प्रकाश में आ जाते हैं। वस्तुतः उपसर्ग अपना कोई अर्थ नहीं रखते। दूसरे मत के अनुसार उपसर्ग

---

[32] डा. धीरेन्द्र वर्मा कृत हिन्दी भाषा का इतिहास पृष्ठ २२३।
[33] वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत हिन्दी कोश पृष्ठ २१२।

अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं वे धातुओं के अर्थों मे सुधार करते हैं बढ़ाते हैं और कई उनके अर्थों को बिल्कुल बदल देते हैं। तीसरे मत के अनुसार कुछ उपसर्ग धातु के मूल अर्थ मे बाधा उपस्थित करते हैं, कुछ धातु के अर्थ का ही अनुगमन करते हैं और कुछ अर्थ ही विशिष्ट अर्थ प्रकट कर देते हैं। इन सब को मिलाकर संक्षेप मे कहा जा सकता है कि उपसर्ग शब्द के मूल अर्थ में वैशिष्ट्य लाते हैं और इसीलिए शब्द से पूर्व इनका योग किया भी जाता है।

हिन्दी के तदभव उपसर्ग निम्नलिखित हैं—

'अ'—इस उपसर्ग का विकास संस्कृत 'अ (नञ ) से ही हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि इसका प्रयोग तदभव शब्दों के साथ भी किया जाता है, यथा, अजान।

'औ'—इसका विकास संस्कृत के 'अव उपसर्ग से हुआ है। संस्कृत 'अव प्राकृतो मे अउ और हिन्दी मे 'औ हो जाता है। अर्थ होता है हीन। प्रयोग—औघट औगुन।

'अन'—इसका उदभव संस्कृत 'अन' (नञ ) से हुआ है। संस्कृत भाषा मे स्वरो से पूर्व 'अ' को 'अन आदेश हो जाता है, यथा—अनास्था, अनाथ आदि। इसी अन को स्वरान्त कर हिन्दी मे तदभव की तरह प्रयुक्त किया जाता है और इसका प्रयोग व्यञ्जन से पूर्व भी होने लगा। स्वर के साथ, यथा—अनाड़ी (अनाय) अनाखर (अनक्षर) आदि। व्यञ्जन के साथ यथा—अनहोनी अनसखरी (पवित्र) अनसमझ आदि।

'दु'—दु' उपसर्ग का विकास संस्कृत दुर /दुस' से व्युत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ होता है बुरा'। अभाव अर्थ मे भी इसका प्रयोग होता है। डा धीरेन्द्र वर्मा ने 'दुबला शब्द म दु का बुरे अर्थ मे प्रयोग माना है। मेरे विचार से यहाँ पर इसका अभाव अर्थ म प्रमाण है। जिसमें बल का अभाव हो गया हो, वह है दुबला (स दुर्बलक ) संस्कृत कोश म भी दुर्बल का अर्थ शक्तिहीन या बलहीन दिया है। दुकाल मे इसका प्रयोग बुरे अर्थ म है यथा—बुरा है जो समय वह है 'दुकाल। डॉ धीरेन्द्र वर्मा और डॉ सरनामसिह शर्मा ने दु (दो के अर्थ मे) को उपसर्ग मानते हुए 'दुधारा दुमुहाँ आदि उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। मेरे विचार मे यहाँ 'दु उपसर्ग नही है बल्कि द्विगु समास मूलक बहुव्रीहि समास के लिए प्रयुक्त हुआ है और इसी कारण इसकी अव्यय संज्ञा हो गई है अथवा यों कहिये कि विभक्ति का लोप हो गया है।

'नि'—नि' उपसर्ग का विकास संस्कृत निर से हुआ है। निर युक्त शब्दों मे र का द्वित्व प्राकृतो से ही प्रारम्भ हो गया था और हिन्दी तक आते आते उस द्वित्व हुए व्यञ्जनो मे से र से बने हुए व्यञ्जन का लोप भी

हो गया और इस प्रकार केवल 'नि' ही उपसर्ग रूप में अवशिष्ट रह सका, यथा—निकम्मा, निहत्था, निकासी और निखट्टू, आदि।

'कु'—संस्कृत गत्यर्थक शब्दों में परिगणित उपसर्ग प्रतिरूपक 'कु' से इसका विकास हुआ है। संस्कृत में स्वर सामने आने पर 'कु' को 'कद्' आदेश हो जाता है, यथा—कदाचार। हिन्दी में सर्वत्र 'कु' ही रहता है। 'कु' उपसर्ग का प्रयोग 'बुरा' अर्थ में किया जाता है, यथा—कुचाल, कुपूत, कुजात, आदि।

'स'—संस्कृत 'सु' से हिन्दी के उपसर्ग का विकास हुआ है। इसका प्रयोग 'उत्तम' या 'अच्छे' अर्थ में किया जाता है। कहीं कहीं मूल संस्कृत 'सु' का प्रयोग भी तद्भव शब्दों के साथ उपलब्ध होता है। क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—सकुल, सपूत, सुवस, सुलखी आदि।

उपर्युक्त उपसर्गों के अतिरिक्त डा धीरेन्द्र वर्मा ने[34] बिन भर अध और उन शब्दों को भी उपसर्ग माना है। डा बाहरी ने[35] प्रारम्भ के दो छोड़ दिये हैं। मेरे विचार में ये चारों ही उपसर्ग नहीं हैं अपितु स्वतन्त्र शब्द हैं और समस्त पदों में इनका प्रयोग निपात की तरह होता है। अतः इन्हें उपसर्ग की संज्ञा नहीं देनी चाहिए।

विदेशी उपसर्गों में प्रायः अरबी और फारसी के प्राप्त हैं, पर इनका प्रयोग प्रायः अरबी फारसी शब्दों के ही साथ होता है। ये उपसर्ग हिन्दी की अपनी सम्पत्ति नहीं बन पाये। ये उपसर्ग निम्न हैं—कम, खुश, दर, बद, बा, बे, ला, ना, सर, आदि। इनमें से कुछ का प्रयोग तद्भव शब्दों में प्रचलित हुआ था, पर यह प्रवृत्ति शीघ्र ही बन्द हो गयी। इसका कारण सम्भवतः हिन्दी का संस्कृत भाषा की ओर अधिक झुकाव ही होना है। कुछ स्वतन्त्र शब्द भी हैं, यथा—कम, खुश, बद आदि। मेरे विचार में इन्हें उपसर्ग नहीं माना जाना चाहिए।

**क्रियाविशेषण**—हिन्दी भाषा में कुछ इस प्रकार के शब्द हैं जो क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं। कुछ क्रिया के स्थान, कुछ समय और कुछ रीति आदि का बोध कराते हैं। इनका प्रयोग सर्वत्र अव्यय रूप में होता है। अतः इन्हें अव्यय शीर्षक के अन्तर्गत लिया जाता है। इन शब्दों का विकास प्रायः संस्कृत संज्ञाओं एवं सर्वनामों से हुआ है। विद्वान लोग इन शब्दों को दो भागों में विभक्त करते हैं—(१) संज्ञा पदों से निर्मित क्रिया—विशेषण और (२) सर्वनाम पदों से निर्मित क्रिया विशेषण

---

[34] डा धीरेन्द्र वर्मा कृत हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २२४।

[35] डॉ हरदेव बाहरी कृत हिन्दी उद्भव, विकास और रूप, पृष्ठ १५०।

(१) संज्ञा पदों से निर्मित—संज्ञा पदों से निर्मित क्रिया—विशेषण काल वाची हैं—

(हि ) खण/छन/छिन>(प्राकृत) खण/छण>(स ) क्षण (हि ) समय/ समँ>(म भा आ ) समय>(स ) समय, (हि ) घडी>(म भा आ ) घडिआ >(स ) घटिका (हि ) फुर्ती/ति>(म भा आ ) फुत्ति/फुत्ती>(स ) स्फूर्ति आदि । इन शब्दों के साथ कारक चिह्नों का प्रयोग किया जाता है, यथा— घडी मे, छण मे फुर्ति से आदि ।

(२) सर्वनामजात क्रियाविशेषण—इन क्रिया विशेषणों को पाच भागो मे विभाजित किया जाता है (क) काल वाचक, (ख) स्थान वाचक, (ग) दिशा वाचक (घ) रीति वाचक और (ड) परिमाण वाचक ।

(क) काल वाचक—अब जब, तब कब आदि चार शब्द हैं । इनकी व्युत्पत्ति अभी संदिग्ध है । बीम्स इनकी व्युत्पत्ति 'बेला' शब्द से पूर्व सर्वनाम अग जोडकर करते हैं यथा—एते बेले या एता बेला>अब । आपके अनुसार उडिया का एते बले/एबे आदि शब्द इसके प्रमाण हैं । डा चाटुर्ज्या इसका विकास वदिक एव से जोडते हैं यथा—(वै स ) एव>(स ) एवम>(म भा आ ) एव्व/एव्व>(हि ) अब । डा चाटुर्ज्या वस्तुस्थिति के अधिक समीप प्रतीत होते हैं—

अब—(स ) एव>(म भा आ ) एव>(हि ) अब ।
कब—(स ) कँच (का+एव)>(म भा आ) कवँ>(हि ) कब ।
तब—(स ) ता+एव>(म भा आ ) तेवँ>(हि ) तब ।
जब—(स ) या+एव>(म भा आ ) जेवँ>हि ) जब ।

(ग) स्थान वाचक—यहाँ, वहाँ, कहाँ जहाँ, तहाँ आदि शब्द स्थान वाचक क्रिया विशेषण हैं ।

यहाँ—(स ) एतस्मात>(प्रा ) एअम्हा>(अप ) एअहाँ>(हि ) यहाँ ।
वहाँ—(स ) अमुष्मात>(प्रा ) अउम्हा>(अप ) वहाँ>(हि ) वहाँ ।
कहाँ—(स ) कस्मात>(प्रा ) कम्हा>(अप ) कहाँ>(हि ) कहाँ ।
जहाँ—(स ) यस्मात>(प्रा ) जम्हा>(अप ) जहाँ>(हि ) जहाँ ।
तहाँ—(स ) तस्मात>(प्रा ) तम्हा>(अप ) तहाँ>(हि ) तहाँ ।

जब इन शब्दो का अधिकरण अर्थ मे प्रयोग होता है तब इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत के सर्वनामो के सप्तमी के प्रत्यय स्मिन' से होगी जिनसे हिन्दी मे कहाँ वहाँ आदि का निर्माण होता है । कालान्तर म पचमी के सूचक कहाँ वहा आदि का भी सप्तमी के अर्थ मे प्रयोग होने लग गया दिखाई देता है । इनके साथ स (अपादान कारक सूचक) और म, पर आदि परसर्गों का प्रयोग ही इस बात का प्रमाण है ।

(ग) दिशा वाचक—हिन्दी में दिशावाचक क्रिया विशेषण पाँच हैं, यथा—इधर, उधर, किधर, जिधर तथा तिधर। तिधर के प्रयोग का प्रचलन हिन्दी में नहीं के बराबर है। बीम्स ने इन शब्दों के धर अंश का सम्बन्ध संस्कृत 'मुधर' शब्द के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है जो कि उचित प्रतीत नहीं होता। अब तक उक्त शब्दों की सन्तोषजनक व्युत्पत्ति ज्ञात नहीं हो पायी है।

(घ) रीति वाचक—रीति वाचक क्रिया विशेषण ज्यों, त्यों या क्यों[14] ऐसे, वैसे, जैसे, कैसे तथा तैसे आदि शब्द हैं। इनकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से है—

ऐसे—(सं) ईदृशी>(अप) अइसइ>(हि) ऐसे।
वैसे—(सं) अमुदृशी>(अप) वइसइ>(हि) वैसे।
जैसे—(सं) यादृशी>(अप) जइसइ>(हि) जैसे।
कैसे—(सं) कीदृशी>(अप) कइसइ>(हि) कैसे।
तैसे—(सं) तादृशी>(अप) तइसइ>(हि) तैसे।

(ङ) परिमाण वाचक—परिमाण वाचक क्रिया विशेषण शब्द संख्या में पाँच हैं—इतना, उतना, कितना, जितना, तितना। इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत के मतुप् प्रत्ययान्त सर्वनाम शब्दों से हुई है। इनका विकास विशेषण शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

संस्कृत भाषा के कुछ अव्यय शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी में क्रिया विशेषण की तरह किया जाता है, जो व्युत्पत्ति सहित नीचे दिये जा रहे हैं—

आज—(सं) अद्य>(म भा आ) अज्ज>(हि) आज।
कल—(सं) कल्य>(म भा आ) कल्ल>(हि) कल/काल्हि (पुरा प्र)
परसों—(सं) परश्वस>(म भा आ) परस्सउ>(हि) परसों।
तुरन्त—(सं) त्वरित>(म भा आ) तुरत>(हि) तुरन्त/तुरत।
झट—(सं) झटिति>(हि) झट।
भीतर—(सं) अभ्यन्तर>(म भा आ) भितर>(हि) भीतर।
बाहर—(सं) बहिर्>(म भा आ) बहिर>(हि) बाहिर।
आगे—(सं) अग्रे>(म भा आ) अग्गे>(हि) आगे।
पीछे—(सं) पश्चे>(म भा आ) पच्छे>(हि) पाछ पीछे।
ऊपर—(सं) उपरि>(म भा आ) उप्परि>(हि) ऊपर।
नीचे—(सं) नीचस>(म भा आ) निच्चेइ>(हि) नीचे।

सम्बन्ध वाचक अव्यय—हिन्दी में सम्बन्ध वाचक अव्यय के रूप में,

---

[14] प्रारम्भ के चार शब्दों की व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

'और' एवं 'तथा, कि, मानो, जैसा आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है जिनकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से है—और —(सं) अपर>(म भा आ) अवर> (अप) अउर>(हि) और। (एवं और तथा तत्सम शब्द हैं)।

कि —(सं) किम>(म भा आ) किं>(हि) कि। (फारसी में भी 'कि' मिलता है)।

मानो —(सं) मा यतु>(म भा आ) मण्णउ>(हि) मानो।

जैसा—(सं) यादृशक >(अपभ्रंश) जइसअ>(हि) जैसा।

**समुच्चय बोधक अव्यय[37]**—ये शब्द कुछ विभाजक होते हैं कुछ प्रतिषेधात्मक होते हैं और कुछ परिणामात्मक होते हैं, जिनसे वाक्यों में योग हो जाता है।

(क) विभाजक—हिन्दी में विभाजक के रूप में वा अथवा और या का प्रयोग मिलता है। इनमें से क्रमशः दो तत्सम शब्द हैं और एक फारसी शब्द है। निषेधात्मक शब्द भी विभाजक का कार्य करते हैं। इसके लिए न, नहीं का प्रयोग होता है। न तत्सम शब्द है। नहीं संस्कृत न हि का तद्भव रूप है।

चाहे, तो भी आदि का प्रयोग भी इसी अर्थ में किया जाता है। चाहे— (सं) चक्षते>(म भा आ) चाहइ>(हि) चाहे।

तो भी —(सं) तदपि>(हि) तो भी। (प्राकृत में सम्भवत तउहि)।

**विस्मयादि बोधक अव्यय**—स्थिति विशेष के अनुसार भावों के बोधक शब्द होते हैं। इनमें अधिकांश देशज होते हैं और भावानुसार इनका निर्माण नये सिरे से होता रहता है, यथा—छि छि, हे हा, आदि। कुछ पुराने शब्द का परिवर्तित रूप में भी प्रयोग होता है यथा—ओहो संस्कृत अहो का तद्भव रूप है। 'कांव-कांव भन भन बड बड आदि अनुरणनात्मक शब्द हैं।

---

[37] 'किन्तु परन्तु दोनों ही तत्सम शब्द हैं, पर हिन्दी में इनका प्रयोग स्वच्छन्दता से किया जाता है।

# परिशिष्ट १

## हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों ? (एक विमर्श)

शीर्षक मे विषय-सामग्री उसी प्रकार सन्निहित होती है जिस प्रकार एक सूक्ष्म वटबीज मे विशालकाय बरगद का वृक्ष। अतएव विषय-सामग्री की सुस्पष्ट अभिव्यंजना के लिए उसके शीर्षक का विश्लेषण परमावश्यक हो जाता है। भाषाएं मानवीय चिन्ता अनुभव एव अर्जित ज्ञान की अभिव्यंजिका शक्तिया हुआ करती है। अत भाषा वैज्ञानिक इनकी तुलना भाषा शास्त्रीय कसौटी पर कस कर करता है कलामर्मज्ञ उनका परीक्षण काव्य शास्त्रीय प्रणाली के आधार पर करता है समाज शास्त्री उनमे निहित सामाजिक रीति रिवाजों का अवलोकन कर अपना मत स्थिर करता है और इसी प्रकार विज्ञानवेत्ता उसम उपस्थित वैज्ञानिक चिन्तन को व्यक्त करने वाली सामर्थ्य का नाप-जोख कर उन्हे अपने अध्ययन का विषय बनाता है, किन्तु आज यह विषय जिन परिस्थितियो म आया है इससे इसका सम्बन्ध उपयुक्त बातो से न रहकर कुछ भिन्न हो गया है। आज हमारा विचारणीय पक्ष उपर्युक्त भाषाओ की ज्ञान गरिमा नही, अपितु उनका पद है जिसका विश्लेषण उनमे निहित ज्ञान की सामर्थ्य और उसके उपासको एव व्यवहार कर्ताओ की सख्या के आधार पर किया जाता है और वह पद है भारत जसे विशाल देश की राजभाषा का। अत इसी आधार पर प्रस्तुत विषय का विश्लेषण किया जा रहा है।

भारत एक विशाल देश है। यह अनेक जातियो सम्प्रदायो मतो प्रान्तो एव भाषाओ की सगम भूमि है। इस अकेले देश मे चौदह ऐसी उन्नत भाषाएँ प्रचलित हैं जो अपना अभूतपूर्व साहित्य रखती हैं। जिनम से दस भाषाओ को तो विश्व के किसी राष्ट्र की भाषा के साथ तुलनार्थ उपस्थित किया जा सकता है किन्तु जहाँ यह बात एक ओर गौरव का विषय है वहाँ दूसरी ओर अनेक समस्याओ की प्रदाता भी। इसी कारण से आज राजभाषा के प्रश्न ने एक उग्र रूप धारण कर लिया है।

१५ अगस्त १९४७ से पूर्व जब हम फिरगियो की दासता की शृखलाओ से आबद्ध थे तब हमारी राजभाषा आग्ल भाषा थी और उस समय हम अपने गौराङ्ग महाप्रभुओ की भाषा के अध्ययन और अध्यापन मे एक अभूतपूर्व गौरव का अनुभव करते थे, किन्तु आज स्वतन्त्र होने के पश्चात भी हम कुत्ते की हड्डी की तरह उसका साथ छोडने को तत्पर नही हैं। मैं अंग्रेजी भाषा का विरोधी नही हू विरोधी हूँ उसके उस अधिकारहीन पद का जिसे वह

भारत में प्राप्त किए हुए हैं। किसी भी भाषा का ज्ञान के आधार पर किया गया अध्ययन तो उचित है, किन्तु जब उसके प्रति आसक्ति किन्हीं निहित स्वार्थों के कारण होती है तब वह मानव आत्मा की सबसे गर्हित प्रवृत्ति का द्योतक होती है व उसके कर्तव्य का सूचक होती है। कापुरुषों के चरित्र की यह सबसे बड़ी पहचान होती है कि वह किसी भी कार्य को अपनी आत्मिक शक्ति के उत्थान के लिए नहीं करता, अपितु बलिष्ठ की पूजा के लिए करता है। अंग्रेजी की उपासना हमारी इस प्रवृत्ति का सजीव उदाहरण है। अंग्रेजों को प्रसन्न करने के लिए सात समुद्र पार से आई हुई भाषा को जिसके साथ हमारा कोई भी तथा किसी भी प्रकार का निकटवर्ती लगाव न था उसे हम पढ़ सकते थे, किन्तु राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने वाली अपने ही देश की भाषा को पढ़ना हम अपनी मानहानि समझते हैं, जिसकी विचित्र रूप सज्जा ने भारतीयों में वैमनस्य का बीज वपन कर दिया है।

मैं यह मानता हूँ कि अंग्रेजी एक समृद्ध भाषा है, उसका विपुल साहित्य है तथा वह एक अन्तरराष्ट्रीय भाषा भी है और उसके लिए वह हमारे सम्मान एवं श्रद्धा की पात्री है किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वह हमारी मां का आसन ग्रहण करे। उसकी चकाचौंध में हम अपनी मां की सादगी को भुला दें और यदि हम ऐसा करने का दुस्साहस करते हैं तो यह हमारे देश एवं जाति के लिए अत्यन्त अशोभनीय एवं लज्जाजनक कृत्य है। यदि हमारी माता में कतिपय त्रुटियाँ हैं यदि वह वाङ्मय के कुछ क्षेत्रों को अपने में संजोए हुए नहीं है तो उसके सशक्त एवं प्रतिभाशाली पुत्रों का यह पावन कर्तव्य है कि वे इसकी पूर्ति करें अपने अनथक परिश्रम के द्वारा उसकी ऐसी साज सज्जा करें जिससे उसके सामने आज हमको लुभाने वाली विदेशी भाषा को भी दाँतों तले अंगुली दबानी पड़े। हमें रूस, चीन, फ्रांस जर्मनी के पथ का अनुसरण करना चाहिए न कि लंका और इण्डोनेशिया का। फिर यह भी ध्रुव सत्य है कि जो वास्तविक एवं हार्दिक वात्सल्य हम अपनी मां से प्राप्त कर सकते हैं वह सौतेली मां से नहीं, वह हमारी आँखों को चौंधिया तो सकती है किन्तु हृदय प्रदान नहीं कर सकती। यदि इस चकाचौंध से प्रभावित होकर हम अपनी ही माताओं का तिरस्कार कर बैठते हैं तो निश्चय ही हम कापुरुष हैं क्योंकि हम में अपनी मां के अभावों की क्षति-पूर्ति करने की सामर्थ्य नहीं है। हाँ! अंग्रेजी भाषा को उसकी समृद्धि के आधार पर हम शिक्षिका का पद तो दे सकते हैं किन्तु राष्ट्रभाषा का पवित्र पद जो हमारी अपनी भाषाओं के लिए सुरक्षित है समर्पित नहीं कर सकते और इस प्रकार शिक्षिका का पद तो हम विश्व की किसी भी समृद्ध भाषा को प्रदान करने के लिए तैयार हैं अंग्रेजी को विशेष महत्ता केवल इसलिए प्राप्त है कि वह इस देश में पहले से प्रचलित है।

राजभाषा विधेयक के लिए लचीली नीति का आश्रय तथा आंग्ल भाषा के सदभ म उस पर विचार विमश करना एक ऐसी राजनतिक भूल होगी जो भारत के प्राचीन गणमान्य व्यक्ति अपन खोखले अहं की तुष्टि के लिए या मिथ्या उदारता के नाम पर कर चुके हैं तथा जिनका परिणाम हम आज तक भोग रहे हैं। हाँ भारतीय भाषाओ पर हम एक बार नही, हजार बार विचार करन को तैयार हैं पर उसम देश की एकता का प्रश्न और जनहित की भावना आँखो स ओझल न होन पाए। आंग्ल भाषा को राजभाषा के पद स अपदस्थ करने वाले सघष म हमारे प्रधान मन्त्री को उतनी सुदृढ़ता का परिचय देना चाहिए जितनी सुदृढता का परिचय अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहिम लिंकन ने देश की एकता को खण्डित करन वाले अमेरिका के दक्षिणी राज्य को दिया था। मैं नही समझ पाया कि जिस देश मे एक से एक अधिक गुणागरी, कला-मर्मज्ञा एव ज्ञान-संयुक्ता चौदह माताएं उपस्थित हैं तो इस देश के कतिपय निवासी एक विदेशी मा के प्रति इतने उत्कंठित क्यो हैं? कमाल की बात तो यह है कि वह हमसे चिढ़ती है हमस दूर भागती है और हम उससे चिपकना चाहते हैं। आप इसे चाहे भावुकता ही कहें पर मैं राजस्थान के भू पू राज्यपाल डॉ सम्पूर्णानन्द के साथ अक्षरश सहमत हू। उन्होने कहा था—

'हिन्दी से सबको चिढ है तो किसी दूसरी भारतीय भाषा को उसका स्थान दे दिया जाय, किन्तु अग्रेजी को सर पर ढोना तो डूब मरन के बराबर है। (हिन्दी दिवस के अवसर पर एक विशेष लेख डा सम्पूर्णानन्द। धमयुग १६ सितम्बर, १९६२)

प्राचीन वाङमय उस देश की सामाजिक राजनीतिक एव धार्मिक अनुभूतियो का कोष होता है जो देश उसस लाभ नहीं उठाता, वह अपनी हठ-वादिता एव जड-बुद्धिता का परिचय देता है। भारत का इतिहास यह रहा है कि उसने किसी युग म अखण्ड भारतीय राष्ट्रीयता का परिचय नहीं दिया और परिणाम-स्वरूप अपनी अपनी ढफली और अपना-अपना राग अलापने की स्थिति मे विश्व के अ य देशो की तुलना मे यह देश अधिक बार और अधिक समय तक दासता की शृखलाओ मे आबद्ध रहा। प्राचीन युग मे भारतीय अखण्डता का भेदक प्रान्तीयतावाद तथा घिनोना धार्मिक प्रमाद रहा और आज उनका स्थान प्रान्तीय भाषाओ को दिया जा रहा है। राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर यदि आज गाधार के आम्भीक मुल्तान के अजयपाल लोहकोट के भीमपाल जालौर के वाकपतिराज, कन्नौज के जयचन्द और सोमनाथ मन्दिर के रुद्रभद्र की अहित एव वीभत्स नीतियो का अनुसरण किया गया तो देश के लिए वह अत्यन्त भयानक सिद्ध होगा।

१४ सितम्बर १९४९ को देश के विचारशील राजनीतिज्ञो ने अत्यन्त

विचार विमर्श के पश्चात् राजभाषा के सम्मानित पद पर हिन्दी को सुशोभित किया था। ज्यों-ज्यों संविधान की इस धारा को कार्यान्वित करने का समय समीप आता गया, त्यों-त्यों कतिपय निहित स्वार्थी राजनीतिज्ञों ने इस प्रश्न को उलझाना प्रारम्भ कर दिया और परिणाम यह हुआ कि २६ जनवरी १९६५ को जब सरकार ने हिन्दी भाषा को राजभाषा घोषित किया तो दक्षिण भारत के प्रान्तीयतावादी विचार वाले व्यक्तियों ने इसका विरोध किया और दो नादान भावुक नवयुवकों को भड़का कर मृत्यु की गोद में सुला दिया जो अत्यन्त अशोभनीय कार्य था।

मैं तो यह कहूँगा कि वर्तमान सरकार ने अंग्रेजी को राजभाषा के पद से अपदस्थ कर अत्यन्त बुद्धिमानी का परिचय दिया है किन्तु मुझे यह भी आशा है कि भारत शैक्षणिक दृष्टि से इस महान भाषा का सम्मान करता रहेगा और इसके साथ उसी प्रकार सम्पर्क बनाए रखेगा जिस प्रकार आज वह राष्ट्रमण्डल के माध्यम से अंग्रेजों से सम्पर्क बनाए हुए है। हम उससे ज्ञान ग्रहण करते रहेंगे और उसके भण्डार को अपनी प्रतिभा से भरते रहेंगे किन्तु हमारे घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार कभी नहीं देंगे। काका कालेलकर ने भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को बड़ी ही सुन्दर वाणी दी है जब उन्होंने कहा था—

राज्य का सब काम अंग्रेजी में चलाना प्रजा पर एक बोझ डालना है वह भी प्रशासकों की सुविधा के लिए। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि स्वराज्य प्रजा के लिए है, शासन अधिकारियों के लिए नहीं। यदि यह अस्वाभाविक स्थिति देर तक बनी रही तो हम बिगड़ उठेंगे। (साप्ताहिक हिन्दुस्तान २ सितम्बर, १९६२ से उद्धृत)

दक्षिण भारत में हिन्दी का विरोध कर अंग्रेजी की स्थिति को वैसी ही बनाये रखने वालों में उन लोगों की कमी नहीं है जो महात्मा गांधी की दुहाई देते हुए नहीं थकते हैं किन्तु जब राष्ट्रभाषा का प्रश्न आता है अंग्रेजी को अपदस्थ करने का प्रश्न आता है, तो वे अपने आदर्श नेता के उन शब्दों को भूल जाते हैं जो उन्होंने यंग इण्डिया में प्रकट किए थे—

That crores of men should learn a foreign tongue for the *convenience of a few hundreds of officials is the height of* absurdity (*Young India* 21 4 1920)

उस समय उन्होंने मद्रास के लोगों से उनके कर्तव्य को भी पूछा था—

'*What is the duty of the thirtyeight million inhabitants of* that Presidency? Should India for their sake learn English?

or Should they for the sake of two hundred seventy seven *million inhabitants of India learn Hindustani*

(*Young India* 21 4 1920)

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर प्रशासन काय भारत मे प्रचलित सभी भाषाओ मे चलाया जाए या उन भाषाओ मे से किसी एक भाषा को समस्त भारत के प्रशासन के लिए रखा जाए। इसका उत्तर एक वाक्य मे यो रखा जा सकता है कि जनता का प्रशासन जनता की भाषा मे सचालित किया जाए। तामिलनाडु की जनता का प्रशासन तमिल मे और बगाल की जनता का प्रशासन बगला म तथा इसी प्रकार अन्य प्रान्तो मे भी। इसके अतिरिक्त केन्द्र से सम्बन्ध रखने वाली सभी विद्याओ के लिए तथा अन्तर प्रादेशिक व्यवहार एव वार्तालाप के लिए एक भाषा का प्रयोग हो जिससे भारत की भावनात्मक एकता सुदृढ हो और केन्द्रीय मन्त्रालयो के कार्यालय भाषाओ के अजायबघर न बन जाए। अब वह भाषा कौनसी हो? इस प्रश्न का समाधान हमे खोजना है। यह घरेलू मामला है कि हम सब एक स्थान पर बठ कर प्रान्तो की भावना से ऊपर उठ कर समग्र भारत म हित साधना के लिए उसके विशाल जनसमूह की सुव्यवस्था के लिए तथा उसके समुचित कल्याण के लिए उस महान् देश मे प्रचलित १४ भाषाओ में से किसी एक को जो सभी का सही प्रतिनिधित्व कर सकती हो उसकी एकता को दुबल न बना कर सुदृढ आधार भित्ति प्रदान करने म समथ हो, इस पद से सुशोभित करें। इसके लिए हम दो बातो का ध्यान रखना पडगा—(१) कम से कम परिश्रम और अधिक से अधिक लाभ और (२) भाषा का सामथ्य।

उपयुक्त प्रश्न भारत के लिए नवीन नही है। पुरातन युग से ही ऐसे प्रश्न उपस्थित होते रहे हैं और भारतीय मनीषियो ने उसका हल खोजा है। पहले ये प्रश्न धर्मोपदेश के लिए उठते थे जो उस समय राष्ट्रहित विधायक समझे जाते थे और आज ये प्रश्न राष्ट्र के प्रशासन के लिए उठा जो उसी सीमा तक हमारा हितसाधक है। अत्यन्त प्राचीन काल म इसी प्रकार का प्रश्न इस देश के समक्ष उपस्थित हुआ था। जब वैदिक सस्कृत से निसृत तीन बोलियाँ—प्राच्या उदीच्या तथा मध्य देशीया—इस भू भाग म प्रचलित थी। भगवान बुद्ध प्राच्या का मोह त्यागने को तत्पर नहीं थे और ब्राह्मण लोग वदिक सस्कृत नही छोडना चाहते थे किन्तु उस समय भी ईश्वर चिन्तन मे लीन ऋषियो ने इसका निणय किया और उदीच्या एव मध्यदेशीय के सम्मिलित रूप सस्कृत को राष्ट्र भाषा का गौरवमय पद प्रदान किया, जिसे अन्त म बुद्ध सम्प्रदाय ने भी स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात भी अनेक प्रान्तो में से महाराष्ट्री को और अनेक प्राकृतजा बोलियो मे से अपभ्रंश को

अन्तर प्रादेशिक भाषा माना गया। अब भारत में प्रचलित चौदह भाषाओं में से हिन्दी को अत्यन्त विचार विमर्श के पश्चात् संविधान में राज भाषा के पद से सुशोभित किया गया। भारत के अनेक भाषाविदों, पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के चिन्तनशील मनीषियों एवं राजनीति विशारदों ने यह सुझाव दिया है कि भारत के अन्तर प्रादेशिक भाषा के पद को ग्रहण करने का सामर्थ्य केवल मात्र हिन्दी भाषा में ही निहित है। बंगाल के विश्व प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ सुनीतकुमार चटर्जी ने बताया कि हिन्दी या हिन्दुस्थानी आज के भारतीयों के लिए एक बहुत बड़ा रिक्थ है। यह हमारे भाषा विषयक प्रकाश का वृहत्तम साधन है तथा भारतीय एकता एवं राष्ट्रीयता का प्रतीक बन सकता है। वास्तव में हिन्दी ही भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व कर सकती है। (भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी पृष्ठ २०४)

पूर्वी भारत के महान विचारक श्री केशवचन्द सेन ने इससे भी बहुत वर्ष पहले भारतीयों को सचेत करते हुए समस्त देश के लिए एक भाषा की आवश्यकता को बताते हुए उसके लिए हिन्दी का ही नाम लिया है—

*यदि भारतवर्ष एकता हयले भारतवर्ष एकता नहय तब ताहार उपाय कि ? समस्त भारतवर्षे एक भाषा व्यवहार कराई उपाय। एखन भाषा भारते प्रचलित आछे ताहार मध्ये हिन्दी भाषा प्राय सर्वत्रइ प्रचलित। एइ हिन्दी भाषा के यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाषा करा जाय तबे अनायासे शीघ्र सम्पन्न हइति पारे।* (समाचार सुलभ चत्र ५, १२८०)

पश्चिम में गुजरात के ही नहीं अपितु समस्त भारतवर्ष की आत्मा महात्मा गांधी ने भी यही अनुभव किया था कि भारत की राष्ट्र भाषा बनने का सामर्थ्य केवल मात्र हिन्दी में ही निहित है—

I have attended all the Congress sessions, but one since 1915 I have studied them specially in order to study the utility of Hindustani compared to English for the conduct of its proceedings I have spoken to hundreds of delegates and thousands of visitors and I have perhaps covered a large area and seen a much larger number of people, literate and illiterate than any public man not excluding Mrs Besant and Lokmanya Tilak and I have come to the deliberate conclusion that no language except Hindustani can possibly become a national medium for exchange of ideas or for the conduct of National Proceeding (*Young India* 21 1 1920)

इसके साथ ही दक्षिण के कृष्ण स्वामी की चर्चा करते हुए गांधीजी ने बताया कि वे भी इसी विचार धारा के पोषक थे—

That late Justice Krishna Swami with his unerring instinct recognised Hindustani as the only possible medium of expression between the different parts of India'

(*Young India* 21 1 1920)

आजकल भी दक्षिण मे ऐसे विद्वानो का अभाव नहीं है, जो इस तथ्य को भली भांति स्वीकार करते हैं। अर्थशास्त्र के परम विद्वान डा वी के आर वी राव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अतएव हमें उपयुक्त विद्वानों के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए और हिन्दी भाषा के विरोध का कार्य जो राष्ट्रीय विरोध के तुल्य कहा जा सकता है छोड़ देना चाहिए। दक्षिण मे इसके प्रमुख विरोधियों मे श्री राजगोपालाचारी और द्रविड मुनेत्रकषगम के नेताओं का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है और मजेदार बात यह है कि ये लोग दक्षिण की भाषाओं की समृद्धि और प्रसार के प्रति इतने उत्सुक नहीं हैं जितने प्राणप्रिया आंग्ल भाषा को अंक से चिपकाए रखने मे सतर्क हैं। विचित्र विडम्बना है। राजाजी का ही उदाहरण लीजिए एक बार आप ने अंग्रेजी के समर्थन मे एक लेख माला का प्रारम्भ किया था, जिसमे उन्होंने मुख्य रूप से तीन प्रश्न उठाए हैं—[1]

(१) हिन्दी अंग्रेजी के समान समस्त भारत मे न ही समझी जाती है और न ही पढ़ी जाती है।

(२) वह एक प्रदेश की भाषा है।

---

[1] कहा जाता है कि हिन्दी जनता की भाषा है और सरकार और जनता की भाषा एक होनी चाहिए। प्रश्न यह है कि हिन्दी किसकी भाषा है—इस देश मे रहने वाले सब की तो नहीं? निश्चय ही दक्षिण के करोड़ो लोगों की तो नहीं। दक्षिण का कोई भी पठित या अपठित न उसे बोलता है और न समझता है। उत्तर के चार प्रांतो मे वह बोली जाती है जो एक दूसरे के समीप हैं अथवा आजू बाजू मे हैं। उसे बोलने वाले इस देश मे प्रतिशत के हिसाब से कुछ भी क्यो न हो वे देशभर मे फैले हुए नहीं हैं। वे प्रदेश विशेष मे ही सीमित है। उनकी भाषा को राजभाषा मानने मे उन्हें अधिक गौरव प्राप्त होगा। शायद वह हिन्दी भाषियों से संख्या मे अधिक होंगे। अंग्रेजी देश भर मे बराबरी से फैली हुई है। अंग्रेजी के राजभाषा बनने मे देश का कोई भी भाग अन्य भागो से प्रतिकूल या अति का अनुभव न करेगा। राजकाज मे सबको समता प्राप्त होगी और हिन्दी को लादने से यह समता नष्ट हो जायगी। (धर्मयुग १ सितम्बर, १९६३ मे श्री भिवंडे द्वारा उद्धृत)।

(३) हिन्दी के राजभाषा होने से दक्षिण का महत्व कम हो जाता है—

यदि इन तीनो प्रश्नो का सूक्ष्म विश्लेषण करें तो लगता है कि इनकी आधारशिलाए अत्यन्त ही निबल हैं। जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है, वह किसी भी प्रकार मान्य नहीं है। यद्यपि हिन्दी उत्तर भारत के अधिकाश जनता की मातृभाषा है फिर भी वह समस्त भारत मे अग्रेजी स अधिक भाषा म लोगो द्वारा बोली और समझी जाती है। सरकार द्वारा प्रस्तुत आकडे इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अग्रेजी पढे लिखे लोगो की सख्या समस्त भारतवप मे ११ प्रतिशत है जबकि मद्रास इसमे तीसरे स्थान पर आता है। जनसख्या की दृष्टि से मद्रास म अग्रेजी जानने वालो की सख्या केवल १ १२ प्रतिशत है और इसकी तुलना म पजाब और पश्चिमी बगाल मे उक्त भाषा के जानने वाला की सख्या क्रमश २ २५ प्रतिशत और २ ३७ प्रतिशत है, जबकि स्वय अकेले मद्रास म हिन्दी जानने और समझने वालो की सख्या १० प्रतिशत से कम नही है। समस्त प्रदेशो मे अग्रेजी जानने वाला और साक्षरो की सख्या निम्न प्रकार है—

| प्रदेश | जनसख्या | साक्षार प्रतिशत | अग्रेजी जानने वालों की सख्या प्रतिशत |
|---|---|---|---|
| असम | ११ ८६०,०५६ | २५ ८ | — |
| आन्ध्र | ३५ ६७७ ६६६ | २० ८ | १ २ |
| उडीसा | १७ ५६५ ६४५ | २१ ५ | ० ४३ |
| उत्तर प्रदेश | ७३,८५२ ६६८ | १७ ५ | — |
| केरल | १६,८७५ १६६ | ४६ २ | १ ५ |
| गुजरात | २०,६२२ २८३ | ३० ३ | १ ०० |
| पश्चिमी बगाल | ३४ ६६७ ६३४ | २६ १ | २ ३१ |
| पजाब | २० २६८ १५१ | २३ ७ | २ २५ |
| बिहार | ४६ ४५७,०४२ | १८ २ | — |
| मद्रास | ३३ ६५० ६१७ | ३० २ | १ ५२ |
| मध्य प्रदेश | ३२ ३६४ ३७५ | १६ ६ | — |
| महाराष्ट्र | ३६ ५०४ २६४ | २६ ७ | १ ० |
| मसूर | २३ ५४७ ०८१ | २५ ३ | १ १ |
| राजस्थान | २० १४६ १७३ | १४ ७ | — |

इस प्रकार दक्षिण के लोगो को जबकि अनेक आश्वासन केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये जा चुके हैं कि उन पर हिन्दी थोपी नही जायेगी फिर भी अपने राजनैतिक स्वार्थों को लेकर इस प्रकार के आन्दोलन खडा कर देना कहाँ तक समीचीन है, समझ म नही आता।

हिन्दी के विस्तार के सम्बन्ध मे डा चाटुर्ज्या ने अपने अनुभव के आधार पर बताया है कि हिन्दी न केवल समस्त भारतवर्ष मे पारस्परिक वार्तालाप की अन्तर प्रादेशिक भाषा है, अपितु विदेशो में भी भारतीयो के साथ बातचीत करने के लिए हिन्दी का ही आश्रय लिया जाता है। आपने लिखा है कि रास्ते मे एकत्रित हुए लोगो के ऐसे झुण्ड हमे मिलेंगे जिनकी आपस म बोली जाने वाली स्थानीय बोली हम बिल्कुल भी न समझें, परन्तु उनमे से दस प्रतिशत लोग ऐसे निकल ही आयेंगे जो सहज हिन्दुस्तानी मे किए गए प्रश्न का उत्तर समझ में आ जाने लायक हिन्दुस्तानी से मिलती-जुलती भाषा मे अवश्य दे देंगे। यह बात आपको सर्वत्र मिलेगी। चाहे आप कुमिल्ला जाएँ चाहे दार्जिलिंग, नोआखाली या बारिसाल, चौवासा या पूना, पुरी या पेशावर, जो सारे हिन्दी या हिन्दुस्तानी क्षेत्र से बिल्कुल बाहर पडते हैं। लन्दन म चटगाँव कलकत्ता मद्रास आदि भारतीय बन्दरगाहो पर काम करके गए हुए मलय देशी नाविक ने तथा भारतवर्ष मे तीन वर्ष तक मऊ पशावर, कलकत्ता के छावनियो मे रहकर गए हुए एक अंग्रेज सैनिक ने स्काटलण्ड के सुदूर उत्तर के ओवन नगर म हैदराबाद दक्खन की एक रेल कम्पनी मे काम करके लौटे हुए एक स्काच मजदूर ने तथा ग्रीस की राजधानी एथेंस म भारत के ग्रीक फर्म वाली मद्रास के रंगून एव कलकत्ता स्थित आफिस म कर्मचारी का काम करके लौटे हुए ग्रीक सैनिक आफिसर ने समय समय पर भारत के बाहर भिन्न भिन्न जगहो पर लेखक को हिन्दुस्तानी म सम्बोधित किया है। (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ १६६ ६७)।

अब बताइये राजाजी की बात को सही माने अथवा भाषाशास्त्र के पारखी परम विद्वान् डॉ चाटुर्ज्या के वक्तव्य को ठीक कहे। एक वह भाषा जिसके समझने बोलने वालो की सख्या सारे भारतवर्ष मे ११ प्रतिशत है और एक वह भाषा है जिसके समझने बोलने वाले प्रत्येक प्रदेश म ही नहीं प्रत्येक झुण्ड में १० प्रतिशत है किसे राजभाषा का गौरवमय पद प्रदान करें ? इस प्रकार की विचारधारा की पुष्टि महात्मा गाधी ने भी एक स्थान पर की है—

'The Hindi speaking man speakes Hindi wherever he goes and no one is surprised at this The Hindi speaking Hindu Preacher and *Urdu* speaking Molvi make there religious speaches in Hindi and Urdu and even the illiterate masses understand them even an unlittered Gujrati when he goes to the north attempts to speak a few Hindi words but the northern Bhaiya who works as a gate keeper to the Bombay Seth dec lines to speak in Gujrati and it is the Seth his *employer*, who

is obliged to speak to him in broken Hindi I have heard Hindi is spoken even in the far off Southern Provinces It is not correct to say that in Madras one cannot do withou English I have successfully used Hindi there for In the trains, I have heard Madrasi passenger spea passenger in Hindi Besides the Muslims of M enough Hindi to use it successfully well, and th already established as national language of India

इस प्रकार हम देखते है कि राजाजी द्वारा उठाया गर निराधार है।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीयों का यह सस्कार रहा है कि वे बहुत समीप से सोचते हैं, उनमे विशाल दृष्टि का सर्वथा अभाव रहा है। जब तक हम इस त्रुटि को दूर नही करेंगे, देश पनप नही सकेगा। यह ठीक है कि यह एक प्रदेश की भाषा है पर वह प्रदेश किसका अग है ? भारत नाम के राष्ट्र का। फिर दूरी क्या ? क्या एक शरीर के दो हाथ अपने को परस्पर भिन्न मानकर एक दूसरे हाथ से चिढने लगेगा ? मैं समझता हूँ कि कदापि नही और इस भावना की समाप्ति का ही तो यह उपचार है कि देश की एक भाषा हो, जो चाहे प्रारम्भ मे एक प्रदेश की हो किन्तु आने वाली सन्तान के लिए वह समग्र भारतीय राष्ट्र की भाषा हो जो उन्हें एक सूत्र मे आबद्ध करने मे समर्थ सिद्ध हो। देश की एकता के सूचक कुछ प्रतीक हुआ करते हैं जिन पर प्रत्येक देशवासी निछावर होने को तत्पर रहता है। वे प्रतीक राष्ट्रध्वज राष्ट्रगीत तथा राष्ट्रभाषा हैं। अत हमे उस दिन की आशा म रहना चाहिए, जिसकी आशा श्री टी० विजयराघवाचारी ने की थी —

We are all eagerly looking forward to the day when we shall all be Indians first and Madrasis and Bengalis next

(*Young India*, 8 4 1931)

अंग्रेजी को बनाये रखने से दक्षिण के लोगों को चाहे सरकारी नौकरी का बेशक लाभ हो, जो विशुद्ध रूप में क्षणिक एव व्यक्तिगत है उन्हें भारतीय एकता का गौरव एव दक्षिण के अतिरिक्त देशवासियो का सौहार्द प्राप्त नही हो सकता जो उनके लिए बहुमूल्य और देश के लिए एक स्थाई सम्पदा बन सकता है। इसलिए गांधीजी ने कहा था —'आज अंग्रेजी पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए वे (दक्षिण वाले) जितनी मेहनत करते हैं यदि उसका आठवां हिस्सा भी व हिन्दी सीखने म करें तो बाकी हिन्दुस्तान के जो दरवाजे आज तक उनके लिए बन्द हैं वे खुल जायें और वे इस तरह हमारे साथ एक हो जायें

जसे वे पहले कभी न थे। कोई भी द्रविड यह न सोचे कि हिंदी सीखना जरा भी कठिन है। मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि द्रविड बालक अद्भुत सरलता से हिंदी सीख सकते हैं।" (यग इण्डिया १६ २ २०, धमयुग, १ ६ ६३ से उदधत)।

तृतीय प्रश्न कवल मात्र मानसिक ग्रंथि है। हिन्दी चाहे उत्तरी भारत की मातृभाषा है, पर दक्षिण भारत के लोगों के परिश्रम के समक्ष शेष भारत नगण्य है जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण वे अंग्रेजी के अध्ययन और अध्यापन में दे चुके हैं और वह दिन दूर नहीं है कि दक्षिण भारत के विद्यार्थी हिंदी पर वसा ही अधिकार कर लेंगे जसा अंग्रेजी पर और उनका महत्त्व उसी प्रकार बना रहेगा जिस प्रकार का आज बना हुआ है, बल्कि उससे अधिक। क्योंकि हिंदी सीखने में अंग्रेजी से कम परिश्रम करना पडेगा। अत हम राष्ट्रीय भावनाओ से ओतप्रोत हो अपने देश के लिए इतना त्याग करना ही पडेगा कि हम इन महत्व और अमहत्व के पचडो मे न पडें।

अन्त मे यह कहूँगा कि काश! राजाजी और इनके अन्य सहयोगियों ने जितना परिश्रम आग्ल भाषा की जडें भारत मे दृढ करने म लगाया उतना या उससे भी कम परिश्रम किसी दक्षिण भारत की भाषा का विशेषकर तमिल का उत्तर भारत मे प्रचार करने मे लगाया होता तो वे देश की बहुत बडी सेवा करते और आगे आने वाली सन्तति देश की एकता के इन कणधारो की मदिरो मे प्रतिमाएँ बना बना कर पूजती। किन्तु तथ्य इससे सवथा भिन्न है। ये लोग आज भी नही समझते कि देश का कल्याण आग्ल भाषा के गीत गाने म नही, अपितु भारतीय भाषाओ के सर्वांगीण विकास मे निहित है। श्री विश्वनाथन भी दक्षिण के ही निवासी हैं किन्तु उनकी वाणी म एक सौहार्द है मैत्री भाव है तथा राष्ट्रीय भावना है —

"आखिर हिन्दी किसी की भाषा है ? अपने ही सहोदर सहबान्धव और सहमार्गी, जीवन और रक्त से अपने से सम्बन्धित, अपनी ही माँ के लालो की और उसका विरोध करना अपनी ही आत्मवचना और आत्मद्रोह का परिचय देना है।' (धर्मयुग १ सितम्बर १९६३ —श्री० विश्वनाथन)

अब इसके लिए केवल इतना ही कहना अवशिष्ट रह जाता है कि देश की एकता बनाये रखने के लिए इतिहास की पुनरावृत्ति रोकने के लिए विदेशी पुन हमारी फूट से लाभ न उठा लें इसके लिए दक्षिण के भाइयो को थोडा त्याग अवश्य करना पडेगा और वह त्याग इस देश के लिए इतना मूल्यवान् सिद्ध होगा कि आगे आने वाली सन्तान उसे स्वर्णाक्षरो मे लिखकर अत्यन्त गौरव प्रदान करेगी अन्यथा जस मध्यकालीन रजवाडो की बुद्धि पर हम जार जार रोकर आँसू बहाते हैं वैसे ही वह भी हमारे नाम पर थूक दिया करेगी

कि हमारे पूर्वजों में राष्ट्रीयता नाम की कोई वस्तु नहीं थी वे स्वार्थी थे संकुचित वृत्ति वाले थे तुच्छ थे।

अब हम इसके दूसरे पहलू पर विचार करेंगे। भारत में प्रचलित सभी उच्च भाषाओं में जिन्हें संविधान में स्थान प्राप्त है हिन्दी सर्वाधिक सरल भाषा है। इसे सरलता से तीन महीनों में सीखा जा सकता है और एक वर्ष में उस पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। इतनी सरलता से किसी भी अन्य भाषा को नहीं सीखा जा सकता। इसका पहला कारण तो यह है कि इसका व्याकरण अन्य सभी भाषाओं से सरल है। जाज अब्राहम ग्रियर्सन ने भारत के भाषा सर्वेक्षण में सभी भाषाओं का व्याकरण दिया है जिसमें हिन्दी भाषा के व्याकरण ने सबसे कम स्थान ग्रहण किया है। डॉ चटर्जी ने तो इस भाषा के व्याकरण को केवल एक पोस्टकार्ड पर लिखे जा सकने की बात कही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि जिस भाषा का व्याकरण जितना संक्षिप्त एवं सरल होगा वह भाषा उतनी ही सरल होगी। यदि यह स्थान किसी अन्य प्रान्तीय भाषा को देने का उपक्रम किया जाय तो हमारे सामने दो बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायेंगी—(१) भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं को बोलने वालों की संख्या सीमित है, अतः उसे सीखने के लिए भारत की बहुत अधिक जनसंख्या को प्रयत्न करना पड़ेगा जो उचित नहीं है। (२) अन्य प्रान्तीय भाषाएं हिन्दी की तुलना में कम सरल हैं अतः उन्हें सीखने में अधिक प्रयास करना पड़ेगा। हम सभी एक देश के वासी, एक संस्कृति के अनुवर्ती और एक माँ के लाल हैं। अतः हमें वही करना चाहिए जिससे कम से कम लोगों को प्रयास करना पड़े और अपना कार्य भी सिद्ध हो जाये अर्थात् अराष्ट्रीयता का फूट रूपी साँप भी मर जाये और जनतन्त्र रूपी लाठी भी न टूटे। हमें केवल मात्र यही करना है कि हम प्रसन्नता के साथ हिन्दी को राजभाषा अथवा लिंक भाषा के रूप में स्वीकार कर लें। मैं तो यह भी कहूँगा कि इसका श्रीगणेश दक्षिण वालों को करना चाहिए और आज ही। आज भारत को ऐसे लोकसभा के सदस्यों की आवश्यकता है जिनकी चर्चा धर्मयुग में श्री नन्दन ने की है। दुर्भाग्य है कि श्री नन्दन ने ऐसी महान् आत्मा का नाम नहीं दिया। प्रसंग इस प्रकार है—

'जब सदन में हिन्दी को राज कार्य में प्रतिष्ठित करने के लिए पन्द्रह वर्ष का समय प्रस्तावित किया गया तो एक अहिन्दी भाषी ने तुरन्त उठकर प्रतिवाद किया—हम एक मिनट की भी देरी बरदाश्त नहीं करना चाहते हिन्दी को देवनागरी लिपि और हिन्दी अंकों के साथ प्रतिष्ठित करने में तनिक भी देरी नहीं करनी चाहिए (धर्मयुग १५ सितम्बर १९६३)।' निश्चय ही उस व्यक्ति के हृदय में उस समय हिन्दी के प्रति प्रेम ही नहीं अपितु राष्ट्र भक्ति की पावन धारा ठाठें मार रही होगी। वे देश को एकता के सूत्र में आबद्ध

देखना चाहते होंगे और यह सूत्र है सारे देश की एक भाषा। भारत तथा विदेश में रहने वाले साढ़े चौबीस करोड जना को एक सूत्र मे बांधने वाली मौलिक आन्तरदेशिक या आन्तर्देशीय या आन्तरजातीय भाषा हो (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १६४)। यदि हम समस्त भारत के निवासियो की मातृभाषाओ का तुलनात्मक अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि भारत मे हिन्दी बोलने वाले ४२ प्रतिशत है जबकि इसके विपरीत आंग्ल भाषा बोलने वालो की सख्या ११ प्रतिशत है तथा दक्षिण भारत की भाषा को बोलने वालो की सख्या क्रमश तेलगु तामिल कन्नड और मलयालम ९ ७ प्रतिशत, ८ प्रतिशत एव ६ प्रतिशत है। अत मैं नही समझता कि दक्षिण भारत के लोग केवल ११ प्रतिशत अग्रेजी भाषाओ को देखकर ही क्या चलते हैं? मातृभाषाओ के आधार पर तैयार किये गये आँकडो का विवरण १९५१ की जनगणना के आधार पर निम्नलिखित रूप मे प्रस्तुत है—

| | |
|---|---|
| हिन्दी— | १४ ९९ ४४ ३१० |
| तेलगु— | ३,२१,११,९१६ |
| मराठी— | २ ७०,४९,५२८ |
| तामिल— | २ ६५,४६,७६४ |
| बगाली— | २,५७,२१,६७४ |
| गुजराती— | १,६२,१०,७७१ |
| कन्नड— | १,४४,७१,७६४ |
| मलयालम— | १,३३,८०,१०६ |
| उडिया— | १,३१,५३,१०९ |
| आसामी— | ४९,८६,२२६ |
| कश्मीरी— | ५ ०५६ |
| सस्कृत— | ५५५ |

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुल जनसख्या का ४२ प्रतिशत तो वे लोग हैं जिनकी मातृभाषा हिन्दी है। इसके अतिरिक्त कम से कम १० प्रतिशत डा चाटुर्ज्या के अनुसार ऐसे आदमी मिल जायेंगे जो हिन्दी समझ सकते हैं और टूटे फूटे रूप मे बोल भी सकते हैं। इस प्रकार समस्त जनसख्या के ५२ प्रतिशत लोग हिन्दी भाषा भाषी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे हिन्दी ही केवल एक ऐसी भाषा है जो इस स्थान के लिए सर्वथा उपयुक्त है। जहाँ तक इस लादने का प्रश्न है यह तो एक मानसिक ग्रन्थि है समझ का फेर है। लादी जाती है—दूसरे की वस्तु। यह सभी भारतीयो की अपनी वस्तु है। अत इसे हम हृदय से अपनाना चाहिये। अपनी वस्तु को ग्रहण करने मे हमे कठिनाई हो सकती है किन्तु उसे लादना कभी नही कहा जा सकता।

*यदि सावधानिक दृष्टिकोण से भी सोचें तो मैं कह सकता हूँ कि एक* प्रजातन्त्र देश के सुयोग्य नागरिक का परम कर्तव्य है कि वह संविधान का सम्मान करे। उसमें उल्लिखित धाराओं को कार्य रूप में परिणत करने में सहयोग दें, फिर इस में सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिस समय संविधान अपने स्वरूप को ग्रहण कर रहा था, उस समय भारत के प्रभुसत्ता का प्रमुख अधिकारी दक्षिण भारत का ही महापुरुष था। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें उस समय इससे विरोध न था। विरोध की यह भावना तो उनका बाद *का चिन्तन है जो केवल विरोधात्मक विचार धारा में बह जाना मात्र है।*

विषय का द्वितीय एवं अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है राष्ट्रभाषा का विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के शिक्षा में स्थान और जहाँ तक अध्ययन का सम्बन्ध है राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय स्तर तक एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाया जाना चाहिये। क्योंकि वह भाषा जो केन्द्र के कार्यों की विधायिनी हो, अन्तरप्रादेशिक वार्तालाप का साधन बनाई जा रही हो, उसका अध्ययन परमावश्यक हो जाता है और कुछ समय के पश्चात् एक समय आयेगा जब हम यह अनुभव करेंगे कि हर देशवासी भारतीय पहले है और मद्रासी बंगाली बाद में। किन्तु इसके लिए एक प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और वह यह है कि हिन्दी भाषा का अध्ययन विद्यार्थियों को किस कक्षा से प्रारम्भ करना चाहिए और कौनसी कक्षा तक करना चाहिए? इसका अध्यापन किस लिपि के माध्यम से करवाया जाना चाहिये?

जहाँ अध्ययन प्रारम्भ करने का प्रश्न है सर्वसम्मत धारणा यह है कि विद्यार्थी को अपनी मातृभाषा से प्रारम्भ करना चाहिये और जब यह देखें कि विद्यार्थी अपनी भाषा को पढ़ने और लिखने की ओर रुचि लेने लगा है तो उसे राष्ट्रभाषा पढ़ने के लिए दी जानी चाहिये। जब विद्यार्थी राष्ट्रभाषा को भी भली प्रकार समझने पढ़ने और लिखने लग जाए तब उसे आंग्ल भाषा पढ़ने को दी जानी चाहिये। इसे क्रमबद्ध यों रखा जा सकता है कि प्रारम्भ में मातृभाषा *तृतीय श्रेणी से राष्ट्रभाषा और कम से कम आठवीं श्रेणी से आंग्ल भाषा का* अध्ययन विद्यार्थी करें और विश्वविद्यालय की स्नातक परीक्षा तक चालू रखें। इससे उनके मस्तिष्क पर आवश्यक भार भी नहीं पड़ेगा और भारत के लिए परमावश्यक तीनों भाषाओं का अध्ययन भी सम्भव हो सकेगा।

---

# परिशिष्ट २

## निर्देशिका

### पारिभाषिक शब्दावली[1]

(१) अक्षर—वह छोटी से छोटी ध्वनि जिसके खण्ड न हो सके। अ+क्षर अर्थात् जो घिसते नही। वर्ण भी इसे ही कहते हैं।

(२) अघोष—वे ध्वनियाँ होती हैं जिनका उच्चारण करते समय स्वरतन्त्रिया एक-दूसरे से दूर रहती हैं तथा ध्वनि मे किसी प्रकार का कम्पन नही सुनाई देता। वर्ग का प्रथम और द्वितीय व्यञ्जन, श, ष स, आदि अघोष हैं।

(३) अघोषीकरण—ध्वनि परिवर्तन मे सघोष ध्वनि का अघोषवत उच्चारण होना, यथा—राजस्थानी गुजराती आदि भाषाओ मे सघोष महा प्राण ध्वनियो एव 'ह' का उच्चारण।

(४) अधिकरण—वह स्थल या स्थिति जिसमे या जिस पर क्रिया घटित होती है। पर्वत पर वर्षा हो रही है।

(५) अनुनासिक—अर्धचन्द्र बिन्दु। वे ध्वनियाँ जिनका उच्चारण नाक से होता है, यथा—चाँद, हँसना आदि। आंग्ल—Incomplete Nasal

(६) अनुस्वार—वह ध्वनि, जिसका उच्चारण नाक से होता है तथा जो नित्य स्वर के पश्चात् आती है, यथा—हस, कस, ससार। आंग्ल—Pure Complete Nasal

(७) अन्तस्थ—स्वर और व्यञ्जन के बीच की ध्वनि। इन्हे अर्धस्वर भी कहते हैं। ये ध्वनियाँ यथास्थिति स्वर और व्यञ्जन मे परिवर्तित होती रहती है, यथा—य्, र ल व। यदि+अपि—यद्यपि, सु+आगतम्—स्वागतम।

(८) अन्य पुरुष—पुरुष वाचक सर्वनाम का एक भेद या प्रकार। जब वक्ता और श्रोता किसी तृतीय व्यक्ति के सम्बन्ध मे वार्तालाप करते हैं तब व्याकरण मे उस व्यक्ति को अन्य पुरुष कहते हैं, यथा—यह, वह।

(९) अपादान—दो वस्तुओ अथवा स्थितियो के पृथकत्व का भाव।

(१०) अल्प प्राण—जिस व्यञ्जन के उच्चारण करने मे वायु का कम

---

[1] यहाँ मूलग्रन्थ मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दो का अकारादि क्रम से विश्लेषण उपस्थित किया गया है।

निष्प्रास होता है। वर्ग का पहला तीसरा पाँचवाँ व्यञ्जन तथा अन्तस्थ व्यंजन (य र, ल, व) अल्पप्राण हैं। यथा—क, ग ङ आदि।

(११) अविकारी—जिन शब्दों में लिङ्ग, वचन अथवा विभक्ति के कारण कोई भी विकार उत्पन्न नहीं होता। क्रिया विशेषण और अव्यय शब्द इसके अन्तर्गत आते हैं।

(१२) अव्यय—वे शब्द जो प्रत्येक स्थिति में समान आकृति वाले रहते हैं। अविकारी शब्दों को ही अव्यय भी कहते हैं। यथा तथा आदि।

(१३) आख्यात—छान्दस एवं संस्कृत में क्रिया को आख्यात कहते हैं।

(१४) उत्तम पुरुष—पुरुष वाचक सर्वनाम का एक भेद अथवा प्रकार। वक्ता के लिए प्रयुक्त शब्द उत्तम पुरुष सर्वनाम कहलाते हैं। मैं हम, आदि।

(१५) उपसर्ग—वे शब्द अथवा शब्दांश जो शब्द से पूर्व जुड़ कर शब्द के अर्थ में परिवर्तन ला देते हैं। प्र, परा, आदि।

(१६) ऊष्म—संघर्षी ध्वनियाँ जिनके उच्चारण में घर्षण के कारण ऊष्मा पैदा होती है। श, ष स ध्वनियाँ ऊष्म ध्वनियाँ हैं।

(१७) करण—क्रिया के साधन का अर्थ देने वाले संज्ञा शब्द।

(१८) कर्ता—क्रिया के करने वाले को कर्ता कहते हैं।

(१९) कर्म—कर्ता के अभीप्सिततम कारक को कर्म कहते हैं। राम रोटी खाता है।

(२०) कारक—वाक्य में दो अर्थ-तत्वों का सम्बन्ध बताने वाला शब्द या शब्दांश कारक कहलाता है।

(२१) कृदन्त—वे शब्द जो क्रिया के साथ प्रत्यय लगा कर बनाए जाते हैं, यथा—गत, खादित्वा, चलइ रत्त आदि।

(२२) क्रिया विशेषण—वे शब्द जो क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं।

(२३) क्षति पूरक दीर्घीकरण—संयुक्त व्यञ्जन विशेषकर द्वित्व व्यञ्जन के किसी एक अवयव (व्यञ्जन) की क्षति हो जाने पर पूर्व ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाना, यथा—कम्म>काम।

(२४) घोष—वे ध्वनियाँ जिनके उच्चारण करते समय स्वरतन्त्रियाँ एक दूसरे के समीप आकर विशेष कम्पन उत्पन्न करती हैं घोष कहलाती हैं।

(२५) तद्धित—क्रिया से भिन्न शब्दों के साथ लगने वाले प्रत्यय।

(२६) तद्भव—संस्कृत शब्दों के विकृत अथवा यों कहिये कि उनसे विकसित रूप।

(२७) तिङन्त—वे क्रिया शब्द जो काल सूचना हेतु ति त आदि प्रत्ययों से युक्त होकर उपस्थित होते हैं।

(२८) तियक—वे शब्द जो परसर्गों के लगाने पर विकृत रूप वाले हो जाते हैं। ये सज्ञा, सवनाम अथवा विशेषण शब्द होते है।

(२९) दीघ—जिनके उच्चारण मे दो मात्रा का समय लगे वे वण दीघ कहलाते हैं। आ ई, ऊ आदि।

(३०) द्वित्व—अपभ्रश की मुख्य विशेषता जहाँ सयुक्त व्यञ्जनो मे से एक व्यञ्जन उससे सयुक्त दूसरे व्यञ्जन का रूप धारण कर लेता है, यथा —कम>कम्म, काय>कज्ज।

(३१) नपुसक लिङ्ग—सस्कृतादि भाषाओ के व शब्द जो किसी वस्तु आदि के स्त्रीत्व और पुरुषत्व को व्यक्त करने म असमथ हो।

(३२) नामधातु—वे सज्ञा आदि शब्द जो कुछ निश्चित प्रत्ययो के जोड दने पर धातु का अथ दने लगते हैं।

(३३) परसग—वे शब्द जो सम्बन्ध बताने के हेतु विभक्ति प्रत्ययो के स्थान पर दो अथ-तत्त्वो के मध्य प्रयुक्त होते हैं। ने, को में, से पर, आदि।

(३४) पुल्लिङ्ग—पुरुषवाची शब्द।

(३५) पूवकालिक क्रिया—वह क्रिया जो प्रधान क्रिया से पूव ही सम्पन्न हो चुकी हो। खाकर, पीकर, आदि।

(३६) प्रत्यय—वे शब्द या शब्दाश जो मूल शब्द के अन्त म जुडकर उसका अथ बदल देते है। नीति>नतिक।

(३७) बलाघात—शब्द या वाक्य के किसी अश पर बल देकर उच्चारण करना।

(३८) बहिरग—मध्यदेश के चारो ओर की भाषाओ का डॉ ग्रियसन ने बहिरग सज्ञा प्रदान की है।

(३९) मध्यम पुरुष—पुरुषवाचक सवनाम का एक भेद अथवा प्रकार, जो श्रोता के लिए प्रयुक्त हो।

(४०) महाप्राण—जिन ध्वनियो के उच्चारण में जब अधिक मात्रा मे श्वास का निस्सरण होता है तब वह ध्वनि महाप्राण कहलाती है। वग का द्वितीय, चतुथ, श ष, स वण तथा 'ह' महाप्राण ध्वनियाँ होती हैं।

(४१) 'य' श्रुति—एक स्वर से दूसरे वण की उच्चारण स्थिति तक पहुचने के लिए अथवा पदान्त मे 'य' ध्वनि को और बढा लिया जाता है उसे 'य' श्रुति कहते हैं।

(४२) लकार—कालों की भिन्नता को सूचित करने वाले लकार होते हैं।

(४३) लिङ्ग—सज्ञा क्रिया आदि के जिस विधान से किसी वस्तु व्यक्ति अथवा स्थान की जाति (पुरुष स्त्री जड) का बोध हो।

(४४) 'व' श्रुति—स्वर के साथ 'व' का आगमन कर लेना।

(४५) विकारी—लिङ्ग, वचन और विभक्ति के कारण जिन शब्दों के रूप में विकृति आ जाती है, उन्हें विकारी कहते हैं।

(४६) विपर्यय—ध्वनियों का परस्पर स्थान बदल लेना।

(४७) व्यत्यय—जहाँ पर एक विधान के स्थान पर दूसरे विधान का प्रयोग होता हो।

(४८) समापक क्रिया—कुछ ऐसे प्रत्यय जिनके लगने पर क्रिया शब्दों का संज्ञा आदि शब्दों जैसा अर्थ देना।

(४९) सन्धि—किन्हीं दो शब्दों या शब्दांशों के प्रथम के अन्तिम वर्ण और द्वितीय का आदि वर्ण जब आपस में मिलकर विकार उत्पन्न करते हैं वहीं सन्धि होती है।

(५०) सम्प्रदान—जिस वस्तु अथवा व्यक्ति के लिए क्रिया की जाती है उसे सम्प्रदान कहते हैं।

(५१) सहायक क्रिया—वे क्रिया शब्द जो किसी क्रिया शब्द के साथ किसी काल विशेष का बोध कराने हेतु जोड़े जाते हैं, यथा —है, था, गा आदि।

(५२) स्त्रीलिङ्ग—वे शब्द जो किसी वस्तु व्यक्ति अथवा स्थान के स्त्रीत्व का बोध कराते हैं।

(५३) स्वर—वे ध्वनियाँ जो बिना किसी अन्य वर्ण की सहायता के उच्चरित हो सकती है।

(५२) स्पर्श—वे ध्वनियाँ जिनके उच्चारण में जिह्वा मुख के किसी न किसी स्थान का स्पर्श करती है। प वर्ग में ओष्ठ एक दूसरे का स्पर्श करते हैं।

(५३) स्वरभक्ति—संयुक्त व्यञ्जनों का सरलता से उच्चारण करने के लिए जहाँ पर स्वर का आगम कर लिया जाता है —प्रसाद>परसाद। पंजाबी भाषा की यह मुख्य विशेषता है।

(५४) ह्रस्व—जिन ध्वनियों के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता हो।

(५५) सम्बन्ध—कारक का वह रूप, जो दो वस्तुओं के सम्बन्ध का बोध कराता है।

---

# संकेत-विवरण

| | |
|---|---|
| का सू | —काम सूत्र |
| बि स | —बिहारी सतसई |
| प्रा पै | —प्राकृत पैंगलम |
| स रा | —सन्देश रासक |
| व र | —वर्ण रत्नाकर |
| की ल | —कीर्ति लता |
| उ व्य प्र | —उक्ति व्यक्ति प्रकरण |
| सू सा | —सूर सागर |
| घ क | —घनानन्द कवित्त |
| सू पू ब्र | —सूर पूर्व ब्रजभाषा काव्य |

# ग्रन्थ-सूची


१ अपभ्रंश काव्यत्रयी —सं एल बी गांधी
२ अपभ्रंश व्याकरण —सं केशवराम शास्त्री
३ अष्टाध्यायी —पाणिनि
४ आर्यों का आदि देश —डॉ सम्पूर्णानन्द
५ उक्ति व्यक्ति प्रकरण —दामोदर पण्डित
६ ऋग्वेद
७ औपपातिक सूत्र —जैन धर्म ग्रन्थ
८ कल्याण (हिन्दू संस्कृति विशेषांक) —गीता प्रेस, गोरखपुर
९ काव्यादर्श —दण्डी
१० काव्यालंकार —भामह
११ कामसूत्र —वात्स्यायन
१२ कीर्तिलता —विद्यापति
१३ कामायनी —जयशंकर प्रसाद
१४ कौषीतकी ब्राह्मण
१५ गद्य पारिजात —सं डॉ सूर्यकान्त
१६ काव्य मीमांसा —राजशेखर
१७ गउड वहो —वाक्पतिराज
१८ घनानन्द कवित्त —सं विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
१९ जय सोमनाथ —कन्हैयालाल माणकलाल मुंशी
२० ताण्ड्य ब्राह्मण
२१ धम्मपद —राहुल सांकृत्यायन
२२ नाट्य शास्त्र —भरतमुनि
२३ पाणिनीय शिक्षा —पाणिनि
२४ पालि जातकावली —सं बटुकनाथ शर्मा
२५ पालि साहित्य और समीक्षा —डा सरनामसिंह शर्मा अरुण
२६ पालि प्रबोध —आद्यादत्त ठाकुर
२७ पालि महा व्याकरण —कात्यायन
२८ पुरातत्त्व निबन्धावली —राहुल सांकृत्यायन

२९ प्राकृत भाषाओं का व्याकरण —पं मधुसूदन मिश्र
३० प्राकृत प्रकाश —वररुचि
३१ प्राकृत सर्वस्व —मार्कण्डेय
३२ प्राकृत पगलम् —स डा भोलाशंकर व्यास
३३ बिहारी सतसई —स लाला भगवानदीन
३४ ब्रजभाषा —डॉ धीरेन्द्र वर्मा
३५ ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन
३६ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी —डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
३७ भाषा और समाज —डा रामविलास शर्मा
३८ भाषा विज्ञान —डा भोलानाथ तिवारी
३९ भ्रमरगीत सार —स आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
४० महाभाष्य —पतञ्जलि
४१ मोग्गलान व्याकरण —मोग्गलान
४२ राज प्रश्नीय सूत्र —जैन धर्म ग्रन्थ
४३ रामचन्द्रिका —आचार्य केशव
४४ वाक्यपदीयम —भर्तहरि
४५ वाग्भटालंकार —वाग्भट
४६ विपाक सूत्र —जैन धर्म ग्रन्थ
४७ विष्णुधर्मोत्तर पुराण —स डा मनमोहन घोष
४८ वैदिक व्याकरण —उमेशचन्द्र पाण्डेय
४९ वर्ण रत्नाकर —ज्योतिरीश्वर ठाकुर
५० सन्देश रासक —स डॉ हजारीप्रसाद द्विवेदी
५१ संस्कृत साहित्य का इतिहास —डा रामजी उपाध्याय
५२ सांख्य कारिका
५३ सामान्य भाषा विज्ञान —डॉ बाबूराम सक्सेना
५४ सिद्धान्त कौमुदी —भट्टोजी दीक्षित
५५ सूर सागर —सूरदास
५६ सूर पूर्व ब्रजभाषा काव्य —शिवप्रसाद सिंह
५७ हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास —डा उदयनारायण तिवारी
५८ हिन्दी भाषा और साहित्य —डॉ श्यामसुन्दर दास
५९ हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास —आदिगुरु

६० हिन्दी भाषा रूप विकास —डॉ सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
६१ हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग —डॉ नामवर सिंह
६२ हिन्दी की तदभव शब्दावली —डा सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
६३ हिन्दी काव्यधारा —राहुल साकृत्यायन
६४ हिन्दी भाषा उदभव, रूप और विकास —डॉ हरदेव बाहरी
६५ हिन्दी भाषा (अतीत और वर्तमान) —डॉ अम्बाप्रसाद 'सुमन
६६ हेम शब्दानुशासन —हेमचन्द्राचार्य

अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थ

1 Historical Grammar of Apbhransh —Dr G V Tagare
2 Linguistic Survey of India —Dr Grearson
3 General Anthropology —Frang Bous
4 Man in Primitive Age —Heebel
5 The Future of India —Swami Vivekanand
6 The Vedic Age —Ed Dr R C Majumdar